हमारी जीवन्त संस्कृति

लेखक :
डा० रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन'

प्रकाशक :

भारती पुस्तक मन्दिर
(चौबुर्जा) भरतपुर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण १९७२

मूल्य : तीस रुपये ।

मुद्रक : शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमेटिक प्रेस,
अलवर (राजस्थान) ।

समर्पण

डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डे
को
स्नेहपूर्वक समर्पित

निवेदन

जीवन्त संस्कृति भारत की अनमोल निधि है। अत्यन्त प्राचीन काल से जीवन्त संस्कृति की अपार और अनमोल रत्नराशि हमारे लोक-जीवन को विपुल सौन्दर्य एवं अमित आनन्द से अलंकृत करती आ रही है। पराधीनता के विषम युग में भी वह हमारे विपन्न जीवन में आह्लाद भरती रही। आधुनिक सभ्यता में बढ़ती हुई उदासीनता में भी वह जीवन में आनन्द का सूत्र संजोये हुये है। किन्तु चन्दन को जलाने वाली मलयागिरि की भीलनी की भाँति हम अपनी इस अपार और अनमोल संस्कृति का यथेष्ट आदर नहीं कर रहे हैं और न उसकी रक्षा के प्रति अपेक्षित रूप में सजग एवं यत्नशील हैं। फिर भी ममतामयी माता की भाँति उपेक्षित रहते हुये भी वह हमें अपनी महिमा और विभूति से अनुग्रहीत कर रही है। हमारा कर्तव्य है कि हम समय रहते इसकी रक्षा के प्रति सजग और सचेष्ट हों। अधिक विलम्ब होने पर पश्चात्ताप करने के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह जायगा। जीवन्त संस्कृति से रहित होकर हमारा जीवन कितना शून्य हो जायेगा इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते।

विपुलता-जन्य उपेक्षा के अतिरिक्त संस्कृति की पश्चिमी और प्रचलित धारणा ने भी हमें इस सम्बन्ध में भ्रमाया है। शिक्षा के पाठ्यक्रमों में छात्रों को जिस संस्कृति का परिचय दिया जाता है, वह धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि का संकलन है। इसी संकलन को 'संस्कृति' कहा जाता है। संस्कृति मनुष्य की रचना है। इस दृष्टि से यह संकलन भी संस्कृति है। किन्तु यह संस्कृति का ऐतिहासिक रूप है, जो अतीत बनता जाता है। यह ऐतिहासिक संस्कृति व्यक्तियों की रचना है। इस रचना की आवृत्ति नहीं होती यह जीवन के पक्षों को विषय रूप में ग्रहण करती है। इसमें स्रष्टा

और समाज का भेद रहता है। इससे भिन्न संस्कृति का एक जीवन्त रूप है, जो किसी व्यक्ति की रचना नहीं है। वह सामाजिक संकल्प से रचित होती है। वर्तमान में उसकी बार-बार रचनात्मक आवृत्ति होती है यह हमावे जीवन को विषयरूप में ग्रहण न कर साक्षात जीवन को सुन्दर एवं आनन्दमय बनाती है। प्रतीक, पर्व, संस्कार आदि इसके मुख्य रूप हैं।

जीवन्त संस्कृति का इतना सम्पन्न एवं समृद्ध किसी भी अन्य देश में मिलना कठिन है। आज के प्रमुख देश प्राचीन काल में जीविका के संघर्ष में लीन रहे अतः प्राकृतिक जीवन ऊपर उठ कर संस्कृति का बहुत कम विकास कर सके। कर्क रेखा के तटवर्तीय देशों में ही जीविका कुछ सुलभ तथा जीवन कुछ सहज रहा। इन्हीं देशों में संस्कृति का अधिक विकास हुआ। भारत इन देशों में सबसे उत्तम हैं। प्रकृति की विपुल उदारता और ऋषियों के आत्मिक संकल्प के सहयोग से भारत में एक विपुल जीवन्त संस्कृति का विकास हुआ। यह संस्कृति पर्व संस्कार, व्रत आश्रम आदि के द्वारा मनुष्य के साक्षात् और सम्पूर्ण जीवन को सुन्दर एवं आनन्दमय बनाती है। भारत की यह जीवन्त संस्कृति ही आदिम बर्बरता और आधुनिक सभ्यता के संकटों से बचाकर पृथ्वी पर स्वर्गिक जीवन का पथ प्रशस्त कर सकती है। अतः भारत के लिये इसका संरक्षण और विश्व के लिये इसका अनुकरण कल्याण-कारी होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भारत की इसी जीवन्त संस्कृति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यदि यह परिचय हमारे मन में अपनी अनमोल जीवन्त संस्कृति के प्रति कुछ आदर उत्पन्न कर सकेगा तो मेरा यह उद्योग सफल होगा।

भरतपुर (राजस्थान) संवत्सर नवरात्र प्रतिपदा, २०२९ विक्रमी	विनीत : **रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन'**

अनुक्रम

अध्याय १

भूमिका

अध्याय–१

भूमिका

१. संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति मनुष्य की रचना है। मनुष्य को जो कुछ निसर्ग से प्राप्त होता है, उसे 'प्रकृति' कह सकते हैं। प्रकृति मनुष्य की रचना नहीं है, वह मनुष्य को प्राप्त होती है। वह मनुष्य के जन्म से पहले ही वर्तमान होती है। आदिम मनुष्य के उद्‌भव से पहले प्रकृति विद्यमान थी। प्रकृति के उपादानों से ही पशु और आदिम मानव जीवन निर्वाह करते होंगे। पशुओं का जीवन तो आज भी निर्वाह मात्र है। उनके जीवन में कोई विकास नहीं हुआ है। किन्तु मनुष्य ने आदिम काल से बहुत विकास किया है। उसकी रचनात्मक शक्ति बढ़ती गई है। वह निरन्तर नई-नई रचनायें करता रहा है। मनुष्य की इस रचना को ही संस्कृति और सभ्यता कहते हैं।

रचना के लिये मनुष्य प्रकृति के उपादानों का उपयोग करता है किन्तु इन उपादानों को वह अपनी कल्पना का रूप देता है। रचना का रूप ही मनुष्य का मुख्य कृतित्व है। संस्कृति उसके इसी कृतित्व की संज्ञा है। मनुष्य की यह रचना अनेक प्रकार की है। उस रचना के अनेक रूप हैं। सभ्यता और संस्कृति उसके दो मुख्य रूप हैं। जीवन के साधनों और बाह्य उपकरणों के विकास को 'सभ्यता' कह सकते हैं। सभ्यता उपयोगी होती है। उपयोगिता जीवन की प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति है। अतः सभ्यता का प्रकृति से अधिक सम्बन्ध रहता है। 'संस्कृति' में निरुपयोगी रूपों की रचना होती है। निरुपयोगी होने के कारण संस्कृति की रचना में प्रकृति की प्रेरणा कम होती है। अतः संस्कृति के कृतित्व को सभ्यता के कृतित्व से श्रेष्ठ मानना होगा।

सभ्यता और संस्कृति दोनों में ही मुख्यतः रूपों की रचना होती है। मनुष्य भौतिक तत्व की रचना नहीं कर सकता। वह मनुष्य को निसर्ग से प्राप्त होता है। मनुष्य अपनी रचनाओं में रूप का सन्निधान करता है। सभ्यता के रूप उपयोगी अधिक होते हैं। संस्कृति के रूप आनन्द-प्रद होते हैं किन्तु प्राकृतिक दृष्टि से उन्हें उपयोगी नहीं कहा जा सकता। अल्प उपयोग होने पर भी उनमें निरुपयोगिता अधिक होती है। निरुपयोगी रूपों की रचना ही संस्कृति है।

'रूप' का अर्थ 'सौन्दर्य' भी है। रूप में ही सौन्दर्य व्यक्त होता है। कला सौन्दर्य की रचना है। अतः संस्कृति का सौन्दर्य और कला से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु संस्कृति के अन्तर्गत धर्म, दर्शन आदि की गणना भी की जाती है। दर्शन में रूप का महत्व नहीं होता, जीवन के तत्व और सत्य की खोज होती है। धर्म में अध्यात्म और भक्ति का तत्व निहित होता है, यद्यपि भक्ति, उपासना, पूजा आदि की विधियों में कलात्मक रूपों का सन्निधान भी होता है। भारतीय धर्म में कला और सौन्दर्य का विपुल मात्रा में समवाय है। भारतीय धर्म सबसे अधिक सांस्कृतिक है। फिर भी धर्म, दर्शन आदि में तत्व की ही प्रधानता होती है। किन्तु इनका तत्व भौतिक पदार्थ नहीं है। वह मानसिक तत्व है। मनुष्य उसकी रचना करता है। मनुष्य की रचना होने के कारण इनका तत्व सांस्कृतिक है और ये संस्कृति के अन्तर्गत गिने जाते हैं। कला और साहित्य में रूप की विपुलता होती है। अतः ये अधिक सुन्दर और अधिक सांस्कृतिक हैं। इनमें जीवन के तत्वों को सुन्दर रूप से संजोया जाता है। एक प्रकार से इनमें रूप और तत्व का समन्वय रहता है।

संस्कृति केवल मनुष्य की 'कृति' ही नहीं है, वह साम्य-पूर्ण (सं) कृति है। इसमें अनेक प्रकार का साम्य सन्निहित रहता है—रूप और तत्व का साम्य, मनुष्यों के भावों एवं सम्बन्धों का साम्य आदि। साम्य आत्मा का लक्षण है। अतः संस्कृति आध्यात्मिक है। वैषम्य और विरोध प्रकृति के लक्षण हैं। साम्यपूर्ण होने के कारण संस्कृति के अन्त-

र्गत सभ्यता के उन रूपों को नहीं सम्मिलित किया जा सकता जो वैषम्य-पूर्ण हैं। युद्ध आदि सभ्यता के भी अनुकूल नहीं हैं। वे असांस्कृतिक भी हैं। भाषा मनुष्य की एक प्रमुख रचना है। शब्द बहुत कुछ प्राकृतिक है। फिर भी अनेक शब्दों से भाषा की रचना संस्कृति का अंग है। वर्णमाला, स्वर, व्याकरण आदि की विशेषताओं से युक्त 'संस्कृत' संसार की सबसे अधिक सांस्कृतिक भाषा है।

संस्कृति में रूपों की रचना के साथ-साथ भाव का भी समवाय होता है। उपयोगिता की दृष्टि से ये रूप और भाव दोनों ही 'अतिशय' होते हैं। संस्कृति के सभी प्रकार इस रूप और भाव के अतिशय से सम्पन्न होते हैं। यह अतिशय जीवन को सम्पन्न और समृद्ध बनाता है। यह जीवन में सौन्दर्य और आनन्द भरता है। प्राकृतिक जीवन की तुलना में संस्कृति जीवन की समृद्धि है। प्रकृति जीवन का सहज और अल्पतम रूप है। सभ्यता के उपकरणों में जीवन के बाह्य साधनों, सुविधाओं और सुखों की वृद्धि होती है, किन्तु आन्तरिक आनन्द की वृद्धि उसमें आवश्यक नहीं है। वह संस्कृति के द्वारा ही संभव होती है।

२. संस्कृति के दो रूप

सभ्यता और संस्कृति के भेद की भांति हम संस्कृति को भी दो प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं। संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध रचना दो प्रकार की होती हैं—एक व्यक्तिगत एवं ऐतिहासिक तथा दूसरी सामाजिक एवं जीवन्त। कला, साहित्य आदि की रचनायें व्यक्तियों के द्वारा की जाती हैं। इन रचनाओं की आवृत्ति नहीं होती अर्थात् वैसी ही रचना फिर दूसरा व्यक्ति नहीं करता। नये-नये व्यक्ति नये-नये रूपों की रचना करता है। संगीत और नृत्य में कुछ आवृत्ति होती है। अतः कला के ये रूप संस्कृति के दूसरे प्रकार के निकट आ जाते हैं। व्यक्तिगत होने के साथ-साथ कला के इन रूपों में स्रष्टा और द्रष्टा का भेद अन्तर्निहित रहता है। इन कलाओं के रचयिता और आस्वादन-कर्त्ता अलग-अलग होते हैं। संगीत में गायक और श्रोता का तथा नृत्य में नर्तक और दर्शक का भेद रहता है। इन कलाओं के रूप भी जटिल

एवं समृद्ध होते हैं। अतः इनकी रचना और इनका आस्वादन सबके लिये सुलभ नहीं होता। संस्कृति का यह रूप सार्वजनिक नहीं होता। अतः इसे अभिजात संस्कृति कह सकते हैं। सूर, तुलसी आदि विरले ही कलाकारों की कृतियाँ सार्वजनिक बन पाती हैं। फिर भी ये कृतियाँ व्यक्तिगत और ऐतिहासिक बनी रहती हैं। अतीत की कृति के रूप में ही ये सुरक्षित रहती हैं।

इसके अतिरिक्त संस्कृति का एक दूसरा रूप है जो व्यक्तिगत रचना के रूप में नहीं होता। वह सामाजिक और सामूहिक रचना होता है। अतीत में इस रूप का व्यक्तिगत कर्तृत्व नहीं खोजा जा सकता। संस्कृति के इन रूपों की समाज में निरन्तर आवृत्ति होती रहती है। पर्व, त्यौहार, रीति, रिवाज, लोक नृत्य, लोक संगीत आदि में संस्कृति के ये रूप प्रकट होते हैं। निरन्तर आवृति के कारण संस्कृति के ये रूप अतीत एवं ऐतिहासिक नहीं वरन् सदा वर्तमान रहते हैं। जीवन की गति के साथ चलने के कारण इसे जीवन्त संस्कृति कह सकते हैं। अभिजात और ऐतिहासिक संस्कृति की तुलना में यह लोक-संस्कृति कही जाती है।

संस्कृति के इन दोनों रूपों में एक महत्वपूर्ण भेद और है। ऐतिहासिक संस्कृति की रचनायें मुख्यतः रूपों की रचनायें हैं। इन रूपों में जीवन के तत्वों का सन्निधान किया जाता है। अभिजात संस्कृति जीवन का साक्षात् रूप नहीं है वरन् वह जीवन को विषय बनाकर ग्रहण करती है। इसके विपरीत जीवन्त संस्कृति जीवन का साक्षात् और सजीव रूप है। इसमें रूपों में जीवन के तत्व का नहीं वरन् जीवन के सजीव एवं साक्षात् तत्व में रूपों के अतिशय का सन्निधान किया जाता है, जिससे साक्षात् जीवन सुन्दर एवं आनन्दमय बनता है। इस दृष्टि से जीवन्त संस्कृति वास्तविक रूप में जीवन को समृद्ध बनाती है। यदि संस्कृति जीवन की समृद्धि है तो जीवन्त संस्कृति ही संस्कृति का उत्तम रूप है।

संस्कृति को प्रायः धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि की सामूहिक संज्ञा माना जाता है। भारतीय और पश्चिमी संस्कृति का निरूपण जिन

ग्रन्थों में किया गया है, उनमें अलग-अलग अध्यायों में धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि का ही विवरण मिलता है। सामान्यतः संस्कृति के ये विवरण संस्कृति के इतिहास बन जाते हैं। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि के विकास का लेखा ही किसी देश की संस्कृति का परिचय कहलाता है।

संस्कृति मनुष्य की रचना है। प्राकृतिक जीवन के आधार पर मनुष्य ने जिन सुन्दर और मंगलमय रूपों की रचना की है उन सबको संस्कृति के अन्तर्गत मानना उचित है। धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि मनुष्य की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। अतः इनको संस्कृति का अंग मानना संगत है। इन रचनाओं के क्षेत्र में प्रायः विकास होता है। दर्शन, कला, साहित्य आदि के नये-नये रूप कालक्रम से रचे जाते हैं। इनके विकास का लेखा संस्कृति का इतिहास बन जाता है, यह पूर्णतः संगत है।

किन्तु धर्म, दर्शन, कला साहित्य आदि के इतिहास में ही संस्कृति का लेखा पूर्ण नहीं हो जाता। इनके अतिरिक्त संस्कृति का एक अन्य रूप भी है जिसकी किसी कारण से संस्कृति के इन ऐतिहासिक विवरणों में उपेक्षा होती रही है। रीति-रिवाजों के नाम से संस्कृति के इस रूप का थोड़ा सा परिचय संस्कृति के इन ऐतिहासिक विवरणों में अवश्य मिलता है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण के कारण इनका परिचय भी अतीत के प्रसंग में ही दिया जाता है। यह परिचय संस्कृति के इस रूप के साथ समुचित न्याय नहीं करता। संस्कृति के इस दूसरे रूप को ऐतिहासिक की अपेक्षा जीवन्त संस्कृति कहना अधिक उचित होगा। संस्कृति का यह रूप भी अतीत में उदय होकर एक दीर्घकाल से चला आता है। इस दृष्टि से इसे भी ऐतिहासिक कहा जा सकता है किन्तु संस्कृति के इस दूसरे रूप का इतिहास संस्कृति के पहिले रूप के इतिहास से भिन्न होता है। संस्कृति के पहिले रूप की अधिकांश रचनाएँ इतिहास मात्र रह जाती हैं। समाज के वर्तमान जीवन से उनका कोई जीवन्त सम्बन्ध नहीं होता। इस संस्कृति की बहुत सी रचनाएँ तो इतिहास

में स्मृतिमात्र बन जाती हैं। इसकी कुछ रचनाएँ साहित्य की कृतियों की भाँति वर्तमान पीढ़ियों के लिये भी आस्वादन का विषय बनती हैं, किन्तु रचना की दृष्टि से वे अतीत के इतिहास से ही सम्बद्ध रहती हैं। इनकी रचना ऐतिहासिक कालक्रम में एक बार ही होती है।

संस्कृति के दूसरे रूप के अन्तर्गत जो रीति-रिवाज आदि गिने जाते हैं, उनका उदय अतीत के किसी ऐतिहासिक काल में अवश्य होता है, किन्तु इनका आरम्भ एवं उद्गम खोजना कठिन होता है। इनका ऐतिहासिक उद्गम अधिक महत्व भी नहीं रखता क्योंकि इनकी रचना की आवृत्ति वर्तमान काल में बार-बार होती है। जिन रीति-रिवाजों का समाज में पालन होता रहता है, उनकी रचना वर्तमान काल में बार-बार होती है। वर्तमान काल के व्यावहारिक जीवन में जन-जन के द्वारा रीति-रिवाजों के रूपों की रचना की आवृत्ति संस्कृति के इस जीवन्त रूप को संस्कृति के उक्त ऐतिहासिक रूप से भिन्न बनाती है। जिसे लोक-संस्कृति कहा जाता है वह भी इस जीवन्त संस्कृति के अन्तर्गत गिनी जा सकती है। वर्तमान जन-जीवन में सजीव योग तथा वर्तमान काल में संस्कृति के रूपों की रचना की अभिनव आवृत्ति ये दो इस जीवन्त संस्कृति की ऐसी विशेषताएँ हैं जो ऐतिहासिक संस्कृति में नहीं मिल सकती। एक उपमा का प्रयोग करके हम यह कह सकते हैं कि ऐतिहासिक संस्कृति पितरों के उस रत्नकोष के समान है जिसके हम उत्तराधिकारी बनते हैं। यह उस वट वृक्ष के समान है जो हमारे पूर्वजों ने लगाया है और जिस की छाया में हम आज भी विश्राम कर सकते हैं। इसकी तुलना में जीवन्त संस्कृति खेती के समान है जिसे हम प्रतिवर्ष स्वयं उगाते हैं। यह उस फुलवारी के समान है जिसको हम प्रतिवर्ष अपने हाथों से लगाते और खिलाते हैं। ऐतिहासिक संस्कृति पूर्वजों के द्वारा निर्मित मणिप्रदीप के समान है जिसका आलोक हमें आज भी आह्लादित करता है। जीवन्त संस्कृति उन तैलदीपों के समान है जिसे जन-जन प्रतिदिन की सन्ध्या में स्वयं आलोकित करता है। ऐतिहासिक संस्कृति के अनेक वटवृक्ष जर्जर और नष्ट हो गये हैं। अनेक मणिप्रदीप धूल में खो गये हैं। पुरातन रत्नकोष भूमि में दब गये हैं। किन्तु जीवन्त संस्कृति की फसल आज भी

हमारे जीवन का भण्डार भर रही है। उसकी फुलवारी आज भी हमारे जीवन के वायुमण्डल को सुगन्धित कर रही है। उसके तैल-दीप नित्य हमारे घर को आलोकित करते हैं।

ऐतिहासिक संस्कृति और जीवन्त संस्कृति में और भी कुछ भिन्नताएं खोजी जा सकती हैं। ये भिन्नताएं मुख्यतः काल और कर्तृत्व से सम्बन्ध रखती हैं। इनका कुछ संकेत ऊपर किया गया है। कर्तृत्व के सम्बन्ध में इतना और कहना उचित होगा कि ऐतिहासिक संस्कृति की अधिकांश रचनाएं व्यक्तिगत होती हैं। संस्कृति के उन रूपों की रचना कुछ विशेष व्यक्ति अपनी विशेष प्रतिभा से करते हैं। रचना के बाद अन्य जन इन रूपों का आस्वादन अवश्य करते रहते हैं। किन्तु जीवन्त संस्कृति के रूपों की रचना में व्यक्तिगत कर्तृत्व खोज सकना कठिन है। अतीतकाल से ही जीवन्त संस्कृति के रूप समाज की सामूहिक रचना के रूप में चले आते हैं। समाज सामूहिक रूप से इनकी बार-बार रचना करके सांस्कृतिक कर्तृत्व का अभिनव आनन्द लेता है। जीवन्त संस्कृति के अनेक रूपों की रचना प्रत्येक मनुष्य और परिवार बार-बार करता है। ऐतिहासिक संस्कृति के रूपों की भाँति जीवन्त संस्कृति के ये रूप केवल आस्वादन के विषय नहीं होते वरन् वे बार-बार रचना और अनुशीलन के विषय बनते हैं। इनका यह रूप मनुष्य के सक्रिय रूप के अधिक अनुरूप है। जीवन में भी भोजन आदि अनेक धर्मों की अभिनव आवृत्ति होती है। अतः समाज के द्वारा वर्तमान काल में बार-बार रचित होने वाले संस्कृति के रूपों को जीवन्त संस्कृति कहना अत्यन्त उचित है।

भारतीय परम्परा में यह जीवन्त संस्कृति पर्वों, उत्सवों, व्रतों, संस्कारों तथा अन्य रीतिरिवाजों के रूप में विपुलता से मिलती है। संस्कृति के इन रूपों की रचना भारतीय समाज समय-समय पर पुनः-पुनः करता है। ऐतिहासिक संस्कृति के रूपों की भाँति जीवन्त संस्कृति के ये रूप अतीत की धरोहर मात्र नहीं हैं। वे अभिनव सौंदर्य से रचित होकर वर्तमान जीवन की रचनात्मक विभूति बनते हैं। भारतीय परम्परा में जीवन्त संस्कृति के रूप अत्यन्त समृद्ध और विपुल हैं। किसी भी अन्य

समाज में जीवन्त संस्कृति के इतने समृद्ध और विपुल रूप कदाचित् ही मिल सकेंगे। कदाचित् इसी कारण संस्कृति के विवरणों में ऐतिहासिक संस्कृति का लेखा ही अधिक मिलता है और जीवन्त संस्कृति को अधिक महत्व नहीं दिया गया है।

किन्तु भारतीय संस्कृति के महत्व को समझने के लिए भारत की इस समृद्ध जीवन्त संस्कृति का स्वतन्त्र और विस्तृत लेखा अपेक्षित है। तुलनात्मक दृष्टि से अन्य देशों और समाजों की जीवन्त संस्कृति का विवरण भी लाभदायक होगा। महत्व की दृष्टि से पूर्वजों का रत्नकोष ही हमारे वर्तमान जीवन की महिमा के लिए पर्याप्त नहीं है। प्रत्येक वर्तमान पीढ़ी की अपनी खेती और अपनी फुलवारी उसके जीवन की सजीवता की परिचायक है और साथ ही जीवन को सुन्दर एवम् आनन्दमय बनाती है। वर्तमान की प्रत्येक नई पीढ़ी की अपनी दीप-सज्जा उसके जीवन को आलोकित और आह्लादित करती है।

लोक-संस्कृति संस्कृति का लोकप्रिय और जीवन्त रूप है। रचना और परम्परा दोनों की दृष्टि से वह अभिजात संस्कृति की तुलना में अधिक प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक होती है। अभिजात संस्कृति के अंगभूत कला, साहित्य, दर्शन आदि की रचना व्यक्तियों के कृतित्व के रूप में होती है। निरन्तर नवीन कृतित्व के द्वारा इस रचना का क्रम उत्तरोत्तर आगे बढ़ाता रहता हे। इस प्रकार अभिजात संस्कृति प्रगतिशील भी है। इसके विपरीत लोक-संस्कृति में नवीन रचनाओं के द्वारा प्रगति नहीं होती। लोक-संस्कृति की परम्परा में नवीन रचनाओं के स्थान पर प्राचीन रूपों और भावों की पुनः पुनः आवृत्ति होती है। इस आवृत्ति के अवसर लोक-जीवन के पर्व बन जाते हैं। पर्वो के अतिरिक्त व्रत, संस्कार, मेले; तीर्थयात्रायें आदि इस लोक-संस्कृति के मुख्य अंग हैं। प्रतीकवाद के आधार पर लोक-संस्कृति के अनेक रूप, निमित्त एवं उपादान लोक-जीवन में सौन्दर्य, मंगल एवं आनन्द के संचारक बनते हैं।

पर्व-संस्कृति इस लोक-संस्कृति का सबसे प्रमुख रूप है। इसमें लोक-संस्कृति की सामाजिकता अधिक स्फुट रूप में प्रकट होती है।

सम्पूर्ण समाज एक साथ एक ही समय में पर्वो को सम्पन्न करता है। रक्षा-बन्धन, दीपावली, होली आदि पर्वो के अवसर पर तो सम्पूर्ण लोक-सागर उल्लास एवं आनन्द की तरंगों में लहराता है। अन्य अनेक छोटे पर्व तरंगों की लय को जीवन की रागिनी का उतार-चढ़ाव प्रदान करते हैं। इन पर्वो में प्रवृत्ति और निवृत्ति का अत्यन्त सुन्दर समन्वय मिलता है। पर्व-संस्कृति में जीवन के लौकिक उपादानों को निवृत्ति की सीमारेखा से मर्यादित कर मंगल एवं आनन्द का साधन बनाया जाता है। व्रतों में निवृत्ति की यह मर्यादा अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। व्रत एक प्रकार से प्रवृत्ति से सापेक्ष निवृत्ति के अनुष्ठान हैं। कुछ समय के लिए प्रवृत्ति के मोह से विरत होना ही इनका लक्ष्य है। ये व्रत प्राकृतिक जीवन में संयम का आधार बनकर उसे संस्कृत बनाते हैं। संस्कृति वस्तुतः प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का समन्वय ही है। व्रत इस समन्वय में संकल्प और निष्ठा के द्वारा बहुत योग देते हैं। लोक-परम्परा में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के व्रत अधिक हैं। वे उनके पातिव्रत, वात्सल्य आदि को सुदृढ़ कर लोक-जीवन में मंगल का अनुष्ठान करते हैं। इन व्रतों से नारी के लौकिक एवं प्राकृतिक धर्म पवित्र बनते हैं। इन व्रतों के द्वारा सामाजिक जीवन के सौन्दर्य और सुख में नारी का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सराहनीय है।

पर्वो और व्रतों की परम्परा वर्ष के दिन-क्रम की एकरूपता को विविधता से अंचित कर हमारे वर्ष-काल को सांस्कृतिक सौन्दर्य से सम्पन्न बनाती है। संस्कारों का क्रम व्यक्ति के जीवन के विकास के अनुरूप है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सोलह संस्कार माने जाते हैं। इनमें नामकरण, उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि अधिक महत्वपूर्ण हैं। ये मनुष्य के जन्म, विद्यारम्भ, विवाह और मरण को सांस्कृतिक सौन्दर्य से सम्पन्न करते हैं। विद्यारम्भ को छोड़कर अन्य सभी संस्कारों का सम्बन्ध मनुष्य के प्राकृतिक जीवन से है। प्राकृतिक जीवन प्रवृत्तिपरक होता है। संस्कारों के द्वारा जीवन की प्रवृत्ति सुन्दर, मंगलमय और सांस्कृतिक बनती है। इन संस्कारों में निवृत्ति की अल्प मर्यादा को ग्रहण कर प्राकृतिक मानवीय जीवन को सभ्य और संस्कृत बनाने का प्रयत्न किया

गया है। निवृत्ति इनकी मर्यादा मात्र है। जीवन के प्राकृतिक धर्म ही इन संस्कारों के मुख्य उपादान हैं। जन्म और विवाह के देहधर्म इनके द्वारा सुन्दर एवं संस्कृत बनते हैं। मृत्यु के शोक को ये संस्कार मृतक तथा उसके आत्मीयों के लिए सह्य बनाते हैं। संस्कारों के आयोजन व्यापक अर्थ में नहीं वरन् सीमित अर्थ में सामाजिक होते हैं। संस्कारों की सीमित सामाजिकता पर्वों की व्यापक सामाजिकता की सांस्कृतिक रागिनी में मीड़ों और तानों की तीव्रता की लहरें रचकर लोक-जीवन की रागिनी को सुन्दर एवं सम्पन्न बनाती है।

मेले लोक-संस्कृति के आर्थिक पक्ष को साकार बनाते हैं। अर्थ मनुष्य के प्राकृतिक एवं प्रवृत्तिमय जीवन का उपकरण है। अर्थ परिग्रह का उपादान है। परिग्रह एक प्राकृतिक प्रवृत्ति है। अतः अर्थ प्रवृत्ति का ही पोषक है। निवृत्ति से उसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। तीर्थ स्थानों पर होने वाले मेलों में धर्म का कुछ योग मिल जाता है, जो उनकी स्फुट आर्थिकता को कुछ सीमा तक सांस्कृतिक बना देता है। दान, दक्षिणा आदि अर्थ की प्रवृत्ति का निवृत्ति से समन्वय करते हैं। तीर्थों के मेलों और तीर्थ-यात्राओं में धर्म की मर्यादा प्रवृत्ति में निवृत्ति का संगम करती है। धार्मिक निष्ठा और भावना इस संगम की अलक्ष्य सरस्वती कही जा सकती है। धर्म की गंगा के वेग से एक बार प्रवृत्ति की यमुना का प्रवाह मन्द होकर उसमें समाहित हो जाता है। इस प्रकार मेले, विशेषतः तीर्थों के मेले तथा तीर्थ यात्रायें, लोक-संस्कृति के ऐसे रूप हैं जिनमें प्रकट रूप में प्रवृत्ति की प्रचुरता दिखाई देते हुए भी निवृत्ति की मर्यादा का सुदृढ़ समन्वय होता है। इनमें धर्म के मार्ग से अर्थ और प्रवृत्ति का संस्कार होता है जो प्रवृत्तिमय प्राकृतिक जीवन को निवृत्ति की मर्यादा के द्वारा सांस्कृतिक बनाता है।

लोक-संस्कृति के इन सभी रूपों में प्रतीकों की महिमा व्याप्त रहती है। प्रतीकों की स्थापना अल्प रूप में प्रचुर तात्पर्य के समन्वय से होती है। कलात्मक रचनाओं, जीवन के कर्मों तथा लोक के उपादानों में भाव एवं अभिप्राय का अतिशय अनुष्ठित होने पर सरल प्रतीक प्रचुर भाव के वाहक बन जाते हैं। प्रतीकवाद के मार्ग से ही लोक-जीवन के पर्व,

संस्कार आदि व्यापक सौन्दर्य के अवसर बनते हैं। प्रतीकों की महती अर्थवत्ता जीवन के सीमित अवसरों एवं उपकरणों को व्यापक जीवन में अन्वित करती है। इसी अन्वय के द्वारा प्रतीकों के सरल रूप लोक-संस्कृति के सम्पन्न आधार बनते हैं। स्वस्तिक, श्रीयन्त्र आदि के प्रतीक जीवन के उपकरणों को मंगल, साम्य आदि से अंचित करते हैं। पर्वों और संस्कारों में प्रयुक्त कलश, पत्र, पुष्प, फल आदि प्राकृतिक उपकरण सांस्कृतिक सौन्दर्य के निमित्त बन जाते हैं। तिलक, चरणवन्दन आदि के व्यवहार आचार में धर्म की पवित्रता का संचार करते हैं। वट, पीपल, गौ, पर्वत, नदी आदि का पूजन भूत प्रकृति को संस्कृति का सौन्दर्य प्रदान करता है। इस प्रकार अनेक प्रतीकों से सम्पन्न लोक-संस्कृति में सम्पूर्ण प्राकृतिक जीवन संस्कृति का सुन्दर पीठ बन गया है।

३. जीवन और संस्कृति

संस्कृति जीवन की समृद्धि है तथा जीवन्त संस्कृति संस्कृति का उत्तम रूप है। ऐतिहासिक और जीवन्त संस्कृति के प्रकारों में जीवन का संस्कृति के साथ सम्बन्ध भिन्न रूपों में प्रकट होता है। अतः जीवन और संस्कृति के सम्बन्ध को समझना आवश्यक है। ऐतिहासिक और अभिजात संस्कृति साक्षात् जीवन का रूप नहीं है। वह कला, साहित्य आदि बनकर रूपों में जीवन के तत्व को विषय बनाकर समाहित करती है। जीवन्त संस्कृति साक्षात् जीवन की स्थितियों में रूप और भाव के अतिशय का सन्निधान कर जीवन को सुन्दर एवं आनन्दमय बनाती है।

जीवन मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों का सामान्य धर्म है, किन्तु संस्कृति मनुष्यों की ही विशेषता है। पशु-पक्षियों ने किसी संस्कृति का विकास नहीं किया। वे युगों से वैसा ही प्राकृतिक जीवन बिताते आ रहे हैं, जैसा कि उनका जीवन लाखों वर्ष पहिले था। विकास के अनुसार पशुओं के इस प्राकृतिक जीवन में कुछ परिवर्तन होते रहे हैं। किन्तु वे सब परिवर्तन प्रकृति के ही अन्तर्गत हुए हैं। पशु-पक्षियों के प्राकृतिक आकार और धर्म में ही कुछ परिवर्तन अथवा विकास हुआ है किन्तु उनकी प्राकृतिक प्रक्रियाओं में ही सीमित रहा है और उसमें किसी सांस्कृतिक क्रिया-कलाप का विकास नहीं हो सका है।

किन्तु इसके विपरीत मनुष्योंके जीवन में संस्कृति के अनेक रूप विकसित हुए हैं। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि इन संस्कृति के रूपों के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। जीव अथवा प्राणी होने के नाते मनुष्य का जीवन भी बहुत कुछ प्राकृतिक है। किन्तु संस्कृति के प्रभाव से मनुष्य का समस्त जीवन प्राकृतिक नहीं रह गया है। इसका बहुत कुछ अंश सांस्कृतिक जीवन से घुल-मिलकर सांस्कृतिक बन गया है। संस्कृति के इस प्रभाव से मनुष्य एक प्राकृतिक प्राणी की अपेक्षा एक सांस्कृतिक प्राणी अधिक बन गया है। वह पशुओं की भाँति प्राकृतिक प्रवृत्तियों और आवेगों से भी प्रेरित होता है, किन्तु उसके जीवन का विशेष और सुन्दर रूप वही है जो कि संस्कृति से अनुप्राणित होता है।

मनुष्य के जीवन में प्राकृतिक जीवन और संस्कृति घुलमिल गये हैं। इसलिए उनको सर्वत्र अलग करना कठिन है। किन्तु पशुओं के जीवन को ध्यान में रखकर हम इन्हें अलग कर सकते हैं। पशुओं का जीवन पूर्णतः प्राकृतिक होता है। मनुष्यों का जीवन जहाँ तक पशुओं के समान है, वहाँ तक वह प्राकृतिक ही है। किन्तु पशुओं का जीवन पूर्णतः और विशुद्ध रूप से प्राकृतिक है। मनुष्यों के जीवन में प्रकृति का ऐसा शुद्ध रूप मिलना कठिन है। घोर स्वार्थमय भोग और निर्मम हिंसा में ही इसके उदाहरण मिल सकते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य के अधिकांश जीवन में प्रकृति और संस्कृति की धाराएँ मिली रहती हैं। इतना अवश्य है कि इन धाराओं में कहीं प्रकृति की प्रधानता और कहीं संस्कृति की प्रधानता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

इसके लिए हमें जीवन, प्रकृति और संस्कृति की धारणाओं को स्पष्ट एवं निश्चित करना होगा तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध को समझना होगा। पशु-पक्षियों के प्रसंग में जीवन और प्रकृति एक दूसरे के पर्याय हैं। जन्म से लेकर मरण तक प्राणों की प्रक्रिया का नाम ही जीवन है। प्राणों की इस प्रक्रिया के अन्तर्गत वे प्रक्रियाएँ भी सम्मिलित हैं जो प्राणों की प्रक्रिया के रक्षक एवं पोषण के लिए अपेक्षित हैं।

भोजन की प्रक्रिया इनमें मुख्य है। प्राणों की प्रक्रिया के अतिरिक्त प्रजनन की प्रक्रिया को भी जीवन का लक्षण माना जाता है। प्राकृतिक जीवन के समग्र रूप में इसे भी सम्मिलित करना होगा।

पशुओं के प्राकृतिक जीवन की परिधि भोजन और प्रजनन की प्राकृतिक प्रक्रियाओं तक ही सीमित है। अन्य क्रियाएँ इनकी सहकारी हैं। प्राकृतिक अर्थ में मनुष्यों का जीवन भी जन्म और मरण के बीच की प्राण-प्रक्रिया है। भोजन और प्रजनन के धर्म भी मनुष्यों के जीवन में पशुओं से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। किन्तु जहाँ पशुओं का जीवन इतने में ही पूर्ण हो जाता है, वहाँ मनुष्यों के जीवन में प्राण, भोजन और प्रजनन के धर्म केवल एक आधार बनाते हैं, जिनके ऊपर मनुष्य के जीवन का सांस्कृतिक प्रासाद रचा जाता है। मनुष्य के जीवन की इस सांस्कृतिक रचना को प्राकृतिक आवश्यकता की दृष्टि से एक 'अतिशय' कहा जा सकता है। संस्कृति एक प्रकार का अतिशय ही है, क्योंकि वह प्राकृतिक जीवन के लिए आवश्यक नहीं है। पशुओं के जीवन में संस्कृति का अतिशय नहीं होता। संस्कृति के विना मनुष्य के जीवन की भी कल्पना की जा सकती है, यद्यपि यह कहना कठिन है कि वह जीवन कितना मानवीय होगा।

संस्कृति ही मनुष्य के जीवन की विशेषता है। वही पशुओं के प्राकृतिक जीवन से मानवीय जीवन को भिन्न करती है। मनुष्यों के जीवन का आधार भी प्राकृतिक है। किन्तु मनुष्यों के जीवन में वह प्राकृतिक आधार अपने विशुद्ध और नग्न रूप में कदाचित् ही मिलता है। मनुष्य जीवन में वह प्राकृतिक आधार प्रायः संस्कृति से अलंकृत रहता है। मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन की तुलना हम एक अलंकार से कर सकते हैं। जिस प्रकार अलंकार का उपादान तत्व सुवर्ण की धातु होती है, उसी प्रकार मनुष्य के जीवन का आधार भी प्रकृति है। इसे जीवन का तत्व कहा जा सकता है। किन्तु सुवर्ण ही अलंकार नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य के जीवन का यह प्राकृतिक आधार ही संस्कृति नहीं है। अलंकार सुवर्ण के उपादान में एक कलात्मक रूप की रचना है, उसी

प्रकार संस्कृति भी प्रकृति के आधार पर जीवन की कलात्मक रचना है। अलंकार में सुवर्ण की धातु समाहित रहती है। इसी प्रकार मनुष्य की संस्कृति में भी जीवन का प्राकृतिक तत्व समवेत रहता है। किन्तु अलंकार का कलात्मक रूप ही प्रधान रहता है। इसी प्रकार मनुष्य की संस्कृति में भी रचनात्मक रूप की प्रधानता रहती है। मनुष्य के समग्र जीवन में कहीं संस्कृति की अपेक्षा जीवन और कहीं जीवन की अपेक्षा संस्कृति प्रधान दिखाई देती है। इनकी गौणता और प्रधानता के आधार पर जीवन की विभिन्न अवस्थाओं और भूमियों में भेद किया जा सकता है।

पशुओं का जीवन पूर्णतः प्राकृतिक होता है। उसे प्रकृति का पर्याय कहा जा सकता है। किन्तु मनुष्यों के प्रसंग में जीवन को अधिक व्यापक अर्थ में समझना होगा। मनुष्यों के इस व्यापक जीवन में प्रकृति और संस्कृति का संगम मिलता है। जीवन का जो अंश पशुओं के समान है तथा आवश्यक और अनिवार्य है, उसे प्रकृति कहा जा सकता है। यह प्राकृतिक जीवन एक प्रकार से न्यूनतम जीवन है। पशुओं का जीवन इस न्यूनतम स्तर पर ही रहता है। उसमें कमी नहीं की जा सकती। इस प्राकृतिक जीवन को पशुओं, पक्षियों और मनुष्यों का लघुतम समापवर्तक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पशुओं की तुलना में मनुष्य के जीवन में जो अतिशय है, उसे संस्कृति कह सकते हैं। जहाँ प्रकृति जीवन का न्यूनतम रूप है, वहाँ संस्कृति जीवन की समृद्धि है। समृद्धि होने के साथ-साथ वह समृद्धिशील भी है अर्थात् उसकी वृद्धि होती है; जबकि प्रकृति की एक लघु सीमा है, जिसके आगे उसकी वृद्धि नहीं हो सकती। इसी कारण पशुओं के जीवन में वृद्धि नहीं हो सकी है। मनुष्य के जीवन में संस्कृति के संयोग में प्रकृति की भी किन्हीं रूपों में समृद्धि हुई है। यदि प्रकृति की सीमा में नहीं तो उसकी सार्थकता और उसके आनन्द में निस्सन्देह वृद्धि हुई है। संस्कृति के समवाय से मनुष्य का समग्र जीवन ही अधिक सार्थक और आनन्दमय बना है।

प्रकृति की समृद्धि होने के साथ-साथ संस्कृति के समवाय से मनुष्य के जीवन में प्रकृति का कायाकल्प भी हुआ है। संस्कृति ने प्रकृति का

रूपान्तर किया है। यह कह सकते हैं कि मानो संस्कृति में समवेत होकर मनुष्य के जीवन में प्रकृति भी सांस्कृतिक बन गई है। इसीलिए जीवन के सम्बन्ध में प्रकृति और संस्कृति की धाराओं का विवेक करना कठिन हो जाता है। पशुओं के जीवन में प्रकृति का विशुद्ध रूप मिलता है। इसी रूप के सहारे मनुष्यों के जीवन में भी प्रकृति और संस्कृति का विवेक किया जा सकता है। पशुओं में जो प्रकृति का रूप मिलता है, वह स्वार्थमय, व्यक्तिगत, आवश्यक, अनिवार्य और संकल्परहित है। प्रकृति के धर्म शारीरिक होते हैं और वे शरीर के हित के लिए ही होते हैं। शरीर प्राकृतिक प्रक्रियाओं के अन्वय की इकाई है। शरीर के धर्म व्यक्तिगत हैं। वह प्राकृतिक धर्मों का व्यक्तिगत आश्रय है। प्रजनन के धर्म में कुछ पारस्परिकता आ जाती है। किन्तु उसमें भी शरीर के व्यक्तिगत सुख की प्रधानता रहती है, और प्रजनन का वास्तविक रूप पारस्परिक आकांक्षा का मुख्य अंग नहीं रहता। मनुष्यों में ये प्राकृतिक धर्म रूपान्तरित हो जाते हैं, किन्तु इनका मूल प्राकृतिक रूप भी बना रहता है।

स्वार्थमय होने के साथ-साथ प्राकृतिक धर्म आवश्यक और अनिवार्य होते हैं। उनमें संकल्प का अवकाश नहीं रहता। अनिवार्य होने के कारण प्राकृतिक धर्म एकरूप होते हैं। मनुष्यों में ही नहीं, वरन् पशुओं में भी वे उसी रूप में पाए जाते हैं। मनुष्यों के जीवन में संकल्प इन प्राकृतिक धर्मों को कुछ प्रभावित करता है, किन्तु वह भी इनके मूल रूप को नहीं बदल सकता। भोजन आदि की प्राकृतिक क्रियाएँ स्वार्थ में ही अन्वित होती हैं, और वे अनिवार्य तथा एकरूप होती हैं। प्रकृति के शासन में मनुष्य एक दास के समान है। वह दास के समान ही पराधीन है। किन्तु संस्कृति उसकी स्वाधीनता का साम्राज्य है। संस्कृति के साम्राज्य में वह एक सम्राट के समान गौरव पाता है।

संस्कृति का यह साम्राज्य मनुष्य के संकल्प की रचना है। संकल्प आत्मा की स्वतन्त्रता का रचनात्मक रूप है। संकल्प से रचित होने के कारण संस्कृति स्वतंत्र है। स्वतंत्र होने के कारण वह एकरूप नहीं, वरन्

अनेक-रूप है। विभिन्न देशों और समाजों में संस्कृति की रचनाओं ने विविध रूप ग्रहण किये हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृति स्वार्थमय नहीं है। संस्कृति के परिणाम व्यक्ति में अन्वित नहीं होते। यद्यपि संस्कृति व्यक्ति के जीवन को अधिक समृद्ध और सार्थक बनाती है, फिर भी व्यक्ति के एकान्त में उसकी रचना सम्भव नहीं है और न उसके फल का आस्वादन व्यक्ति एकान्त में करता है। संस्कृति एक सामाजिक रचना है। जीवन के सामाजिक सन्दर्भ में ही संस्कृति का स्रोत और संस्कृति की सफलता है।

इस प्रकार प्रकृति और संस्कृति के स्वरूप में भेद है। मनुष्य के जीवन में इन दो भिन्न धाराओं का संगम हुआ है। इनकी भिन्नता से जो विरोध उत्पन्न होता है, उसी विरोध से मनुष्य जाति का संघर्षमय इतिहास बना है। इस संगम के द्वारा मनुष्य की प्रकृति का बहुत कुछ संस्कार और संस्कृति के साथ समन्वय भी हुआ है। जिन अंशों में मनुष्य का जीवन स्वार्थमय, एकरूप और अनिवार्य है, उन अंशों में उसे प्राकृतिक कहना होगा। जीवन के इस प्राकृतिक पक्ष को भी संस्कृति ने बहुत कुछ सभ्य और सुन्दर बनाया है। किन्तु संस्कृति का अधिक सम्पन्न रूप मनुष्य की उन रचनाओं में देखा जा सकता है, जिनमें उसके स्वतंत्र और अनेक-रूप संकल्प की अभिव्यक्ति हुई है। कला, साहित्य, धर्म आदि इन रचनाओं के प्रसिद्ध रूप हैं। ये सांस्कृतिक रचनायें दो परिस्थितियों में जीवन में अन्वित हुई हैं। एक परिस्थिति में ये जीवन का अंग बनी हैं तथा दूसरी परिस्थिति में ये सम्पूर्ण और साक्षात् जीवन में समवेत हुई हैं। ये दो परिस्थितियाँ संस्कृति के दो रूप हैं। एक संस्कृति का अभिजात और आंशिक रूप है तथा दूसरा संस्कृति का जीवन्त, समग्र और लोक-सम्मत रूप है। कदाचित् दूसरे रूप में ही आदिकाल में संस्कृति का आरम्भ हुआ, किन्तु सभ्य समाज में संस्कृति का पहिला रूप ही अधिक प्रतिष्ठित हुआ है। दूसरे रूप के उदाहरण आदिम जातियों के जीवन में मिलते हैं। ग्रामीण जीवन में भी उसके कुछ अवशेष शेष हैं। केवल भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है, जिसके नागरिक जीवन में भी जीवन्त संस्कृति का समृद्ध रूप मिलता है। पर्व, संस्कार, उत्सव आदि इसके उदाहरण हैं। भारतीय जीवन में इनकी विपुलता प्रकृति और संस्कृति के अधिकतम क्षेत्र को एकाकार बनाती है।

किन्तु सामान्यतः प्रकृति और संस्कृति का इतना व्यापक सामञ्जस्य सम्भव नहीं हो सका है तथा कला, साहित्य, धर्म आदि के अभिजात और आंशिक रूप में ही संस्कृति का विकास हुआ है। प्रकृति की विशेपताएँ और सभ्यता की आकांक्षाएँ संस्कृति के इस अभिजात और आंशिक रुप को प्रमुख बनाने के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी हैं। सस्कृति के ये रुप भी जीवन के महत्वपूर्ण अंग हैं। जीवन के अग बनकर संस्कृति के ये रूप जीवन को मधुर और सुन्दर बनाते हैं, यद्यपि समग्र जीवन के साथ इनका समवाय नहीं होता। कला सौन्दर्य की साधना है। जीवन में अन्वित होकर वह समग्र जीवन को सुन्दर बना सकती है। कला के सौंदर्य का ऐसा व्यापक समन्वय लोक-कला और लोक-संस्कृति में ही मिल सकता है। इनसे सौन्दर्य जीवन में समाहित होता है। इनके द्वारा प्राकृतिक जीवन भी सांस्कृतिक बन जाता है। किन्तु जीवन में सौन्दर्य का ऐसा समवाय और उसका निर्वाह प्रायः कठिन होता है। सभ्यता के विकास में प्रकृति की प्रबलता सौन्दर्य की साधना को जीवन का केवल एक अंग बनाकर अभिजात कला को जन्म देती है। शास्त्र और विद्या के सहयोग से अभिजात कला में रूपगत सौन्दर्य का विकास लोक-कला और लोक-संस्कृति की अपेक्षा अधिक होता है। किन्तु इसी विकास के कारण वह सार्वजनीन नहीं रह जाती। सभी लोग उसकी साधना नहीं कर पाते।

साहित्य और दर्शन भी इसी प्रकार अभिजात बन जाते हैं। संगीत, नृत्य, आदि की कलाओं का रूप व्यावहारिक हैं। इस दृष्टि से वे अधिक सुलभ हैं। भाषा की कला होने के कारण साहित्य इतना सुलभ नहीं रहता। शिक्षित लोग ही उसकी साधना कर सकते हैं। साहित्य की रचना और उसका आस्वादन दोनों ही भाषा के अधिक ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, जो सबके लिए सुलभ नहीं है। दर्शन साहित्य से भी अधिक अभिजात हैं। वह एक बौद्धिक साधना है। उसमें बुद्धि के द्वारा जीवन के गंभीर तत्वों का चिन्तन होता है। यह सबके लिए सम्भव नहीं है। धर्म को प्रचारकों ने अधिक व्यापक और लोकप्रिय बनाया है, किन्तु धर्म के वास्तविक और गम्भीर तत्व भी सुलभ नहीं हैं। साधारण लोग धर्म के

आडम्बर, उपचार, और बाहरी रूपों से ही अपना सन्तोष करते रहे हैं। फिर भी प्रकट रूप से धर्म की छाया पिछले युगों में साधारण जनों के जीवन पर बहुत रही है। वर्तमान युग में विज्ञान और औद्योगिक सभ्यता के प्रभाव से वह अवश्य कम होती जा रही है।

सर्वजन सुलभ न होने के कारण कला, साहित्य, दर्शन आदि को हमने संस्कृति का अभिजात रूप माना है। इनकी साधना करने वाला वर्ग अपने को अभिजात मानता रहा है। इनकी साधना के लिए अपेक्षित तथा इस साधना से प्राप्त होने वाली योग्यता भी संस्कृति के इन रूपों को अभिजात बनाती है। साधना की उत्कृष्टता आभिजात्य का ही लक्षण है। अभिजात होने के साथ-साथ संस्कृति के ये रूप इस अर्थ में आंशिक हैं कि वे जीवन के एक अंग ही बन पाते हैं, तथा समग्र जीवन को व्याप्त नहीं कर पाते। संस्कृति के इन रूपों से अस्पष्ट अधिकांश जीवन अपने प्राकृतिक रूप में ही चलता रहा है। उसे संस्कृति के इन रूपों का संस्कार प्राप्त नहीं होता।

इसके अतिरिक्त संस्कृत के इन अभिजात रूपों की विशेषता यह है कि इनके अपने रूप ही प्रधान होते हैं तथा इन रूपों में विषय अथवा तत्व बनाकर जीवन को समाहित किया जाता है। जीवन को प्रधान मानकर जीवन के व्यापक तत्व में इन रूपों का समवाय नहीं किया जाता। इस कारण संस्कृति के ये रूप प्राय: जीवन के कुछ अंशों को ही ग्रहण कर पाते हैं। समग्र जीवन को ये अपने सौन्दर्य और अपनी महिमा से अंचित नहीं कर पाते। जीवन के कुछ अंशों को भी ये विषय रूप में ही ग्रहण करते हैं। विषय रूप में ग्रहीत जीवन जीवन की छाया मात्र रह जाता है, उसमें साक्षात् जीवन की सजीवता नहीं रहती। संस्कृति के प्रचलित विवेचनों में संस्कृति के जिन रूपों की चर्चा मिलती है, वे संस्कृति के ये ही अभिजात और आंशिक रूप हैं।

इसके विपरीत संस्कृति का एक दूसरा रूप भी है, जो जीवन्त संस्कृति के रूप में मिलता है। यह संस्कृति का लोक सुलभ रूप है। इसमें जीवन विषय नहीं बनता, वरन् जीवन के साक्षात्, सजीव और समग्र

रूप में ही संस्कृति के सौन्दर्य का समवाय किया जाता है। अभिजात संस्कृति से भेद करने के लिए इसे लोक संस्कृति कह सकते हैं। लोक संस्कृति केवल वन्य, आदिम और ग्रामीण समाजों की ही संस्कृति नहीं है। वह सम्पूर्ण समाज की संस्कृति के रूप में विकसित होती है। सभ्यता के प्रभाव से नागरिक समाज उससे अलग हो जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि इस लोक-संस्कृति का सौन्दर्य हीन और उपेक्षणीय ही हो। पश्चिमी देशों में किसी कारण इस लोक-संस्कृति का रूप हीन रहा, अतः नागरिक समाज उससे दूर हो गया। किन्तु इससे दूर होकर पश्चिमी समाज जीवन्त संस्कृति से बहुत कुछ वंचित भी हो गया। इसी कारण पश्चिम के विद्वान अभिजात संस्कृति को मुख्य मानने लगे और इसी रूप में उन्होंने संस्कृति का विवेचन किया है। उनके दृष्टिकोण में लोक-संस्कृति एक आदिम और पिछड़े हुए समाज की धरोहर है।

किन्तु इसके विपरीत भारतीय परम्परा में लोक-संस्कृति अथवा जीवन्त संस्कृति का एक अत्यन्त समृद्ध और श्रेष्ठ रूप मिलता है। इसीलिए उस जीवन्त संस्कृति का नागरिक समाज में भी प्रचार हैं, जो अभिजात संस्कृति का भी आदर करता है। अभिजात संस्कृति की साधना सभी नगरवासियों के लिए भी सुलभ नहीं है। किन्तु जीवन्त लोक-संस्कृति के सुलभ सौन्दर्य का आदर नागरिक समाज भी करता है। भारत की इस जीवन्त लोक-संस्कृति के अनेक रूप हैं। प्रतीक, पर्व, संस्कार, उत्सव, मेले, व्रत, तीर्थ-यात्रा आदि को इनमें मुख्य मानकर गिनाया जा सकता है। जीवन्त संस्कृति के ये रूप इतने व्यापक और विपुल हैं कि लगभग समग्र जीवन को आत्मसात कर ये उसे संस्कृति की सुन्दरता और महानता प्रदान करते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सभी पक्षों को समाहित कर जीवन्त संस्कृति ने उन्हें सुन्दर बनाया है। भारतीय पञ्चांग में लगभग प्रतिदिन ही कोई पर्व रहता है। इनमें दीपावली, होली आदि के पर्वों से संस्कृति की रागिनी के स्वर अपनी उच्चतम परिणति पर पहुँच जाते हैं। समग्र सामाजिक जीवन ही संस्कृति का पर्याय बन जाता है। अन्य संस्कार, उत्सव आदि जीवन की रागिनी को तानों और मीड़ों से सम्पन्न बनाते हैं। भारतीय परम्परा की यह

जीवन्त संस्कृति ही संसार के इतिहास में ऐसा उदाहरण है, जिसमें जीवन के अधिकतम भाग में संस्कृति के सौन्दर्य का समवाय हुआ है तथा जीवन और संस्कृति एक दूसरे के पर्याय बन गए हैं। जीवन के अधिकतम में भाग संस्कृति के इस समवाय ने भारतीय जीवन को सौन्दर्य से इतना सम्पन्न और आनन्द से इतना समृद्ध बनाया है कि इसका अन्यत्र उदाहरण मिलना कठिन है। जीवन की इस व्यापक समृद्धि में संस्कृति का मूल प्रयोजन (जीवन को समृद्ध बनाना) अधिकतम सीमा तक सफल हुआ है।

४. जीवन्त संस्कृति के रूप

भारतीय परम्परा में जीवन्त संस्कृति के अनेक और अत्यन्त सम्पन्न रूप मिलते हैं। जीवन्त संस्कृति का इतना समृद्ध एवं सम्पन्न रूप कदाचित ही किसी अन्य देश अथवा समाज में मिल सकेगा। प्रतीक, पर्व, संस्कार, व्रत, त्योहार, तीर्थ, मेले आदि भारतीय जीवन्त संस्कृति के इन रूपों में मुख्य हैं। संस्कृति के ये रूप अत्यन्त सुन्दर और रहस्यमय हैं। इनका रूप सरल है किन्तु ये अलक्षित रूप से लोक-जीवन में रस, आनन्द और सौन्दर्य भरते हैं। साधारण लोक समाज में प्रचलित होने के कारण इन्हें लोक संस्कृति भी कहा जा सकता है।

आधुनिक सांस्कृतिक धारणा में प्रायः ग्रामीण और वन्य लोगों की संस्कृति को लोक-संस्कृति माना जाता है। ज्यों-ज्यों नागरिक सभ्यता बढ़ती गई है, त्यों-त्यों यह लोक-संस्कृति पीछे छूटती गई है, अथवा नागरिक लोग उससे दूर होते गए हैं। इस प्रकार यह लोक-संस्कृति एक अ-नागरिक संस्कृति है। नागरिक समाज के जीवन में इस लोक-संस्कृति का उतना स्थान और महत्व नहीं है, जितना कि उन ग्रामीण लोगों तथा वन्य जातियों के जीवन में है, जो इस संस्कृति को अपनी सत्ता का अभिन्न अंग मानते हैं।

पश्चिमी देशों में लोक-संस्कृति और नागरिक सभ्यता का यह भेद अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। कदाचित् पश्चिम में ऐसी लोक-संस्कृति

अधिक समृद्ध नहीं थी, जो समाज के सामान्य जीवन में ओत-प्रोत हो तथा इस कारण जो नागरिक सभ्यता के विकास के बाद नागरिक जीवन में भी सुरक्षित और समादृत बनी रहती। किन्तु भारतीय लोक-संस्कृति इतनी समृद्ध और सार्थक रही है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ नागरिक जीवन से उसका विच्छेद नहीं हुआ। वह ग्रामीण और वन्य जीवन में ही सीमित नहीं रह गई है। समाज के सामान्य जीवन से उसका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि नागरिक जीवन में भी उसका महत्व अक्षुण्ण बना हुआ है। यह भारतीय लोक-संस्कृति की एक अद्भुत विशेषता है, जिसकी ओर संस्कृति के व्याख्याताओं ने समुचित ध्यान नहीं दिया है। इतना ही नहीं, पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में आकर नगरों के निवासी अब अपनी इस लोक-संस्कृति की उपेक्षा कर रहे हैं, यद्यपि अब तक यह लोक-संस्कृति नागरिक जीवन की नीरसता में मधुरता और सौन्दर्य का संचार करती रही है।

हमारी यह अद्भुत लोक-संस्कृति वास्तविक अर्थ में एक लोक-संस्कृति है। लोक का अभिप्राय एक देश के सम्पूर्ण समाज से है। सम्पूर्ण समाज की संस्कृति को ही वास्तविक अर्थ में लोक-संस्कृति कहा जा सकता है। जो संस्कृति सम्पूर्ण समाज में आदर नहीं पाती तथा केवल ग्रामीण और वन्य समाज में ही शेष रह जाती है, उसे लोक संस्कृति न कहकर ग्रामीण संस्कृति अथवा वन्य संस्कृति कहना चाहिए। सामूहिक नृत्य के उदाहरण के द्वारा इस भेद को स्पष्ट किया जा सकता है। सामूहिक नृत्य विशेष रूप से ग्रामीण और वन्य संस्कृति में ही शेष रह गए हैं। नागरिक सभ्यता ने उन्हें त्याग दिया है।

किन्तु सामूहिक नृत्य का यह उदाहरण एक अपवाद जैसा है। इसके अतिरिक्त भारतीय लोक-संस्कृति के ऐसे अनेक रूप हैं, जो ग्रामीण और नागरिक समाज में समान रूप से पाए जाते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि नगरों की अधिक जन-संख्या और अधिक समृद्धि के कारण नागरिक जीवन में इनका रूप अधिक भव्य बन जाता है। होली, दीपावली आदि के पर्व इसके उदाहरण हैं। नगरों में इनकी शोभा ग्रामों की अपेक्षा अधिक होती है।

हमारे तीज, त्यौहार, पर्व, व्रत, उत्सव, संस्कार, मेले, तीर्थ आदि हमारी इस अद्भुत लोक-संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग हैं। ग्रामीण और नागरिक दोनों प्रकार के समाजों में इनका समान महत्व है। दोनों ही समाज लोक-संस्कृति के इन रूपों का समान रूप से निर्वाह करते हैं, जैसा कि अभी कहा जा चुका है। अनेक बार लोक-संस्कृति के कुछ रूप ग्रामीण समाज की अपेक्षा नागरिक समाज में अधिक जन-संख्या और अधिक समृद्धि के कारण अधिक भव्य रूप में सम्पन्न होते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों की भूमिका मूलतः ग्रामीण कृषक समाज में बनी थी। किन्तु इस भूमिका के ऊपर इस लोक-संस्कृति का विकास ऐसे सुन्दर रूपों में हुआ कि ये नागरिक जीवन में भी सहज भाव से समाहित हो गए हैं।

दीपावली, होली आदि के पर्व हमारी इस अद्भुत लोक-संस्कृति के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। संसार की किसी अन्य संस्कृति में ऐसे पर्व देखने को नहीं मिलेंगे। प्रायः कहा जाता है कि संसार के अन्य देशों में भी रंग का पर्व होता है तथा दीपक जलाए जाते हैं। कदाचित् दूसरे देशों की ये प्रथाएँ हमारी समृद्ध परम्परा का आंशिक अनुकरण मात्र हैं। हमारी दीपावली केवल दीपकों का पर्व नहीं है। दीपकों का जलना केवल उसका एक अंग है। कदाचित् अन्यत्र इन दीपकों की माला नहीं बनाई जाती और न दीपोत्सव को 'दीपमालिका' कहते हैं। अन्य देशों में दीपकों के द्वारा लक्ष्मी पूजन नहीं होता। हमारी दीपावली में दीपोत्सव और लक्ष्मी पूजन के अतिरिक्त 'धन्वंतरि-त्रयोदशी', 'नरक-चतुर्दशी', 'यम-दीपन', घरों की सफाई-पुताई, भित्ति आलेखन, मिष्टान्न वितरण, खील-बताशे, नवीन वस्त्र निर्माण, देव-मन्दिरों तथा पड़ौसियों के घरों में दीप-दान आदि अनेक प्रथाएँ सम्मिलित हैं, जो उसे विदेशों के दीपोत्सव की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। दीपावली की प्रतिपदा की गोवर्धन पूजा तथा उसके बाद आने वाली भ्रातृ द्वितीया उसे और अधिक सम्पन्न बनाती है। दीपावली की इन सभी प्रथाओं का पालन ग्रामों और नगरों में समान रूप से होता है।

इसी प्रकार हमारी होली केवल रंग का पर्व नहीं है। ये रंग भी केवल प्राकृतिक रंग नहीं है। इनके पीछे हृदय के भावों का रंग है और श्रीकृष्ण के भावमय जीवन की पवित्र भूमिका है। इसके अतिरिक्त वसन्त-पंचमी से होली की स्थापना, रंग की एकादशी से होली के गीतों का आरम्भ होना, पूर्णिमा के होलिकादाह के पूर्व कन्याओं द्वारा कई दिन तक नित्य होलिका-पूजन, एकादशी का आमलकी-पूजन, पूर्णिमा का होलिका-दहन, नवान्न की आहुति, प्रतिपदा का धूलि-वन्दन, अतिथियों का आमन्त्रण, अपरिचितों का कण्ठ-मिलन, भ्रातृ द्वितीया आदि ऐसी प्रथाएँ हैं, जो दीपावली की प्रथाओं की भाँति होली के पर्व को भी अत्यन्त सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। ऐसे सम्पन्न और सार्थक पर्वों का उदाहरण संसार के किसी देश की संस्कृति में नहीं मिल सकता।

दीपावली और होली के अतिरिक्त अन्य अनेक तीज, त्योहार, पर्व आदि भारतीय जीवन को सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। एक प्रकार से हमारा सम्पूर्ण वर्ष ही पर्वों और उत्सवों का निरन्तर क्रम है। कुछ दिन के अन्तराल से नित्य-प्रति नए पर्व और उत्सव आते रहते हैं। संगीत के स्वरों की भाँति ये पर्व एवं उत्सव अनेक प्रकार के होते हैं तथा इन्हीं के साथ-साथ समय-समय पर पारिवारिक संस्कारों, मेलों आदि के संवादी वाद्य हमारी जीवन्त लोक-संस्कृति को एक सम्पन्न संगीत का रूप देते हैं। वर्ष के आरम्भ में नवरात्र की दुर्गा पूजा, कौमार्य वन्दना, मातृ-पूजा आदि से आरम्भ होकर अक्षय तृतीया, वट-सावित्री, गंगा-दशहरा, व्यास-पूर्णिमा, रक्षा-बन्धन, जन्माष्टमी, गणेश-चतुर्थी, ऋषि-पंचमी, अनन्त-चतुर्दशी, पितृ-पक्ष, शारदीय नवरात्र, दीपावली, गोवर्धन पूजा, मकर संक्रान्ति, वसन्त-पंचमी और शिवरात्रि के स्वर-सोपानों से होकर होली के लोकपर्व में हमारी लोक संस्कृति की रागिनी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है। लोक संस्कृति की इस परम्परा में व्रत, पर्व, उत्सव, त्योहार आदि संगीत के विभिन्न स्वरों की भाँति ऐसे क्रम में सँजोए हुए हैं कि लोक संस्कृति की यह योजना लोक जीवन की एक सुन्दर रागिनी बन जाती है।

नवरात्र की रहस्यमय शक्ति-पूजा के शान्त और मन्द्र स्वर से लोक-संस्कृति की इस रागिनी का आरम्भ होता है। शक्ति ही जीवन का आधार है। मातृत्व उसका मूल है। कौमार्य के अभिनन्दन से समाज में शक्ति की परम्परा पोषित होती है। अतः इन तीनों के अभिनन्दन से वर्ष का आरम्भ करना अत्यन्त उचित है। गणित की मूल संख्याएँ नौ ही होती हैं। अतः नौ दिन की यह शक्ति-पूजा वस्तुतः प्रतिदिन की शक्ति-पूजा की प्रतीक है। शक्ति के अनेक रूप हैं। इन अनेक रूपों में शक्ति हमारे जीवन और हमारी संस्कृति का आधार है। नवरात्र के इस व्रत का ग्राम और नगर के लोग समान रूप से पालन करते हैं। देवी के तीर्थों में होने वाले मेले इस व्रत में उत्सव का संपुट देते हैं, और इसकी विभूति को व्यावहारिक जीवन में अन्वित करते हैं।

अक्षय तृतीया भी एक प्रकार से शक्ति की अक्षय परम्परा के प्रस्तार की प्रतीक है। यह परशुराम की जयन्ती के रूप में भी मनाई जाती है। घड़ा, सत्तू, पंखा, ऋतुफल आदि का दान शक्ति परम्परा में दान के महत्व को सूचित करता है और व्रत की विभूति को सामाजिक सम्बन्धों में अन्वित करता है। वट सावित्री का व्रत नारी की संजीवनी महिमा को अमर बनाता है। सत्यवान को यम के पाश से लौटाने वाली सावित्री भारतीय नारी का आदर्श बन गई है। ग्राम और नगर सभी स्थानों की स्त्रियाँ सावित्री के व्रत का पालन करती हैं। इस अवसर पर कोई भारी मेला या उत्सव तो नहीं होता। जीवन-मरण का गम्भीर अवसर इसके लिए उपयुक्त भी नहीं है। फिर भी घर में इस व्रत के निमित्त से कुछ उत्सव का वातावरण भी बन जाता है।

गंगा दशहरा कोई व्रत न होकर गंगा स्नान का पर्व है। ग्रामीणों के लिए ज्येष्ठ के अवकाश काल में गंगा-यात्रा और गंगा-स्नान एक धार्मिक पर्व वन जाते हैं। गंगा के निकट के नगर निवासी भी इस पर्व के पुण्य में भाग लेते हैं। गंगा तट के मेले इस पुण्य पर्व को एक उत्सव भी वना देते हैं, तथा इसे आर्थिक एवं सामाजिक भूमिका में प्रतिष्ठित करते हैं। पिछले तीन व्रतों के वाद गंगा दशहरा के उत्सव में संस्कृति की

रागिनी का स्वर बदल जाता है। व्यास-पूर्णिमा गुरु-वन्दना का पर्व है। प्राचीन शिक्षा-परम्परा में गुरुओं का बड़ा योग रहा है। उन्हीं के तप-त्याग से निरुपयोगी होते हुए भी विद्या की परम्परा पोषित रही। आषाढ़ी पूर्णिमा का यह पर्व उन्हीं गुरुओं की महिमा का स्मारक है। स्वराज्य में इसकी प्रथा मन्द हो चली है किन्तु इस प्रथा का पुनरुज्जीवन राष्ट्र के पुनरुज्जीवन में बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

रक्षा-बन्धन का पर्व वर्ष का पहला सामाजिक पर्व है। श्रावणी का उपाकर्म और बहनों की राखी इसके दो पक्ष हैं। ये दोनों क्रमशः धार्मिक और सामाजिक उत्तरदायित्व के सूचक हैं। वैदिक उपाकर्म को तो लोग प्रायः भूल चले हैं, किन्तु बहनों की राखी ग्राम और नगर दोनों के घर-घर में एक अद्भुत आनन्द की सृष्टि करती है। बहिन का सम्बन्ध एक अत्यन्त मधुर और पवित्र सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति में इसका सबसे अधिक आदर किया जाता है। रक्षा-बन्धन का पर्व विवाहित स्त्रियों के पीहर के साथ सम्बन्ध को प्रतिवर्ष नया कर देता है और उनके शील की मर्यादा को सुरक्षित बनाता है। यह सुन्दर पर्व हमारी लोक संस्कृति का भी रक्षा-बन्धन है। झूले के गीत और मधुर व्यंजन इस पर्व के माधुर्य का विस्तार करते हैं।

रक्षा-बन्धन के आठ दिन बाद जन्माष्टमी का धार्मिक पर्व आता है। इसमें व्रत और उत्सव दोनों का समन्वय होता है। घरों और मन्दिरों में श्रीकृष्ण की झाँकियाँ सजाई जाती हैं, और उत्सव के आनन्द में व्रत का पारण होता है। गणेश चतुर्थी में गणेश की पूजा होती है। महाराष्ट्र में इसकी विशेष महिमा है। किन्तु मंगल के देवता के रूप में गणेश समस्त भारत में पूजे जाते हैं। ऋषि-पंचमी ऋषियों के संस्मरण का पर्व है। इसमें वन्य आहार के द्वारा ऋषियों का स्मरण किया जाता है। अनन्त-चतुर्दशी अनन्त परम्परा का व्रत है। ये दोनों व्रत के रूप में ही माने जाते हैं। इनकी सात्विकता के कारण कदाचित् इनमें उत्सव का संगम नहीं हो पाया।

अनन्त चतुर्दशी के दूसरे दिन से पितृ-पक्ष का आरम्भ होता है। पितरों का श्रद्धापूर्वक स्मरण भी एक सामाजिक सत्कार और पारिवारिक उत्सव का अवसर बन जाता है। गरीब-अमीर सभी घर-घर पितरों का श्राद्धोत्सव करते हैं। यह रक्षाबन्धन के समान ही एक व्यापक और सार्वभौमिक कृत्य है तथा हमारी लोक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है।

पितृ-पक्ष के बाद शारदीय नवरात्र का आरम्भ हो जाता है जो वासंतिक नवरात्र की आवृत्ति है। यह आवृत्ति जीवन में शक्ति के महत्व का समर्थन करती है। शक्ति का तत्व अत्यन्त रहस्यमय है, किन्तु तान्त्रिक विद्वानों से लेकर ग्रामीण नर-नारियों तक असंख्य लोग नवरात्र का व्रत करते हैं। कार्तिक की कृष्ण चतुर्थी से दीपावली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। करवा चतुर्थी सौभाग्य का व्रत है। उसके बाद अहोई अष्टमी वात्सल्य का व्रत है। सौभाग्य और वात्सल्य दोनों का भारतीय संस्कृति में अपार महत्व है। ग्राम और नगर की शिक्षित और अशिक्षित, गरीब और अमीर सभी स्त्रियाँ इन व्रतों को करती हैं। धन्वन्तरि त्रयोदशी का आयुर्वेदिक पर्व साधारण जनों के लिये नये पात्र खरीदने का पर्व बन गया है। किन्तु अपने इस नये रूप में यह बहुत व्यापक है। नरक चतुर्दशी का यमदीप अमावस्या की दीपावली का सूत्रधार बनता है। अमावस्या की रात में लक्ष्मी पूजन की दीप मालाएँ आकाश के नक्षत्रों से स्पर्धा करती हैं। एक वर्ष के बाद लीप-पोत कर स्वच्छ बनाये हुये घर-द्वार दीपकों की ज्योति से जगमगा उठते हैं। श्रम, स्वास्थ्य, स्वच्छता, नियम और प्रकाश की यह महिमा ही लक्ष्मी पूजा का मर्म है। राजमहलों से लेकर झोंपड़ी तक दीपावली का आलोक जीवन में उल्लास भरता है। रक्षा-बन्धन के बाद दीपावली दूसरा व्यापक लोकपर्व है। प्रतिपदा की गोवर्धन पूजा कृष्ण युग के गोपालन की स्मृति को हरा कर देती है। घर-घर में गोवर्धन की परिक्रमा का अभिनय होता है। भ्रातृ द्वितीया दीपावली के उल्लास पर्व पर एक सांस्कृतिक मर्यादा का तिलक रचती है। एकादशी के देवोत्थान में भारत

के भाग्य-देवता जाग उठते हैं और वर्ष की महत्वपूर्ण फसल के संरक्षण में लग जाते हैं।

दीपावली के पर्व में लोक संस्कृति की रागिनी मध्यम सप्तक के पंचम स्वर तक पहुँच जाती है। इसके बाद उसका मन्द्र सप्तक की ओर उतार होता है। ग्रीष्म के साथ विरोध के कारण भारतवासियों के लिये शीतकाल कठोर होता है। ग्रामीण जनों का शीतकाल धूप और आग का सेवन करते बीतता है। इसीलिये दीपावली के बाद दो मास तक कोई विशेष पर्व नहीं आता। मकर संक्रान्ति से सूर्य उत्तरायण होता है। संस्कृति की रागिनी मध्यम से तार की ओर बढ़ती है। माघ स्नान और संक्रान्ति के व्रतदान से रागिनी का नया आलाप आरम्भ होता है। मकर संक्रान्ति के बाद शिवरात्रि का महान लोकपर्व आता है। कृष्ण के मन्दिर ग्रामों में नहीं हैं। किन्तु शिव मन्दिर गाँव-गाँव में होने के कारण शिवरात्रि का पुण्य ग्रामीण जनों के लिये भी सुलभ हो जाता है। गंगोत्री से लेकर रामेश्वरम् तक शिवार्चन की यात्राएँ सम्पूर्ण भारत के धार्मिक मानस को एक पवित्र उल्लास से आन्दोलित कर देती हैं।

वसन्त पंचमी से होली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। आमलकी एकादशी से रंग-लीला का सूत्रपात हो जाता है। होली का दहन नवान्न, यज्ञ, कृषि और धर्म की संगति है। अपरिचितों के कण्ठ मिलन, उन्मुक्त धूलि वन्दन, स्वच्छन्द रंग लीला और विमुक्त लोक गायन में संस्कृति की रागिनी अपने उच्चतम तार स्वर पर पहुँचती है। चैत्र की भ्रातृ द्वितीया पुनः मर्यादा का तिलक देकर उसे सम पर आने का संकेत करती है। वर्ष की रागिनी का अवसान होता है और नववर्ष के नवरात्र से नये वर्ष की रागिनी आरम्भ हो जाती है।

वर्ष की इस अविच्छिन्न पर्व परम्परा की सांस्कृतिक रागिनी को जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि के संस्कारों तथा मेलों, यात्राओं आदि के उद्योगों की तानें एवं आलापें और भी सम्पन्न एवं सुन्दर बना देती हैं। भारतीय लोक संस्कृति इस प्रकार जीवन का एक अंग मात्र नहीं है, जिस

प्रकार संस्कृति की आधुनिक धारणा में कला, धर्म, दर्शन आदि को जीवन का अंग माना जाता है। लोक संस्कृति के सभी रूप जीवन में समवेत हैं। पर्व, व्रत, संस्कार आदि सभी जीवन की भूमिका में प्रतिष्ठित हैं। साक्षात् और वास्तविक जीवन ही इनमें सांस्कृतिक रूप ग्रहण कर लेता है। वर्षारम्भ के नवरात्र से लेकर वर्षान्त के होली तक के सभी पर्व, व्रत और उत्सव साक्षात् जीवन में समाहित होते हैं। उनके निमित्त से समय-समय पर जीवन ही पर्व और उत्सव का रूप ग्रहण कर लेता है। भारतीय लोक संस्कृति की यह एक अद्भुत विशेषता है, जो उसे संसार की संस्कृतियों में अनुपम बनाती है।

जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि साक्षात् जीवन के संस्कार हैं। इनके सम्बन्ध में होने वाले समारोह व्यक्ति और समाज के जीवन को उत्सव का रूप देते हैं। शास्त्रों में तो गर्भाधान से ही संस्कारों का आरम्भ होता है। किन्तु आज भी प्रायः जात कर्म का संस्कार सभी घरों में होता है। जन्म जीवन का आरम्भ है। जात कर्म के द्वारा आरम्भ से ही जीवन को सांस्कृतिक रूप मिलता है। जात कर्म के बाद चूड़ा-कर्म कर्ण-वेध आदि बढ़ते हुये जीवन के पर्वों में सांस्कृतिक सौन्दर्य का समन्वय करता है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के लोग इन संस्कारों का निर्वाह करते हैं, यद्यपि सामाजिक उदासीनता के कारण इनका महत्व कम होता जा रहा है। किन्तु अब भी इनका बहुत कुछ सौन्दर्य शेष है। अनेक घरों में जातकर्म, चूड़ा कर्म, कर्ण-वेध और उपनयन के संस्कार समारोह के साथ होते है। इस समारोह में व्यक्ति का जीवन ही नहीं वरन् परिवार, कुटुम्ब और परिचित समाज का जीवन भी कुछ समय के लिये सांस्कृतिक सौन्दर्य से भर जाता है।

इन संस्कारों में सबसे बड़ा विवाह का संस्कार है। विवाह जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण संबंध है। भारतीय समाज में उसे विस्तृत और महत्वपूर्ण भूमिका में प्रतिष्ठित किया गया है। दो व्यक्तियों का विवाह-सम्बन्ध परिवार, कुटुम्ब और समाज के लिये एक अपूर्व उत्सव बन जाता

है। विवाह का ऐसा समारोह अन्य किसी देश में नहीं होता। अग्नि-वेदिका, पुरोहित, वेद मंत्र, सप्तपदी आदि विवाह को धार्मिक पवित्रता प्रदान करते हैं। दूसरी ओर स्वजनों का सौहार्द, गीत, वाद्य, भोज आदि उसे एक उत्सव का रूप देते हैं। इस प्रकार विवाह का प्राकृतिक सम्बन्ध एक विशाल सांस्कृतिक उत्सव बन जाता है। अन्त्येष्टि की अधिक चर्चा उचित नहीं है, फिर भी इतना विचारणीय है कि जिस रूप में अन्त्येष्टि का संस्कार होता है उस रूप में वह शोक ग्रस्त घर से मृत्यु की अपवित्रता और उसकी विभीति का प्रभाव अपनी धार्मिक प्रक्रिया के द्वारा बहुत कुछ दूर कर देता है। दूसरी ओर जिस श्रद्धा और सद्भावना के साथ मृतक का अन्तिम संस्कार होता है, उसकी कल्पना ही प्रत्येक जीवित मनुष्य को अपनी नियति के सम्बन्ध में बहुत कुछ सांत्वना प्रदान करती है। मृत्यु जीवन का अनिवार्य अन्त है। उसे कोई रोक नहीं सकता। अन्त्येष्टि संस्कार तथा श्रद्धा आदि के रूपों में जिस प्रकार भारतीय परम्परा में मृत्यु की इस अनिवार्य नियति का समाधान किया गया है तथा उसे सुन्दर और सह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है, उससे जितनी अधिक सांत्वना मर्त्य मनुष्य को मिल सकती है, उससे अधिक सांत्वना की आशा अन्य किसी समाज में नहीं की जा सकती।

इस प्रकार जात-कर्म से लेकर अन्त्येष्टि तक के संस्कार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त जीवन को सुन्दर बनाते हैं। संस्कार का अर्थ परिमार्जन अथवा शोधन है। किन्तु संस्कार संस्कृति का मौलिक बन्धु है। अतः इन संस्कारों में परिमार्जन के साथ-साथ सौन्दर्य का सन्निधान भी होता है। पर्व और संस्कार दोनों मिलकर जीवन को द्विगुणित सुन्दर बनाते हैं। पर्वों की गति वर्ष के कालानुक्रम के अनुसार है। संस्कारों की गति व्यक्ति के आयुक्रम के अनुसार होती है। अतः प्रायः दोनों का संगम होता है। गान-वाद्य की संगति की भाँति दोनों की संगति जीवन और लोक संस्कृति की रागिनी को मनोहर बनाती है। संस्कार साक्षात् जीवन के पर्व हैं। इनमें सांस्कृतिक सौन्दर्य को जीवन के यथार्थ में अन्वित किया जाता है। पर्वों के सांस्कृतिक सौन्दर्य में जीवन के यथार्थ

में द्विविध और परिपूरक प्रक्रिया के द्वारा जीवन और सौन्दर्य का द्विगुणित समन्वय जीवन को अपार सौन्दर्य प्रदान करता है।

पर्वों और संस्कारों के अतिरिक्त तीर्थ दर्शन, तीर्थ स्नान, यात्रा, मेले आदि भी लोक जीवन को अनेक प्रकार से सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। तीर्थ धर्म के पीठ हैं। भारत में सर्वत्र इतने तीर्थ फैले हुये हैं कि सम्पूर्ण भारत को 'धर्म भूमि' कहा जा सकता है। पुण्य अवसरों पर तीर्थों में मेले भी होते हैं। इस प्रकार तीर्थों में धर्म और अर्थ का संगम होता है। तीर्थ यात्रा, तीर्थ दर्शन और तीर्थ स्नान की प्रथा भारत में बहुत प्रचलित है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के निवासी तीर्थों में श्रद्धा रखते हैं। यह तीर्थ-सेवन हमारी लोक-संस्कृति का एक धार्मिक अंग है और उतना ही लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण है, जितने कि पर्व, उत्सव, संस्कार आदि हैं। यह भारतीय जीवन की पवित्र भावना का द्योतक है। हमारे व्रतों और पर्वों में भी धार्मिक भावना ओत-प्रोत है। तीर्थ-सेवन उस भावना की संगति को पूर्ण करता है तथा देश की भूमि के साथ हमारी एकात्मता स्थापित करता है। पर्वों, व्रतों और उत्सवों की भाँति तीर्थ-सेवन के अवसरों की बहु-संख्यकता धार्मिक भावना का जीवन के साथ व्यापक सामंजस्य स्थापित करती है।

तीर्थों के अतिरिक्त भी अनेक स्थानों पर छोटे-बड़े मेले लगते हैं। मूल रूपों में तो ये मेले आर्थिक व्यवसाय के अस्थायी केन्द्र हैं जो समय-समय पर सक्रिय होकर आर्थिक जीवन की गति विधि को संतुलित करते हैं। किन्तु साधारण जनों, विशेषतः बालकों और स्त्रियों के लिये ये मेले आर्थिक व्यवसाय के साथ-साथ विहार और आमोद के केन्द्र भी बन गये हैं। बड़े नगरों का तो दैनिक बाजार मेले के समान होता है, किन्तु ग्रामों और छोटे नगरों के जीवन में इन मेलों का बड़ा महत्व है। इनके निवासियों के लिये ये मेले एक नई चहल-पहल और नये उल्लास का अवसर लेकर आते हैं। समय-समय पर आकर ये मेले लोक जीवन में एक नई स्फूर्ति और नवीन प्रसन्नता भर जाते हैं।

इस प्रकार पर्व, उत्सव, व्रत, संस्कार, तीर्थ, मेले आदि के अनेक रूपों से युक्त हमारी लोक संस्कृति इतनी समृद्ध है कि उसकी तुलना कदाचित् ही किसी देश की संस्कृति कर सकेगी। सांस्कृतिक रूपों की विविधता और विपुलता इस समृद्धि का एक लक्षण है। किन्तु संस्कृति की समृद्धि का एक दूसरा लक्षण भी है, जिसकी दृष्टि से भी हमारी लोक संस्कृति अनुपम और अतुलनीय है। संस्कृति की समृद्धि के इस दूसरे लक्षण को जटिलता कह सकते हैं। जटिलता का अर्थ उलझन नहीं वरन् अनेक तत्वों और पक्षों का संमय है। जटाओं में अनेक केश-तन्तु मिल जाते हैं इसलिये जटिलता उलझन के अतिरिक्त तत्वों और पक्षों की अनेकता की भी सूचक है। हमारी लोक संस्कृति के अनेक रूपों में देश, काल, मानवीय संदर्भ, उपकरण, विधि, निमित्त, रंग, संगीत, देवता आदि अनेक विषय-तत्वों एवं पक्षों का संगम रहता है। ये सब मिलकर सांस्कृतिक आचार के प्रत्येक रूप को जटिलता की दृष्टि से सम्पन्न बना देते हैं। यही सम्पन्नता हमारी दीपावली और होली की विदेशों में प्रचलित रंग—लीला और दीपोत्सव से भेदक है। जटिलता की दृष्टि से संस्कृति के ऐसे सम्पन्न रूप कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगें। संस्कृति के जटिल रूपों की विपुलता तो और भी अधिक दुर्लभ है।

जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है। हमारी यह लोक संस्कृति जीवन से समवेत है। यह कहा जा सकता है कि यह लोक संस्कृति जीवन का ही सांस्कृतिक रूप है। लोक संस्कृति की परम्परा में संस्कृति का सौन्दर्य उस अभिजात संस्कृति से भिन्न है जिसे पश्चिमी धारणा के अनुसार संस्कृति का एक मात्र रूप समझा जाता है। यह अभिजात संस्कृति जीवन का सांस्कृतिक पर्याय नहीं है वरन् जीवन का एक अंग मात्र है। धर्म, दर्शन, कला आदि इसके पक्ष है। ये सम्पूर्ण लोक जीवन के साथ समवेत नहीं होते, वरन् जीवन के अंग ही बने रहते हैं। इस प्रकार यह अभिजात संस्कृति जीवन और संस्कृति का आंशिक रूप है। इस धारणा के अनुसार लोक संस्कृति ग्रामीण और वन्य समाज में शेष रह गई हैं। नागरिक जीवन के लिये वह केवल अध्ययन और कौतूहल की वस्तु है।

किन्तु हमारी भारतीय लोक संस्कृति इतनी समृद्ध और परिष्कृत है कि ग्रामीण और नागरिक समाज उसे समान आदर से अपनाते रहे हैं। नागरिक समाज ने इस संस्कृति का तिरस्कार करने के स्थान पर इसके अनेक रूपों को अपने वैभव से समृद्ध बनाया है। नगर की दीपावली, होली, नागरिक मेले, नागरिक तीर्थ, नागरिक विवाह आदि इसके उदाहरण हैं। इतनी विशाल और समृद्ध लोक संस्कृति का नागरिक जीवन के साथ इतना घनिष्ठ सामंजस्य कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। इस दृष्टि से हमारी लोक संस्कृति संसार में अद्भुत और अतुलनीय है।

इस लोक संस्कृति की एक अन्य विशेषता बड़ी महत्वपूर्ण है। चित्रकला, संगीत, साहित्य, धर्म आदि जो अभिजात संस्कृति के अंग माने जाते हैं, वे भी इसके जीवन्त रूप में समवेत हो गये हैं। भित्ति-चित्रण, भूमि आलेखन आदि चित्रकला के साधारण रूप इसमें समन्वित हैं। लोक गीतों के रूपों में विपुल काव्य-साहित्य इस लोक संस्कृति में समाविष्ट हो गया है। किन्तु इनके अतिरिक्त गीता, रामायण, आल्हा, ढोला जैसे ग्रंथों का विद्वानों में जितना आदर है, उतने ही वे जनता में भी लोक प्रिय हैं। ग्रामों और नगरों के लोग समान श्रद्धा के अनुसार इनका पाठ और गायन करते हैं। भारतीय आकाशवाणी से लोक साहित्य का जितना प्रसारण होता है, उतना कदाचित् ही किसी अन्य देश की आकाशवाणी से होता होगा। सूर, तुलसी, मीरा आदि की रचनाओं में श्रेष्ठतम साहित्य का जैसा लोक प्रिय रूप मिलता है, वैसा कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। धर्म का भी हमारी लोक संस्कृति में अद्भुत समवाय हुआ है।

अस्तु भारतीय परम्परा में लोक संस्कृति का एक ऐसा श्रेष्ठ और संपन्न रूप विकसित हुआ है कि वह नागरिक जीवन में भी लोक प्रिय बनी रही है। नागरिक जीवन में व्याप्त ऐसी समृद्ध लोक संस्कृति का किसी भी अन्य देश में उदाहरण मिलना कठिन है। संस्कृति का निर्माण और

प्रचार विराट और महान् संकल्प शक्ति के द्वारा होता है। प्राचीन भारत की जिन आर्ष विभूतियों ने अपने विराट और महान् संकल्प के द्वारा इस अद्‌भुत लोक संस्कृति का निर्माण और प्रचार किया, वे हमारे लिये सदैव वन्दनीय रहेंगे।

५. संस्कृति की परम्परा और रक्षा

सस्कृति मनुष्य की सुन्दर और मंगलमयी कृति है। मनुष्य का जीवन आत्मा और प्रकृति का संगम है। प्रकृति की सहज और स्वाभाविक प्रेरणा से मनुष्य जीवन के प्राकृतिक धर्मों का निर्वाह करता है। प्राकृतिक दृष्टि से मनुष्यों और पशुओं का जीवन बहुत कुछ समान है। पशुओं का जीवन पूर्णतः प्राकृतिक है। वे प्रकृति से ऊपर उठकर जीवन में सस्कृति का विकास नहीं कर सके हैं। लाखों वर्षो की अवधि में पशुओं का जीवन प्रकृति की सीमित मर्यादा में ही सीमित रहा है। पीढ़ी दर पीढ़ी पशुओं के जगत में उसी सीमा की आवृत्ति होती रहती है। उनका जीवन आगे नहीं बढ़ता।

इसके विपरीत मनुष्य के जीवन में पिछले कुछ हजार वर्षो मे ही बहुत कुछ अभिवृद्धि हुई है। संस्कृति मनुष्य जीवन की इसी अभिवृद्धि की संज्ञा है। यह वृद्धि प्राकृतिक प्रेरणा के द्वारा नहीं होती, वरन् आत्मा की संकल्प शक्ति के द्वारा होती है। विकासवाद नैसर्गिक विकास को मानता है, किन्तु उसमें भी आत्मिक शक्ति की अन्तर्निहित प्रेरणा हो सकती है। इस प्राकृतिक विकास की गति बहुत मन्द होती है। पिछले हजारों वर्षो में पशु-पक्षियों और वृक्षों के प्राकृतिक जगत में कोई महत्व-पूर्ण विकास नहीं हुआ है। किन्तु मनुष्य समाज के जीवन में बहुत अभि-वृद्धि हुई है।

इस अभिवृद्धि के अनेक रूप हैं। किन्तु सभी रूपो में यह अभिवृद्धि रचनात्मक होती है। मनुष्य की अन्तर्गत आत्मा की संकल्प शक्ति इसकी मूल प्रेरणा है। यह संकल्पशक्ति स्वरूपतः रचनात्मक है। कदाचित् प्रकृति के रूप भी इसी के प्रतिफल हैं। मनुष्य जीवन में प्रकृति के आधार पर आत्मा की संकल्पशक्ति संस्कृति के भव्य रूपों की रचना करती है।

संस्कृति का यह कृतित्व एक ओर मनुष्य की प्रकृति का संस्कार करता है तथा दूसरी ओर कला, धर्म, दर्शन आदि के अमूल्य रत्नों से जीवन का भाण्डार भरता है। संस्कृति का संस्कार प्राकृतिक प्रवृत्तियों का उन्नयन करता है। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि की रचनायें जीवन के क्षितिज पर अनेक ऊर्ध्व और सुन्दर लोकों का उद्‍घाटन करती हैं।

जीवन्त लोक-संस्कृति में प्रकृति के उन्नयन तथा सांस्कृतिक रचना का संगम होता है। लोक-संस्कृति साक्षात् जीवन को सुन्दर बनाती है। प्राकृतिक प्रवृत्तियों का परिष्कार नैतिकता को जन्म देता है, जो मानवीय जीवन का आधार है। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि के ऊर्ध्व लोक मनुष्य को संस्कृति के अनन्त अन्तरिक्ष में विहार का अधिकारी बनाते हैं। जीवन्त लोक-संस्कृति इस अन्तरिक्ष की वह आकाशगंगा है, जो लोक-जीवन की धरती से इन ऊर्ध्व लोकों का सेतु बनाती है। लोक-संस्कृति के क्षितिज पर इन ऊर्ध्व लोकों का आलोक संध्या के इन्द्रधनुषी मेघों की रचना करता है, जिनमें जीवन (जल) के उज्ज्वल कण बहुरंगी बनकर लोक की दिशाओं को आलोकित एवं अलंकृत करते हैं।

संस्कृति मनुष्य की रचना है। संस्कृति की रचनाओं में ही मनुष्य-जीवन की समृद्धि होती है। इस दृष्टि से संस्कृति जीवन की समृद्धि है। कला में रूप की प्रधानता होती है तथा विज्ञान एवं शास्त्रों में तत्व को मुख्य माना जाता है। रूप और तत्व जीवन के अंग हैं। अत· इनका सम्वर्धन भी जीवन को समृद्ध बनाता है। इसी कारण कला, विज्ञान शास्त्र आदि को संस्कृति के अन्तर्गत गिना जाता है। किन्तु इनको ही संस्कृति का सर्वस्व मानना उचित नहीं है। यद्यपि संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले अधिकांश ग्रन्थों में संस्कृति को कला, धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, शास्त्र आदि की सामूहिक संज्ञा माना है। इन ग्रन्थों में संस्कृति के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप की उपेक्षा की गई है, जिसे हमने जीवन्त संस्कृति का नाम दिया है। भारतीय संस्कृति के सदर्भ में इस जीवन्त संस्कृति का विचार करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जीवन्त संस्कृति की परम्परा भारतीय जीवन की अनुपम विभूति है। जीवन्त संस्कृति की ऐसी समृद्ध परम्परा कदाचित् ही संसार के किसी अन्य देश में मिल सकेगी।

जीवन्त संस्कृति को समाज में व्यापक होने के नाते लोक-संस्कृ कहा जा सकता है। फिर भी दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर देखा ज सकता है। लोक-संस्कृति अपनी वर्तमान अवस्था में जीवन्त-संस्कृति कह जा सकती है, किन्तु अनेक समाजों की लोक-संस्कृतियां ऐतिहासिक व.. गई हैं। भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा अत्यन्त प्राचीन हैं और ग्रामीण एवं नागरिक जीवन में समान रूप से व्याप्त होने के साथ-साथ अभी तक समाज की एक जीवन्त परम्परा के रूप में वर्तमान है। यह भारतीय संस्कृति की एक अनुपम विशेपता है।

यह जीवन्त भारतीय संस्कृति रूपों और भावों दोनों दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। लोक-संस्कृति तथा जीवन्त संस्कृति में रूप के अल्प आधार में ही विपुल भाव का समवाय होता है, जब कि कला में रूप की प्रधानता होती है। कला में भी रूप और तत्व (भाव) का समन्वय अभीष्ट होता है, फिर भी रूप ही कला की विशेपता है। रूप ही सौन्दर्य है और कला सौन्दर्य की ही रचना है। सभ्यता और संस्कृति के विकास में कला व्यक्तिगत कृतित्व बन गई है। कलाकृतियों का आस्वादन भी प्राय: व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग किया जाता है। उनकी रचना और उनके आस्वादन में कोई व्यापक लोक-भाव नहीं रहता। कलाकृति में जो कुछ भाव सन्निहित होता हैं, वह उनके स्वरूप में तत्व के रूप में ही समाहित रहता है। लोक-संस्कृति की रचनाएँ व्यक्तिगत नहीं होती। उसके अनेक रूपों की रचना लोक बार-बार करता रहता है। इस व्यापक रचना में विपुल भाव का उदय होता है। उसके आस्वादन में भी लोक-सागर में विपुल भाव के ज्वार उठते हैं। भावोल्लास के इस सागर में लोक-कला की व्यक्तिगत कर्तृत्व से रचित धाराएँ भी निमग्न हो जाती हैं। भारतीक पर्व लोक-संस्कृति के उत्तम उदाहरण हैं। महाभारत, पुराण, आल्हखण्ड, रामचरितमानस, सूर के पद आदि कला की उन धाराओं के उदाहरण हैं, जो इस लोक-संस्कृति के सागर में निमग्न हो जाती हैं।

कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि भी निःसन्देह संस्कृति के अंग हैं। उनका भी अपना स्थान और महत्व है। किन्तु वे सम्पूर्ण जीवन को

लोक-संस्कृति के समान भावनिर्भर नहीं बनाते। कला और साहित्य जीवन के कुछ पक्षों को भावतत्व के रूप में ग्रहण करते हैं। दर्शन जीवन के तत्व का विचार करता है। धर्म भी एकांगी रहता है। इसके विपरीत लोक-संस्कृति साक्षात् जीवन को भावविभोर बनाती है। भारतीय लोक-संस्कृति की यह अद्‌भुत विशेषता है कि वह सम्पूर्ण जीवन को विभिन्न रूपों में समाहित कर उसे विपुल भाव में समृद्ध बनाती है। साक्षात् और सम्पूर्ण जीवन का यह रूपान्तर भारतीय संस्कृति का अद्‌भुत चमत्कार है। सभी रूपों में संस्कृति का प्रयोजन जीवन को समृद्ध बनाना है। प्रकृति जीवन का निम्नतम रूप है। आत्मा समृद्धिशील है, इसीलिए उसको ब्रह्म कहते हैं। आत्मिक संकल्प से रचित संस्कृति का उद्देश्य जीवन को समृद्ध बनाना ही है। अभिजात संस्कृति भी उसमें अपना योग देती है, किन्तु लोक-संस्कृति संस्कृति का वह जीवन्त रूप है, जो साक्षात् जीवन को ही सौन्दर्य और भाव से संवर्धित करती है। लोक-संस्कृति का सबसे अधिक समृद्ध रूप भारतीय लोक-संस्कृति में मिलता है। वह सम्पूर्ण और साक्षात् जीवन को अमित सौन्दर्य और भाव से भरकर आनन्द के स्वर्गिक क्षितिजों की ओर बढ़ाती है।

सभी रूपों में संस्कृति एक परम्परा है। अभिजात कलाओं में नए-नए रूपों की रचना होती है। इस प्रकार उसमें नवीन रचनाओं की परम्परा चलती है। लोक-संस्कृति में नवीन रूपों की रचना नहीं होती, वरन् पुराने ही रूपों की पुनः पुनः रचना और आराधना होती है। पुराने रूपों की यह व्यापक रचना लोक-संस्कृति को अधिक जीवन्त और लोकप्रिय बनाती है। अभिजात कला समाज के लिए एक धरोहर के समान होती है। उसी रूप में वह उसकी रक्षा करता है। लोक-संस्कृति समाज की अपनी सम्पत्ति और विभूति होती है। उसमें उसका अधिक अपनापन और अधिकार होता है। इसीलिए वह अधिक आनन्दप्रद भी होती है। किन्तु व्यक्तिगत न होने के कारण लोक प्रायः इस सामाजिक विभूति की उपेक्षा भी कर देता है। इसीलिए लोक-संस्कृति का प्रायः ह्रास भी होता है।

जिस प्रकार संस्कृति का सबसे अधिक समृद्ध रूप भारतीय परम्परा में मिलता है, उसी प्रकार संस्कृति के ह्रास का सबसे अधिक खेदजनक उदाहरण भी भारत के अतीत और वर्तमान में मिलता है। अत्यन्त प्राचीनकाल में जब आज के सभ्य कहलाने वाले देश बर्बर अवस्था में थे तथा उनकी सभ्यता के इतिहास का आरम्भ भी नहीं हुआ था, मानव सभ्यता के उस आदि काल में भारतवर्ष में एक अत्यन्त समृद्ध संस्कृति की रचना हुई थी। भाषा, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, लोक-संस्कृति आदि सभी रूपों में भारत की यह रचना अत्यन्त सम्पन्न थी। प्राचीन काल की अनेक सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ आततायियों के आक्रमण से नष्ट हो गई। अनेक प्राचीन देशों के इतिहास भी बदल गए। उनमें अनेक देश आक्रमण-कारियों के द्वारा पराजित होकर उनके आवास बन गए तथा अपनी मौलिकता खो बैठे।

भारत का यह सौभाग्य और प्रताप है कि आक्रमणकारियों के अत्याचार और शासन से शताब्दियों तक पीड़ित रहते हुए भी भारत उक्त देशों की भाँति पूर्णतः पराजित और नष्ट नहीं हुआ। उसका इतिहास विक्षुब्ध और विकृत अवश्य हुआ, किन्तु वह पूर्णतः समाप्त अथवा परिवर्तित नहीं हुआ, जैसा कि दूसरे प्राचीन देशों में हुआ। फिर भी भारत के इतिहास और उसकी संस्कृति को पिछली शताब्दियों में बहुत आघात पहुँचा। उसके विकास का क्रम रुक गया तथा उसकी संस्कृति की भी बहुत क्षति हुई। संस्कृति की इस क्षति में आक्रमणकारियों की बर्बरता का बहुत हाथ रहा। किन्तु अपनी स्वाधीनता और संस्कृति की रक्षा में इतना विशाल और महान् देश इतना असमर्थ रहा, यह भी शोचनीय है। जहाँ वेदों में पराक्रमी इन्द्र की पूजा हुई, असुरसंहारक शिव और विष्णु जहाँ लोकप्रिय देवता बने, जहाँ दुष्टों के विनाशन के लिए राम और कृष्ण के अवतार हुए, वहाँ का विशाल लोक-समाज आक्रमणों से सचेत होकर अपनी स्वाधीनता और संस्कृति की रक्षा नहीं कर सका, यह भारत के इतिहास की एक अत्यन्त शोचनीय विडम्बना है।

यह ठीक है कि आक्रमणकारियों के विरुद्ध भारत के वीरों ने बहुत पराक्रम दिखाया तथा अतुलनीय त्याग, बलिदान और साहस के उदाहरण

प्रस्तुत किए। किन्तु इन सबके द्वारा भी भारत की स्वाधीनता की रक्षा नहीं हो सकी। अपने इतिहास की इस विडम्वना के लिए हम परिस्थितियों को भी दोषी नहीं ठहरा सकते। प्राचीन अथवा वर्तमान काल में एक विशाल और शक्तिशाली देश के सामने एक छोटे और दुर्बल देश की पराजय को विवशता कहा जा सकता है। किन्तु भारत के सामने ऐसी विवशता नहीं थी। जिन आक्रमणकारियों ने भारत को पराजित किया, उन्हें हम वर्वर कह सकते हैं, किन्तु वे किसी अधिक संख्या वाले देश के निवासी नहीं थे। जलवायु आदि की दृष्टि से भारतवर्ष संसार का सबसे सुन्दर देश है। अतः भारत में जनसंख्या का बाहुल्य अन्य देशों की तुलना में सदा ही रहा। धर्म और संस्कृति के रूप में एकता के आधार भी प्राचीनकाल से ही विद्यमान थे। इतने विशाल जनसमूह को एकता के इतने आधार चीन के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश को उपलब्ध नहीं रहे। किन्तु चीन से हमारा ऐसा विरोध नहीं रहा। हिमालय भी अब तक चीन से हमारा रक्षक बना रहा। पश्चिम की दिशा से जिन आक्रमणकारियों ने स्थल और जलमार्ग से आकर हमें बार-बार पराजित किया, वे किसी विशाल देश के निवासी नहीं थे। फिर भी उन्होंने हमें पराजित और शासित किया। पराधीन शासन में हमारी स्वाधीनता के साथ-साथ हमारी संस्कृति की भी बहुत क्षति हुई। आज स्वाधीन होकर हमें अपने इतिहास की इन विडम्बनाओं का विश्लेषण करना होगा। साथ ही यह भी विचार करना होगा कि आज स्वाधीन होकर भी हम अपनी समृद्ध और मूल्यवान संस्कृति की ओर से क्यों विमुख हो रहे हैं।

अपने इतिहास की विडम्वना और भविष्य की आशंकाओं का मूल हमें आक्रमणकारियों की शक्ति में नहीं, वरन् अपने समाज और समाज के नेतृत्व की दुर्बलताओं में खोजना होगा। इसके साथ-साथ हमें समाज के जागरण और संस्कृति के संरक्षण के उपायों का अनुसंधान भी करना होगा। जो आक्रमणकारी भारत को पराजित और शासित करते रहे, वे किसी बड़े देश के वासी नहीं थे। प्राचीनकाल में पश्चिम में कोई

बड़े देश नहीं थे। आज भी अफगानिस्तान से लेकर ब्रिटेन तक कोई बड़ा देश नहीं है। पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारत में अधिक बड़े राज्य थे। चन्द्रगुप्त, अशोक, हर्षवर्धन आदि के राज्य जितने विशाल थे, उतने विशाल राज्य पश्चिम में पहले नहीं रहे और अब भी नहीं हैं।

छोटे देशों के शासकों ने किस प्रकार इस विशाल देश को पद-दलित और पराजित किया, यह हमारे इतिहास का एक कठिन प्रश्न है, जिसको हमारे इतिहासकारों और नेताओं ने समुचित ध्यान नहीं दिया। सामान्य रूप से यही कहा जाता है कि भारतीय समाज में संगठन और एकता का अभाव था। संगठन और एकता ही शक्ति के सूत्र हैं। आक्रमणकारियों ने एक-एक राजा को अलग-अलग पराजित कर सम्पूर्ण भारत को अपने अधिकार में कर लिया। यह भारत के इतिहास की पर्याप्त व्याख्या तो नहीं कही जा सकती, फिर भी इस संदर्भ में यह सोचना होगा कि धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत कुछ एकता होते हुए भी ऐसा शक्तिशाली संगठन क्यों नहीं हो सका, जिससे आक्रमण-कारियों को पराजित कर स्वाधीनता और संस्कृति की रक्षा की जा सकती। इसके अतिरिक्त यह भी विचार करना होगा कि बड़े राज्य और अधिक सेना वाले कोई भी राजा अकेले ही आक्रमणकारियों को पराजित क्यों नहीं कर सके। एक बात और भी विचारणीय है कि मुगल-साम्राज्य से पहले और उत्तर मुगल काल के दुर्बल विदेशी शासकों के प्रति भी भारत में विद्रोह क्यों नहीं जग सका।

यह ठीक है कि एकता और संगठन ही शक्ति के सूत्र होते हैं। भारत में इस सूत्र का संवर्धन क्यों नहीं हो सका। एकता और संगठन के सूत्र का संधान और संवर्धन नेता करते हैं। जहाँ कहीं भी यह सम्भव हुआ है, वहाँ यह नेताओं की प्रेरणा से ही हुआ है। नेता राजनीतिक ही नहीं होते, वरन् कवि, लेखक, विचारक, समाजसेवक आदि भी नेता होते हैं। किसी लक्ष्य की ओर ले जाने वाले को नेता कहते हैं। जब नेता लक्ष्य को सर्वोपरि मानकर और अपने को उसका प्रतिनिधि मानकर समाज को प्रेरित करता है, तो समाज में एकता और संगठन के द्वारा

शक्ति जागरित होती है। इस प्रसंग में दो भ्रान्तियाँ हो सकती हैं। इन भ्रान्तियों ने ही भारत के इतिहास को भटकाया। एक भ्रान्ति तो लक्ष्य की प्रेरणा के सम्बन्ध में हो सकती है कि लक्ष्य समाज को वास्तव में प्रेरित करने योग्य है अथवा नहीं तथा वास्तव में प्रेरित करता है अथवा नहीं। दूसरी भ्रान्ति प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में हो सकती है कि नेता अपने को वास्तव में लक्ष्य का प्रतिनिधि बना सका है अथवा नहीं। अभिप्राय यह है कि नेता लक्ष्य को साध्य मानकर अपने को साधन मानता है अथवा स्वयं ही साध्य बन बैठता है।

इन भ्रान्तियों का निवारण विवाद से नहीं हो सकता। इनका निवारण प्रत्यक्ष परिणाम ही कर सकते हैं। लक्ष्य को सर्वोपरि मानकर उससे प्रेरित होने वाले समाज में निश्चित रूप से एकता और शक्ति जागरित होती है। दूसरी भ्रान्ति का निवारण और भी अधिक सरल है। जहाँ नेता लक्ष्य के प्रतिनिधि होते हैं, वहाँ लक्ष्य से प्रेरित संगठित और सशक्त समाज लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। वहाँ एकता की शक्ति से सुरक्षा, सफलता और प्रगति सम्भव होती है। किन्तु जहाँ नेता लक्ष्य को साध्य नहीं बना पाते और स्वयं ही साध्य बन जाते हैं, वहाँ नेताओं की पूजा होने लगती है और समाज पतन की ओर बढ़ने लगता है। यह विफल नेतृत्व का रूप है। भारत में ऐसा ही विफल नेतृत्व रहा है और उसका कारण यही है कि भारत के नेता प्रेरणा के योग्य किसी लक्ष्य को साध्य बनाकर उसके प्रतिनिधि नही बन सके। वे अपने को साध्य बना कर स्वयं ही एक पराजित समाज की पूजा के पात्र बन गये।

धार्मिक नेता भी धर्म को एकता का अवलम्ब नहीं बना सके, वरन् इसके विपरीत वे निरन्तर नए धर्म-सम्प्रदाय बनाते रहे और वे इन सम्प्रदायों के प्रवर्तक के रूप में पूजित रहे। धार्मिक क्षेत्र में तो 'बहवो यत्र नेतारः' की कहावत चरितार्थ होती रही। सन्तों की जैसी परम्परा भारत में रही, वैसी कदाचित् ही किसी देश में रही होगी। मध्यकालीन भारत में सन्तों का ही नेतृत्व प्रमुख रहा। इसकी छाया हमारे आधुनिक राजनैतिक नेतृत्व पर भी रही। महात्मा गान्धी का नेतृत्व इसी छाया में

पलने वाला निष्फल वृक्ष था । आज उस नेतृत्व का कोई भी फल ढूंढ़े भी नहीं मिल सकेगा ।

संस्कृति के संदर्भ में यह कहना होगा कि संस्कृति की महिमा और एकता को हमारे नेताओं ने नेतृत्व का आधार नहीं बनाया । सन्त और आचार्य धार्मिक एवं दार्शनिक थे । वे संस्कृति की उपेक्षा करते रहे तथा विश्वजनीन मानवीय भावनाओं के संदेश देते रहे । ये संदेश राष्ट्र और संस्कृति की रक्षा में सहायक नहीं हो सकते । राष्ट्रीय होने के नाते संस्कृति रक्षा की प्रेरणा बन सकती है, यद्यपि वह स्वयं भी रक्षणीय है । सन्तों और आचार्यों की भाँति हमारे राजनैतिक नेता भी संस्कृति का तिरस्कार करते रहे । भारत की जिस महान और विपुल संस्कृति का परिचय हमने पिछले अध्यायों में दिया है, उसके प्रति श्रद्धा का भाव हमारे धार्मिक, दार्शनिक और राजनैतिक नेताओं के विचारों में नहीं मिल सकेगा ।

स्वाधीनता के बाद राजनैतिक और आर्थिक स्वार्थ इतने प्रबल हो गए कि संस्कृति का कोई महत्व नहीं रहा । वह श्रद्धा की आस्पद न रह कर, उपचार की वस्तु रह गई । समाज के प्रमुख जनों की राजनैतिकता और आर्थिकता का प्रभाव जनता में बढ़ रहा है । जो जनता अब तक श्रद्धापूर्वक संस्कृति की रक्षा करती रही, वह भी अब उससे विमुख हो रही है । शिक्षा और समाज में पश्चिमी प्रभाव बढ़ रहा है । संस्कृति की परम्परा क्षीण हो रही है । अपनी संस्कृति को खोकर हमारा जीवन कितना शून्य हो जाएगा, इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते । संस्कृति जीवन की समृद्धि है । किन्तु शिक्षा और परम्परा के द्वारा सुरक्षित रह कर ही वह हमारे जीवन को सुन्दर बना सकती है ।

——ऽऽ——

अध्याय–२

प्रतीकों का रहस्य

अध्याय—२

प्रतीकों का रहस्य

१. संस्कृति का रूप-सौन्दर्य

प्रकृति मनुष्य के जीवन की देह है। प्रकृति के विधान में जीवन की प्रेरणाएँ और गतियाँ सहज वृत्तियों के रूप में संजोयी हुई हैं। प्रकृति की यह देह एक सहज शक्ति से प्राणवान् है। जीवन की सत्ता और क्रिया इसी शक्ति से स्थिति और गति पाती है। प्रकृति की शक्ति का सौन्दर्य भी अनेक मनोहर आकारों में रूपवान् है। इन आकारों का प्रकृति की व्यवस्था से सम्बन्ध और प्रकृति की क्रियाओं में इनका उपयोग होते हुए भी इन आकारों और रूपों में प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य का विधान भी प्रकट हुआ है। वृक्षों के विन्यास, पत्रों और पुष्पों की छटा, मनुष्य के अंग-विन्यास और मनुष्य के रूप आदि में प्रकृति का यह सौन्दर्य सजीव और साकार हुआ है। प्रकृति का यह निसर्ग रूप उसकी व्यवस्था और गति में अभिन्न रूप से समाहित है। इस रूप के अणु-अणु का जीवन में उपयोग होते हुए भी इसकी समग्रता में एक अतिरिक्त सौन्दर्य का आभास होता है। मनुष्य, और विशेषतः स्त्री, की देह में प्रकृति के सौन्दर्य का रूप सबसे प्रचुर और प्रखर रूप में प्रकाशित हुआ है। इसीलिए कालिदास जैसे कवियों ने शकुन्तला आदि को सौन्दर्य की आदि सृष्टि माना है।

प्रकृति के रूप में सौन्दर्य की निसर्ग अभिव्यक्ति के अनुरूप मनुष्य ने भी अपने जीवन की व्यवस्था और उसके व्यवहार में सौन्दर्य का विधान किया है। मनुष्य का यह विधान ही 'संस्कृति' है। मनुष्य का कर्तृत्व इस संस्कृति का गौरव है। मनुष्य का सौन्दर्य विधान की अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र है। मनुष्य के कर्तृत्व की स्वाधीनता इस स्वतन्त्रता का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष इस सौन्दर्य के रूप की उस तत्व से स्वतन्त्रता है, जिसे हम इस रूप की योजना का उपकरण कह सकते हैं। सौन्दर्य के रूप का

यह तत्व प्राकृतिक है, क्योंकि मनुष्य इसे अपने कर्तृत्व से उत्पन्न नहीं करता वरन् उसे यह निसर्ग से प्राप्त होता है। इस तत्व के सम्बन्ध में मनुष्य का कर्तृत्व केवल संचय और सम्मिश्रण तक सीमित है। एक दृष्टि से मनुष्यों के विन्यासों का रूप भी प्राकृतिक तत्वों से अभिन्न होता है। रूप और तत्व स्वभाव से ही अभिन्न हैं। मनुष्य की कृतियों और व्यवस्थाओं में तत्व के विन्यास में जो रूप का सन्निधान रहता है, उसमें प्रकृति के रूप के समान कुछ उपयोगिता का अंश भी मिल सकता है। किन्तु इसके अतिरिक्त तत्व से अभिन्न होते हुए भी मनुष्य की रचनाओं में रूप का ऐसा अतिरेक देखने में आता है, जो आवश्यकता तथा उपयोग की दृष्टि से तत्वगत व्यवस्था और प्रक्रिया के साथ बँधा हुआ नहीं है। रूप का यह अतिरेक भी मनुष्य के रूप-विधान की स्वतंत्रता का द्योतक है। रूप के इस अतिरेक को हम 'अलङ्कार' कह सकते हैं। यह मनुष्य की रचना को अधिक पूर्ण और सुन्दर बनाता है, इसी अर्थ में यह अलं-कार है। अलंकार का यह भी भाव है कि रूप का यह अतिरेक तत्व की व्यवस्था और प्रक्रिया से प्राकृतिक उपयोगिता की दृष्टि से बँधा हुआ नहीं है। रूप के इस अतिशय के कारण अलङ्कार को सौन्दर्य भी कह सकते हैं।

इस रूप के विधान में और विशेषतः रूप के अतिशय में मनुष्य के कर्तृत्व की स्वतन्त्रता अधिक है। इसीलिये संस्कृति की रचनाओं में इस रूप की ही प्रधानता है। प्रकृति के तत्व इस रूप के आधार अवश्य हैं। इन आधारों से रूप का सामंजस्य भी अपेक्षित है। किन्तु संस्कृति का सौन्दर्य प्राकृतिक आधारों के वृक्षों में खिलने वाले रूप के पुष्पों में ही अधिक है। भौतिक उपादानों के अतिरिक्त मनुष्य के व्यवहार, आचार आदि में भी रूप का यह अतिशय प्रकाशित होता है। इससे जीवन के प्राकृतिक व्यवहार और धर्म एक अपूर्व सौन्दर्य से अलंकृत होकर मनोहर बनते हैं। प्राकृतिक उपादानों और व्यवहारों में सौन्दर्य के इस विधान को ही 'कला' कहते हैं। इसीलिए कला और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। लोक-कला में तो सौन्दर्य के रूप का सामान्य जीवन से पूर्ण समवाय है। लोक-कला जीवन का अङ्ग नहीं, वरन् जीवन की समग्रता

के साथ एकाकार होती है। अभिजात कला जीवन की समग्रता में समवेत न होकर उसका एक अङ्ग होती है। वह साधारण जीवन से एकाकार नहीं होती, वरन् साधना में अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व बना लेती है। कला सौन्दर्य का विधान है और संस्कृति में भी सौन्दर्य की प्रधानता होती है। अतः अभिजात कला को भी संस्कृति से अलग नहीं किया जा सकता। फिर भी अभिजात कला की साधना एकांगी बन जाती है। कला की यह साधना शरीर के किसी एक अङ्ग के विशेष प्रसाधन के समान है। इसके विपरीत लोक-कला जीवन की समग्रता में समवेत होने के कारण संस्कृति का प्राण है। उसमें प्राणों की जैसी स्फूर्ति मिलती है वैसी अभिजात कला में दुर्लभ है। इसीलिए जहाँ साधना बनकर एक ओर कला के रूप और सौन्दर्य की जटिलताओं का विकास हुआ है, वहाँ दूसरी ओर कला के प्रति लोक की रुचि कम होती गई है।

जीवन के साथ सौन्दर्य के इस समवाय में संस्कृति का एक दूसरा तत्व प्रकाशित होता है। प्रकृति के उपादान और सौन्दर्य के रूप से पृथक् करने के लिये हम इसे सौन्दर्य की आत्मा कह सकते हैं। सौन्दर्य का रूप तत्व के विन्यास का आकार है, जो तत्व-विन्यास की योजना में समवेत रहता है। उपयोगिता के बन्धन से मुक्त इस आकारगत रूप का अतिशय सौन्दर्य का विधान करता है। प्रकृति के सौन्दर्य में भी रूप की यह रचना पत्रों, पुष्पों और फलों तथा मनुष्य के शरीर के अङ्गों की भाँति एक दिव्य आलोक से प्रकाशित होती है। यह आलोक सौन्दर्य की आत्मा है, जो स्वयं प्रकाशित होकर सौन्दर्य के रूप को भी प्रकाशित करती है। मनुष्य की कृतियों और व्यवहारों में भी इस आत्मा का रस और आलोक ही संस्कृति को सुन्दर एवं मधुर बनाता है। प्रकृति के निसर्ग सौन्दर्य में भी इस आत्मा का प्रकाश अलौकिक प्रतीत होता है। किन्तु मनुष्य की रचनाओं और उसके व्यवहारों में सौन्दर्य की जो आत्मा प्रकाशित होती है, वह और भी अधिक अलौकिक है। प्रकृति के उपादान-तत्व और उपयोगिता की दृष्टि से ही सौन्दर्य का रूप अतिरेकपूर्ण नहीं है, और भी अनेक दृष्टि से इसके लक्षण प्रकृति से भिन्न हैं। प्रकृति

अनिवार्य और स्वार्थमयी है। निर्बाध नियमों में संचालित होने वाली उसकी प्रक्रियायें प्रत्येक पिण्ड और बिन्दु में सीमित रहती हैं। इन प्रक्रियाओं का फल पिण्ड के लिये ही होता है। एक पिण्ड दूसरे पिण्ड की प्रक्रिया अथवा उसके फल में भाग नहीं ले सकता। इसके विपरीत सौन्दर्य की आत्मा मनुष्य की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है। वह किन्हीं अनिवार्य नियमों से संचालित नही होती। स्वार्थ की सीमा उस आत्मा का लक्षण नहीं है। स्वार्थ के अतिक्रमण में ही उस आत्मा का रूप प्रकाशित होता है। जब एक से अधिक मनुष्यों के अस्तित्व और भाव अपने स्वार्थ की परिधि से निकलकर समभाव से एक दूसरे का आलिंगन करते हैं, तभी संस्कृति के सौन्दर्य की आत्मा प्रकाशित होती है। इसे हम 'समात्मभाव' कह सकते हैं। इसी समात्मभाव में कला और संस्कृति के सौन्दर्य का मर्म निहित है। समात्मभाव के आलोक में ही सौन्दर्य की रचना के रूप प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार प्रकृति के उपादान रूप के आधार बन सकते हैं, उसी प्रकार प्रकृति के उपादान जीवन के व्यवहार और उनमें समवेत रूप तथा उनमें छलकने वाले रूप के अतिरेक समात्म-भाव के प्रकाश के निमित्त बन सकते हैं। इस निमित्त भाव में ही प्रकृति के उपकरण संस्कृति के सौन्दर्य से अंचित और उसमें अन्वित होते हैं।

किन्तु कला और संस्कृति का मूल स्वरूप रूप का वह अतिशय है, जो उपयोगिता से स्वतन्त्र होता है। यदि रूप के इस अतिशय को बाह्य रूप मानें तो समात्मभाव को संस्कृति के सौन्दर्य की आत्मा अथवा आन्तरिक रूप मानना होगा। 'सामान्यता' रूप का एक लक्षण है। वह इस आन्तरिक रूप में भी होती है। अनेकों में अनुगति किसी रूप को सामान्य बनाती है। बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार से रूप ही संस्कृति के सौन्दर्य का रहस्य है। किन्हीं भी उपकरणों में समवेत होकर वह रूप सौन्दर्य को आकार और संस्कृति को जीवन देता है। विभिन्न देशों और जातियों में विभिन्न रूपों में संस्कृति का सौन्दर्य साकार होता है। संस्कृति के ये रूप देशों और जातियों की विशेषतायें हैं। प्रकृति के उपादानों और व्यवहारों की दृष्टि से देशों और जातियों में बहुत समानता होते हुए भी इन रूपों की विशेषताओं में भिन्नता है। यह भिन्नता संस्कृतियों और

जातियों को एक निरालापन प्रदान करती है। किन्तु इन विशेषताओं का भेद विरोध उत्पन्न नहीं करता। संस्कृति का क्षेत्र विरोध का क्षेत्र नहीं है। विरोध प्रकृति के क्षेत्र में होता है, क्योंकि विरोध स्वार्थो का संघर्ष है। रूप का अतिशय विरोध का विषय नहीं बनता। मनुष्य में कृतित्व की स्वतन्त्रता के साथ-साथ सौन्दर्य का रूप आत्मा के उस स्वभाव में उदित होता है, जिसका सामंजस्य विरोध को निगीर्ण कर लेता है। इस समभाव में स्वार्थों का सामंजस्य, समन्वय और एकीकरण होता है। जिन रूपों में सौन्दर्य प्रकाशित होता है, वे प्रकृति से स्वतन्त्र और उसके ऊपर (अतिशय) होने के कारण भी विरोध के विषय नहीं बनते। इसी कारण इन रूपों की अनेकता भी विरोध और संघर्ष उत्पन्न नहीं करती, इसके विपरीत वह जीवन को सौन्दर्य और आनन्द से परिपूर्ण बनाती है। इन रूपों की विशेषता एवं अनेकता संस्कृति और सौन्दर्य की सम्पन्नता की बाधक नहीं वरन् साधक है।

संस्कृतियों की समानता को महत्व देने वालों को यह समझने की जरूरत है कि महत्वपूर्ण होते हुए भी यह समानता संस्कृति का सर्वस्व नहीं है। रूप की समानता तो सांस्कृतिक परम्परा को एकता प्रदान करती है। अतः विभिन्न देशों की संस्कृतियों में यह रूप की समानता दुर्लभ है। रूपों की अनेकता और विशेषता ही विभिन्न संस्कृतियों को स्वरूप देती है और विश्व के सांस्कृतिक जीवन को सम्पन्न बनाती है। विभिन्न संस्कृतियों में जो समानता मिल सकती है, वह जीवन के सिद्धान्तों और मूल्यों पर आश्रित होती है। इन सिद्धान्तों और मूल्यों में भी मत-भेद ही दर्शन का इतिहास है। किन्तु दर्शन के मत-भेद विद्वानों के गंभीर विचार तक ही अधिक सीमित रहते हैं। दर्शन के बहुत कम सिद्धान्त जीवन और संस्कृति में साकार हो पाते हैं। विभिन्न देशों की संस्कृतियों में जीवन के जो मूल्य साकार हुए हैं, उनमें दर्शन के सिद्धान्तों की अपेक्षा मत-भेद कम और समानता अधिक है। दर्शन के सिद्धान्तों का आधार विचार है, जिसमें मत-भेद की स्वतन्त्रता अधिक होती है। मूल्यों का आधार मनुष्य की प्रकृति और उसकी आत्मा की सामान्य आकांक्षायें हैं। ये आकांक्षायें

प्राय: समान होती हैं। प्रकृति का अवलम्ब स्थूल शरीर है। अत: प्राकृतिक मूल्यों में सबसे अधिक समानता है। मन और आत्मा में भी बुद्धि एवं विचार की अपेक्षा अधिक समानता है। अत: मानसिक और आध्यात्मिक मूल्यों में भी विभिन्न समाजों में बहुत समानता मिलती है। विभिन्न समाजों की व्यवस्था में और विभिन्न संस्कृतियों के रूपों में ये मूल्य विभिन्न रूपों में साकार हुए हैं। दर्शन के सिद्धान्तों का मतभेद भी इन सामाजिक व्यवस्थाओं और सांस्कृतिक रूपों को विभिन्नता और विशेषता देने के लिए उत्तरदायी है।

किन्तु सस्कृति के रूपों की विशेषतायें विचारों की अनेकता की तुलना में अधिक विपुल और अधिक जीवन्त होती हैं। समान सांस्कृतिक रूपों की आराधना करने वाले समाज के अन्तर्गत विभिन्न विचारों और दार्शनिक मान्यताओं के लोग हो सकते हैं तथा विभिन्न सांस्कृतिक रूपों की आराधना करने वाले व्यक्ति और समाज समान विचारों और सिद्धान्तों को मान सकते हैं। सबसे अधिक समानता तो प्रकृति के क्षेत्र में होती है, क्योंकि वह स्थूल शरीर की समान प्रवृत्तियों पर आश्रित है। प्राकृतिक मूल्य सर्वत्र समान हैं। वे दर्शन और संस्कृति के आधार भी हैं। जीवन के प्राकृतिक उपकरणों की व्यवस्था में विचार को इतनी अधिक स्वतन्त्रता नहीं है, जितनी कि शुद्ध विचार और कल्पना के क्षेत्र में सम्भव है। प्रकृति की व्यवस्था में बहुत कम विकल्प सम्भव होते हैं। इन विकल्पों के विरोध भी प्राकृतिक संघर्षों और चेतना की प्रेरणा के द्वारा एकता एवं समन्वय की ओर अभिमुख होते हैं, जैसे कि आज विश्व की आर्थिक व्यवस्था समाजवाद की ओर बढ़ रही है तथा राजनीतिक व्यवस्था में प्रजातन्त्र बढ़ रहा है। इन व्यवस्थाओं के पीछे जो दार्शनिक सिद्धान्त हैं, उनका विकास भी एकता और समन्वय की ओर हो रहा है, क्योंकि ये व्यवस्थायें सिद्धान्तों पर आश्रित होती हैं। किन्तु शुद्ध विचार और कल्पना के क्षेत्र में अनेकता और विरोध से जीवन में कोई कठिनाई पैदा नहीं होती। जब तक दार्शनिक सिद्धान्त और मान्यतायें प्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित नहीं करते, तब तक उनकी विविधता और उनके विरोध

आपत्तिजनक नहीं होते, वरन् इनमें ही मनुष्य की बुद्धि का वैभव प्रकट होता है। शुद्ध विचार और कल्पना के क्षेत्र के समान सांस्कृतिक रूपों के क्षेत्र में भी अनेकता ओर विविधता के लिए अनन्त अवकाश है। सांस्कृतिक रूपों की अनेकता शुद्ध विचारों की अनेकता से भी कम आपत्ति-जनक है। विचारों में अहंकार की छाया रहती है। अत: उनके मतभेद की निष्फलता को न समझने के कारण विचारों का विरोध अहंकारों के संघर्ष का कारण बन सकता है। किन्तु संस्कृति के रूप विचारों की भाँति व्यक्तिगत नहीं होते। अत: उनमें अहंकार की छाया नहीं रहती। इसके विपरीत वे सामाजिक समभाव में उदित होते हैं, जिसे हमने 'समात्मभाव' कहा है। इस समभाव में विरोध के स्थान पर सामंजस्य रहता है। यह समभाव और सामंजस्य ही संस्कृति के सौन्दर्य का रहस्य है। संस्कृति के रूपों को लेकर इतिहास में कभी संघर्ष नहीं हुआ। संघर्ष का वास्तविक कारण सदा प्राकृतिक प्रवृत्तियों की महत्वाकांक्षा रही है। संस्कृति के रूपों की अनेकता और विविधता जीवन के सौन्दर्य की समृद्धि है। इन रूपों की विशेषता एक देश या समूह को ऐसी एकता प्रदान करती है, जो समूह के अन्तर्गत तथा दूसरे समूहों के साथ विरोध को घटाती है। प्रकृति की उपयोगिता की तुलना में अतिशय और अलं-कार होने के कारण संस्कृति के ये विशेष रूप समूहों के अन्तर्गत एक अपूर्व आत्मीयता के निमित्त बनते हैं। विशेष रूपों के सदस्य एक अद्भुत आत्मीयता का अनुभव करते है। प्राकृतिक स्वार्थों की एकता संगठन और केन्द्रीयकरण के द्वारा विश्व का संकट बन रही है। किन्तु सांस्कृतिक रूपों की एकता अपनी विशेषता और विविधता के द्वारा सामंजस्य और शान्ति का कारण बन सकती है। रूपों के अतिशय और अलंकार का सौन्दर्य अपनी विशेषता, विचित्रता और विविधता से लोक के जीवन को सुन्दर और समृद्ध बना सकता है।

२. रूप के तीन प्रकार

संस्कृति के ये रूप तीन प्रकार के होते हैं। इनमें एक का सम्बन्ध प्राकृतिक उपकरणों से अधिक घनिष्ठ होता है। यह प्राकृतिक रचनाओं

की निर्मितियों में आकार और रूप के अतिशय तथा अलंकार के रूप में रहता है। यदि उस प्राकृतिक आधार को जिसमें यह रूप विद्यमान रहता है, हम 'व्यवस्था' का नाम दें तो भी संस्कृति का यह रूप दर्शन के उन सिद्धान्तों से भिन्न है जो सामाजिक व्यवस्था में साकार होते हैं। संस्कृति के इस रूप में संघर्ष के लिए बहुत कम अवकाश होता है। कुछ महलों और मन्दिरों को छोड़कर इन रचनाओं के रूप सामाजिक आपत्ति के विषय नहीं होते। इसके विपरीत जिन व्यवस्थाओं के रूपों में दर्शन के सिद्धान्त साकार होते हैं, उनमें संघर्ष के बीज रहते हैं। इसी संघर्ष से इतिहास बनता है। सांस्कृतिक रचना के ये रूप जो भौतिक व्यवस्था पर आश्रित होते हैं, प्रायः व्यक्तिगत होते हैं। किन्तु व्यक्तिगत होते हुए भी ये संघर्ष के कारण नहीं बनते। संघर्ष का क्षेत्र प्रकृति है। प्राकृतिक उपकरणों पर आश्रित संस्कृति के रूपों का अतिशय संघर्ष का कारण नहीं बनता। व्यक्तिगत भाव में अहंकार आने पर भी रचनाओं के ये रूप संघर्ष उत्पन्न नहीं करते, यद्यपि इन रचनाओं का सांस्कृतिक मूल्य कम हो जाता है। अहंकार भी प्रकृति का एक क्षेत्र है। समात्मभाव के सामंजस्यपूर्ण क्षेत्र में ही रचनाओं के रूपों का सांस्कृतिक सौन्दर्य प्रकाशित होता है। अधिकार और रचना में व्यक्तिगत होने पर भी इन रूपों का 'भाव' व्यक्तिगत नहीं रहता। समात्मभाव के निमित्त बनने पर ही इनमें संस्कृति का सौन्दर्य खिलता है। इसीलिये आदिम समाज और लोक-कला में इस रूपों की रचना भी सामूहिक क्रिया के द्वारा समात्मभाव की स्थिति में होती थी। अभिजात कलाओं में इनकी रचना व्यक्तिगत साधना का विषय बन गई। कला की इस साधना में रूपों की जटिलता का विकास हुआ। किन्तु सौन्दर्य का भाव मन्द होता गया, क्योंकि उसमें समात्मभाव की सम्भावना कम होती गयी। व्यक्तिगत अधिकार और अहंकार का भाव भवन, वस्त्र आदि जिन वस्तुओं में अधिक होता है, उनमें समात्मभाव का सौन्दर्य भी मन्द रहता है। इसीलिए चित्रकला, मूर्तिकला आदि में कला और संस्कृति का विकास अधिक माना जाता है। इसमें समात्मभाव के सौन्दर्य की सम्भावना अधिक रहती है।

भवन, मूर्ति, चित्र आदि स्थूल उपादानों में साकार होने वाले रूप के अतिरिक्त प्राकृतिक आश्रय पर अवलम्बित एक और रूप होता है। इस दूसरे का आश्रय और आकार दोनों ही अधिक सूक्ष्म होते हैं। प्राकृतिक उपादान का रूप होने की अपेक्षा इसे प्राकृतिक क्रियाओं का रूप कहना अधिक उचित है। नृत्य, गान, नाटक आदि कलायें इसी कोटि के अन्तर्गत हैं। स्थूल उपादान अधिक स्थिर होते हैं। अत: उनके रूप भी अधिक स्थायी होते हैं। किन्तु स्थायी होने के कारण परिचय से उनकी नवीनता नष्ट हो जाती है और उनका सौन्दर्य कम हो जाता हैं। इसके विपरीत नृत्य, गान आदि में शब्द और क्रिया के अस्थिर उपादानों में सौन्दर्य का नश्वर रूप नित्य नवीन रहता है और उसकी नवीनता नये-नये आकर्षण का सूत्र बनती है। इसीलिये साधना बन जाने पर भी इन कलाओं में लोक की रुचि अधिक बनी रही है। नर्तन और गायन की क्रियाओं में भी सौन्दर्य का स्वरूप प्राकृतिक क्रियाओं के रूप के अतिशय में ही रहता हैं। रूप के इस अतिशय की समृद्धि इन रूपों की अनेकता में प्रकट होती है। संगीत के रागों और नृत्य की भंगिमाओं में इन रूपों की समृद्धि इतनी अधिक है कि प्राकृतिक माध्यम का आधार तो एक निमित्त मात्र रह जाता है और रूप की विविधता ही सौन्दर्य का मुख्य स्वरूप रह जाती है। प्राकृतिक उपकरणों की उपयोगिता और उनके कारण उत्पन्न होने वाले संघर्षों से अधिक मुक्त होने के कारण नृत्य और संगीत के रूपों का सम्पन्न सौन्दर्य संस्कृति की अधिक मूल्यवान और महत्वपूर्ण निधि बन गया है। स्थूल भौतिक उपादानों की अपेक्षा, नर्तन और गायन की क्रियाओं में शब्द और गति के माध्यम की विशेषता के कारण समात्मभाव की संभावना अधिक रहती है। इसीलिए ये कलायें लोक-संस्कृति का प्रधान आधार रहेंगी। अनेक व्यक्ति मिलकर एक साथ नाच और गा सकते हैं। सामूहिक नृत्य और गान लोक-कला की विशिष्ट शैली है। पर्वतीय और ग्रामीण-समाजों में समात्मभाव से सम्पन्न लोक-कला का रूप अब भी विद्यमान है, यद्यपि सभ्यता के प्रभाव से वह भी कम होता जा रहा है।

संस्कृति का तीसरा रूप उक्त दोनों की अपेक्षा प्राकृतिक उपादानों से अधिक मुक्त है। कोई भी रूप शून्य में स्थित नहीं होता। प्राकृतिक आधार के विना रूप की स्थिति संभव नहीं है। किन्तु सांस्कृतिक रूप की स्वतन्त्रता प्राकृतिक आधार के साथ उसके सम्बन्ध पर निर्भर करती है। इस तीसरे रूप में रूप और भाव का अतिशय सबसे अधिक मात्रा में वर्तमान होता है। प्राकृतिक उपयोगिता से इसका सम्बन्ध सबसे कम होता है। प्राकृतिक उपादानों और क्रियाओं में अन्वित होने के कारण सौन्दर्य का यह रूप प्रकृति और संस्कृति का एक सहज समन्वय स्थापित करता है। उपयोगिता से पूर्णत: मुक्त होने के कारण इनमें अतिशय अधिक होता है। फिर भी जीवन के मूल्यों और दार्शनिक तत्वों के संकेत इनमें निहित रहते हैं। इसलिए ये रूप प्रकृति और संस्कृति के समन्वय की दृढ़ ग्रन्थि वन जाते हैं। इन रूपों का प्रकट और प्राकृतिक आकार अपने आप में अधिक महत्व नहीं रखता। इन रूपों की महिमा जीवन के उन मूल्यों और तत्वों में है जिनकी ये व्यंजना करते हैं। इस व्यंजना के कारण इन रूपों को 'प्रतीक' कहना अधिक उचित है। प्रतीक स्थानापन्न रूप को कहते हैं। जो रूप अपने प्रकट और प्राकृतिक आकार में किसी विशेप अर्थ अथवा भाव का द्योतक नहीं होता, किन्तु सम्वन्ध और परम्परा के वल से किसी विशेप अर्थ और भाव की व्यंजना करता है, वह 'प्रतीक' कहलाता है। वर्णमाला के अक्षर और भाषा के शव्द एक प्रकार के प्रतीक हैं। परम्परा की मान्यता के द्वारा ही अक्षर और शव्द विशेप ध्वनियों और अर्थों का वोध कराते हैं। इसी प्रकार परम्परा की शक्ति से ही संस्कृति के प्रतीक भी सांस्कृतिक भावों की सजीव और निरन्तर व्यंजना के वाहक वनते हैं।

३. प्रतीक और व्यंजना

ये प्रतीकात्मक रूप संस्कृति की अमूल्य विभूति हैं। ये प्रतीकात्मक रूप प्राकृतिक उपादानों की निर्मित और क्रियाओं के आकार दोनों ही रूपों में मिलते हैं। एक प्रकार से प्रतीकों में दोनों प्रकार के पूर्व रूपों का समाहार है। किन्तु इस समाहार के साथ-साथ व्यंजना की विपुलता,

भाव के अतिशय और स्वरूप की स्वतन्त्रता में इन प्रतीकों की महिमा अधिक है। पूर्व के दोनों रूपों में लक्षणा अधिक होती है और व्यंजना कम। साथ ही इनमें अभिधा की भी प्रधानता रहती है। उपादानों की निर्मिति में जिन रूपों का सन्निधान रहता है वे उपादानों के अभिन्न आकार होते हैं। इन निर्मितियों में रूप का अतिशय (यदि ये रूप प्रतीकात्मक नहीं होते) केवल उपयोगिता की तुलना में अतिशय होता है। फिर भी निर्मितियों के ये रूप उपादानों के विपुल आधार और उपयोगिता की प्रचुरता में एक अल्प अलंकार के रूप में होते हैं। उपादानों और उपयोगिता का विपुल आधार अभिधा की सम्पत्ति है। इनके विपुल आश्रय में रूप के अतिशय का सौन्दर्य आधार के सम्बन्ध से लक्षणा की कोटि तक पहुँचता है। भवन-निर्माण की अपेक्षा मूर्ति-रचना में रूप के साथ-साथ भाव के अतिशय के कारण व्यंजना की मात्रा अधिक रहती है। इसीलिये स्थापत्य की अपेक्षा मूर्तिकला का कलाओं में अधिक श्रेष्ठ स्थान है। फिर भी उपादान का आधार मूर्तिकला में भी अपना महत्व रखता है। भाव के अतिशय में मूर्ति और चित्र-कला व्यंजना की विपुलता प्राप्त करती है और कला के सांस्कृतिक क्रम में एक उच्च पद की अधिकारिणी बनती है।

नृत्य और संगीत की कलाओं में प्राकृतिक क्रियाओं का आधार अभिधा का पक्ष है। केवल स्वर और गति की लय के रूप में जो संगीत और नृत्य होता है, उसमें व्यंजना का स्फुरण अधिक नहीं होता। शुद्ध संगीत और नृत्य में रूप का अतिशय लक्षणा की परिधि में ही अधिक रहता है। प्राकृतिक आधारों में आश्रित रहने के साथ-साथ रूप का यह अतिशय इन अभिधात्मक आधारों से अभिन्न रहता है। इन कलाओं में रूप के अतिशय का एक और रहस्य इनके माध्यमों की मृदुलता, सूक्ष्मता और गतिशीलता है। इनके कारण प्राकृतिक आधारों की अभिधा रूप के अतिशय की लक्षणा के साथ अपना स्वर और अपने चरण मिलाती है। आधार की अभिधा और रूप के अतिशय की लक्षणा एक दूसरे में तन्मय होकर इन कलाओं को एक अपूर्व सौन्दर्य प्रदान करती है, जो सौन्दर्य स्थिर आधारों की कलाओं में संभव नहीं है। इस अपूर्व सौन्दर्य के

कारण ही ये कलायें सांस्कृतिक जीवन में स्थिर माध्यमों की कलाओं से अधिक लोकप्रिय रही हैं। शुद्ध स्वर की लय और भंगिमा की गति में जीवन के भाव उदित होने पर अभिधा और लक्षणा के इस संगम में व्यंजना का सौन्दर्य प्रकाशित होता है। जिस कारण से इन कलाओं में अभिधा और लक्षणा का तन्मय संगम होता है, उसी कारण से इस संगम में व्यंजना के अन्तर्भाव से कला की रहस्यमयी त्रिवेणी प्रवाहित होती है। इस त्रिवेणी की महिमा के कारण ही लोक-जीवन और साधना दोनों में ये कलायें अत्यन्त लोक-प्रिय रही हैं।

किन्तु गतिशील होने के साथ-साथ इन दोनों कलाओं के माध्यम और रूप अल्पस्थायी हैं। ऐन्द्रिक सम्वेदना का आधार तो प्रायः सभी कलाओं में रहता है। नृत्य और संगीत में माध्यम और रूप दोनों की रचना इन्द्रियों की क्रियाओं से होती है, अतः इनमें आधार की अभिधा और रूप के अतिशय की लक्षणा तथा भाव की व्यंजना का संगम सहज होता है। किन्तु साथ ही आधार की अभिधा का महत्व लक्षणा और व्यंजना के समान ही रहता है। इन कलाओं के रूप की शैली से बहुत कम लोग परिचित होते हैं। अधिकांश लोग इनमें आधार की अभिधा के प्राकृतिक और ऐन्द्रिक सौन्दर्य का ही आस्वादन करते हैं। प्राकृतिक माध्यम के आश्रय और उसके समान रूप के कारण रूप की लक्षणा और भाव की व्यंजना के संस्कार चेतना में अधिक स्थायी नहीं रहते। इसके विपरीत मूर्ति और चित्रकला के माध्यम अधिक स्थायी हैं। साथ ही इन कलाओं में आधार की अभिधा का महत्व अधिक स्फुट है। इनमें रूप की लक्षणा और भाव की व्यंजना में आधार की अभिधा का संगम भी इतना पूर्ण नहीं है, जितना कि नृत्य और संगती में होता है। इसका कारण यह है कि मूर्ति और चित्रकला के आधारों और माध्यमों का अस्तित्व रूप की रचना और भाव की व्यंजना के पूर्व एवं इनसे स्वतन्त्र होता है। नृत्य और संगीत के माध्यमों की भाँति कलाकार मूर्ति और चित्रकला के माध्यमों की रचना नहीं करता और न इनमें एक ही कलात्मक क्रिया के द्वारा समन्वित रूप में माध्यम और रूप की रचना एक साथ होती है।

अस्तु जहाँ मूर्तिकला और चित्रकला के आधार एवं माध्यम अधिक स्थिर होते हैं, वहाँ उनमें आधार की अभिधा स्वतन्त्र और प्रधान रहती है तथा व्यंजना की मात्रा कम होती है। आधार की अभिधा के सम्बन्ध से रूप का अतिशय लक्षणा की कोटि में ही अधिक रहता है। नृत्य और संगीत में व्यंजना की संभावना अधिक होती है और आधार की अभिधा रूप की लक्षणा में समान भाव से अभिन्न रहती है। किन्तु नृत्य और संगीत के माध्यम अस्थिर होते हैं। चेतना में इनके संस्कार स्थायी नहीं होते। इतना अवश्य है कि माध्यम की विशेषता के कारण अनेक व्यक्तियों की संयुक्त क्रिया के द्वारा इन कलाओं की भाव-सम्पत्ति को समात्मभाव के द्वारा बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है, जैसा कि चित्र और मूर्ति की कलाओं में सम्भव नहीं है। किन्तु प्रतीक के रूप भाव-प्रधान होने के कारण व्यंजना में विपुल तथा संस्कारों की दृष्टि से अधिक स्थायी हैं। प्रतीकात्मक रूप मूर्तिकला और चित्रकला की अभिधा-प्रधानता तथा नृत्य और संगीत की अस्थिरता से मुक्त होते हैं। साथ ही उनमें स्थिरता और व्यंजना की प्रधानता होती है। यह स्थिरता कुछ प्रतीकों में मूर्तिकला और चित्रकला के माध्यम के समान आधार की स्थिरता के कारण होती है। किन्तु सभी प्रतीकों में ऐसा नहीं होता। कुछ प्रतीकों के माध्यम नृत्य और संगीत की भांति क्रियात्मक होने के कारण अस्थिर भी होते हैं। स्वस्तिक, कमल, सूर्य, देवता आदि के मूर्त प्रतीक स्थिर कोटि के उदाहरण हैं। सप्तपदी, चरण-वन्दना आदि क्रियात्मक माध्यम के उदाहरण हैं। किन्तु इन दोनों ही प्रकारों के प्रतीकों में आधार की अभिधा और रूप की लक्षणा की अपेक्षा भाव की व्यंजना अधिक होती है। भाव की यह आकृति चेतना में स्थिर रहती है। प्रतीकों के स्थायित्व का यही मुख्य आधार है। व्यंजना की यह विपुल विभूति परिचय और आत्मीयता के द्वारा अधिक समृद्ध होती है। इस समृद्धि का रहस्य प्रतीकों के सम्बन्ध में मनुष्य की स्वतन्त्रता और रचनात्मकता है। मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा इन प्रतीकों की रचना की है। इस कारण इनके साथ उसकी आत्मीयता भी अधिक है। स्वतन्त्र रचना के कारण परिचय की अधिकता इन प्रतीकों की महिमा को मन्द नहीं, वरन्

और तीव्र बनाती है। स्वतन्त्रता और रचनात्मकता के साथ-साथ इन प्रतीकों के सौन्दर्य का रहस्य व्यंजना की विपुलता में भी है। प्राकृतिक उपादान और क्रियाओं पर आश्रित होते हुए भी इन प्रतीकों में भाव-व्यंजना इतनी विपुल है कि समाज की परम्पराओं में इनके सौन्दर्य का चमत्कार मन्द नहीं होता, वरन् बढ़ता ही जाता है। आधार की अभिधा और रूप की लक्षणा प्रतीकों की व्यंजना-सम्पत्ति की तुलना में इतनी अल्प है कि उसका अपने आप में कोई महत्व नहीं रहता। इस व्यंजना में अन्वित होकर आधार की अर्थहीन अभिधा भी एक अपूर्व सौन्दर्य से सम्पन्न बन जाती है। इसीलिए लोक परम्परा में प्रतीकों की व्यंजना-सम्पत्ति प्रकट न होते हुए भी केवल इनके रूप भी युगों से समाज में सौन्दर्य के निर्झर बहाते रहे हैं।

प्रतीकों की शक्ति और उनके सौन्दर्य का एक और रहस्य सामाजिक समात्मभाव है। किसी व्यक्ति की रचना न होने के कारण इनके कृतित्व में अहंकार के लिये अवकाश नहीं है। समाज की परम्परा में ये प्रतीक किसी की कृति अथवा सम्पत्ति नहीं है, वरन् एक सार्वजनिक विभूति हैं। इस दृष्टि से वे साधनामयी कलाकृतियों से भी अधिक श्रेष्ठ हैं। अहंकार का अवकाश न होने के कारण इनमें सामाजिक समात्मभाव की संभावना अधिक रहती है। व्यंजना की विपुलता इनका मुख्य स्वरूप है। प्राकृतिक आधारों में साकार होते हुए भी इन आधारों का अपने आप में कोई महत्व नहीं है। अतः प्रतीकों के ये रूप सामाजिक संघर्ष के कारण नहीं बनते। इसके विपरीत वे समात्मभाव के प्रचुर निमित्त प्रस्तुत करते हैं। इन प्रतीकों के संख्या और सौन्दर्य के भाण्डार इतने परिपूर्ण हैं कि ब्रह्म के समान कोई भी इन्हें पूर्णरूप से अपना सकता है, फिर भी ये अपने स्वरूप में पूर्ण बने रहते हैं। अनन्त समूहों के निरन्तर अपनाते रहने पर भी इनका भाण्डार रीता नहीं होता, वरन् यह कहें कि वह निरन्तर बढ़ता रहता है तो अनुचित न होगा। प्रतीकों के ये रूप संस्कृति की चिन्तामणि हैं, जो निरन्तर विकास और सौन्दर्य का वितरण करते रहने पर भी अपने स्वरूप में अक्षुण्ण बने रहते हैं। प्रत्येक नवीन

अवसर पर इनका व्यवहार होने पर इनमें नवीन सौन्दर्य उदित होता है। जीवन के प्रत्येक अवसर पर ये नवीन उत्सव और आनन्द के पर्व रचते हैं। सामाजिक परम्परा में अनादि काल से प्रचलित होने के कारण इनमें एक सहजभाव भी है। एक ओर इनमें किसी व्यक्ति का अहंकार-मय कर्तृत्व नहीं है तथा दूसरी ओर इनमें कोई आरोपण भी नहीं है। अहंकार और आरोपण के सौन्दर्य का एक रहस्य है। अहंकार और आरोपण दोनों से मुक्त होते हुए भी ये हमें कृतित्व का पूरा अवसर देते हैं, क्योंकि रचना ही इन प्रतीकों का रूप है। इनकी रचना में हमारा अहंकार ऐसे सात्विक रूप से फलित होता है, जो समात्मभाव के अनुकूल है। अतः वह समाज में सौन्दर्य की वृद्धि करता है। यदि यह कहें कि समात्मभाव की स्थिति में ही इन प्रतीकों का रूप साकार होता है तो यह प्रतीकों की रचना की नितान्त उचित व्याख्या है। व्यक्तित्व के एकान्त और इकाई की स्थिति में अधिकांश प्रतीकों की रचना संभव नहीं होती। सप्तपदी, प्रणाम, चरणवन्दना आदि प्रतीक ऐसे हैं जो समात्मभाव की स्थिति में ही साकार होते हैं। स्वस्तिक, श्री, देवता आदि कुछ प्रतीकों की रचना व्यक्तिगत स्थिति में हो सकती है, किन्तु वह सफल नहीं होती। भौतिक उपादानों में इन प्रतीकों के आकार की निर्मिति तो संभव है किन्तु इनके भाव की व्यंजना समात्मभाव की स्थिति में ही सफल होती है। इसीलिए स्वस्तिक और श्री के प्रतीक भी सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहार के निमित्त बने। एक स्त्री दूसरे के पैरों पर महावर से स्वस्तिक बनाती है। विवाह आदि के अवसर पर कलशों पर स्वस्तिक बनाकर हम उन्हें अपने मान्यों को भेंट करते हैं। इसी कारण 'श्री' हमारे सामाजिक अभिवादन और सम्बोधन का निमित्त बनी। समात्मभाव से सम्पन्न होकर इन प्रतीकों में निहित व्यंजना की विभूति और भी समृद्ध होती है।

४. प्रतीकों का महत्व—

अस्तु प्रतीकों के सांस्कृतिक रूप अनेक दृष्टियों से सबसे अधिक स्वतन्त्र, सम्पन्न और समृद्धिशील हैं। सामंजस्य और समात्मभाव की

सांस्कृतिक विभूति भी इनमें सबसे अधिक है। भवन-निर्माण, मूर्तिकला आदि के रूप भौतिक उपादन की अभिधा से सीमित रहते हैं। इन उपादानों की सत्ता और इनका व्यवहार दोनों ही प्राकृतिक होने के कारण मनुष्य के लिये पराधीन हैं। इन उपादानों के विन्यास आदि में मनुष्य कुछ स्वतन्त्रता प्रदर्शित करता है, फिर भी इनके उपादान और रूप अभिधा की यथार्थता से अभिभूत रहते हैं। इसीलिये इनमें व्यंजना का सौन्दर्य विपुलता से प्रकाशित नहीं होता। प्राकृतिक उपादानों की सत्ता व्यक्तित्व की इकाई के अनुकूल है। अतः इन रूपों की रचना में अहंकार के लिये अवकाश रहता है, जो समात्मभाव को मन्द बनाता है कलात्मक रूपों में साकार होने वाले भौतिक उपादान प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक संघर्ष के कारण नहीं बनते, फिर भी जिन उपादानों के परिग्रह में राजसी ऐश्वर्य की भाँति विषमता रहती है, उनमें संघर्ष के बीज छिपे रहते हैं। जिन परिग्रहों में अधिक विषमता नहीं होती, उनके अधिकार और निर्माण में जो अहंकार का संकोच रहता है, वह अन्य निमित्तों में संघर्ष का कारण बन सकता है, किन्तु अपने आप में समात्मभाव को मन्द बनाकर जीवन के सांस्कृतिक सौन्दर्य को कम करता है। भौतिक उपादानों में साकार होने पर भी निसर्ग प्रकृति के रूप अधिक सुन्दर और आनन्दप्रद लगते हैं, क्योंकि उनके विषय में अहकार का अभाव होने के कारण वे समात्मभाव के निमित्त बन सकते हैं। उनमें कृतित्व का सौन्दर्य नहीं तो अकृतित्व के कारण अहङ्कार का अभाव रहता है। इसके विपरीत राज-भवनों का चमत्कारी सौन्दर्य हमें प्रसन्न और आकर्षित नहीं करता। अन्य निर्माणों में भी इसी प्रकार व्यक्ति का अहङ्कार सौन्दर्य के प्रकाशन में बाधक होता हैं। आधुनिक सभ्यता के यान्त्रिक निर्माण हमें उतने ही सुन्दर मालूम होते हैं, जितने कि वे सार्वजनिक उपयोग की स्थिति में समात्मभाव के अनुकूल हैं। किन्तु उनके पीछे जो कृतित्व का चमत्कार है, वह हमारे व्यक्तित्व को तुच्छ बनाकर हमारे लिये इन कृतियों के सौन्दर्य को मन्द करता है। विशाल और भव्य यान्त्रिक निर्माणों के पीछे एक ऐसी निर्वैयक्तिकता रहती है जिसके कारण वे समात्मभाव के निमित्त नहीं बनाये जा सकते। बहुत से निर्माणों का मनुष्य से इतने दूर

का सम्बन्ध है कि उनके साथ वैसी आत्मीयता का भाव नहीं बन सकता, जैसा कि निसर्ग प्रकृति के साथ बनता है। उपयोगिता की प्रधानता होने के कारण यान्त्रिक निर्माणों के रूप में रूप का अतिशय बहुत कम होता है। अतः व्यंजना कम रहती है। इस कारण भी उनमें सौन्दर्य की संभावना कम होती है। व्यक्तिगत सुविधा के कारण वे सुख अवश्य देते हैं। रेडियो, पंखा, मोटर आदि के समान कुछ छोटे निर्माण समात्मभाव की स्थिति में सौन्दर्य के निमित्त भी बनते हैं।

इसके विपरीत प्रतीकों के रूप सौन्दर्य के विपुल स्रोत हैं। स्वतन्त्र रचना का कृतित्व, रूप का अतिशय, उपयोगिता से इस अतिशय की स्वतन्त्रता और सामाजिक समात्मभाव की प्रचुर संभावना प्रतीकों को सांस्कृतिक सौन्दर्य की चिन्तामणि बनाती है। रूप के अतिशय के अतिरिक्त प्रतीकों में सम्बन्ध और परिचय की दीर्घ परम्परा की लक्षणा सन्निहित रहती है। यह लक्षणा भी प्रतीकों के सौन्दर्य को बढ़ाती है। इस लक्षणा में भी समात्मभाव के सूत्र गुंफित रहते हैं। इन सूत्रों से ही लक्षणा के सौन्दर्य का चित्रपट निर्मित होता है। लक्षणा की यह सम्पत्ति व्यक्ति और समाज की स्मृति के संस्कारों में वर्तमान रहती है। इन संस्कारों की विभूति जीवन को भाव के सौन्दर्य से भरती है। समाज की परम्परा में इन संस्कारों का एक अनादि इतिहास रहता है, जो समाज के सांस्कृतिक जीवन को अनन्त सौन्दर्य प्रदान करता है। यह अनादि इतिहास प्रतीकों को अकृति का गौरव देता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों अनादि काल से ये प्रतीक सूर्य, चन्द्र, आकाश, नक्षत्र, पर्वत, नदी आदि की भाँति अपनी सहज सत्ता में सुशोभित हैं। यद्यपि किसी समय सामाजिक कृतित्व में ही इनकी सत्ता का आरम्भ हुआ होगा, किन्तु इस कृतित्व के अहङ्कार का संश्लेष किसी भी रूप में इन प्रतीकों के पीछे नहीं है। अहङ्कार के संश्लेष का यह अभाव इन प्रतीकों को विपुल समात्मभाव के अनुकूल बनाकर पर्वत, नदी, नक्षत्र आदि की भाँति निसर्ग सौन्दर्य का निमित्त बनाता है।

अकृतित्व के साथ-साथ इन प्रतीकों में स्वतन्त्र कृति की संभावना भी है। ऐतिहासिक दृष्टि से अकृत होते हुए भी वस्तुतः ये स्वतन्त्र कृतित्व

में ही साकार होते हैं। प्रतीकों को आकार देने वाला कृतित्व अन्य कृतित्वों से विलक्षण होता है। अन्य कृतित्वों में प्रकृति का संश्लेष अधिक रहने के कारण अहङ्कार की छाया रहती है, जो समात्मभाव और सांस्कृतिक सौन्दर्य की बाधक है। प्रतीकों के कृतित्व में इसके विपरीत समभाव अथवा विनय रहता है। प्राकृतिक क्रिया की दृष्टि से सभी कृति व्यक्तिगत हैं, फिर भी प्रतीकों के कृतित्व में अहङ्कार का संश्लेष नहीं रहता। अतः प्रतीकों के स्वतन्त्र कृतित्व में समात्मभाव का सौन्दर्य विपुलता से मिलता है। यदि मनोवैज्ञानिक सीमा की दृष्टि से अहङ्कार का संशलेष रहता भी है तो वह विनय में विलीन हो जाता है। जिन सामाजिक स्थितियों में ये प्रतीक आकार ग्रहण करते हैं, उनमें अहङ्कार केवल एक मनोवैज्ञानिक सीमा के रूप में शेष रह जाता है और वह अपना समस्त गौरव विनय को अर्पित कर देता है। इसीलिये प्राय: इन प्रतीकों की रचना में स्नेह, सहयोग और सत्कार का भाव रहता है। कई स्त्रियाँ मिलकर सम्भाव से स्वस्तिक अथवा चौक बनाती हैं। चरण-वन्दना और आशीर्वाद एक दूसरे से स्पर्धा करते हैं। महाराष्ट्र में अनेक सुजन मिलकर गणपति का निर्माण और विसर्जन करते हैं। उत्तर भारत की 'साँझी' और 'गनगौर' की रचना में यही सहयोग दिखाई देता है। प्रकृति के साथ अनेक व्यक्तियों के स्वतन्त्र और समभाव-पूर्ण कृतित्व के निमित्त बनकर प्रतीक समात्मभाव के साथ-साथ रचनात्मक सौन्दर्य के स्रोत बनते हैं।

इन प्रतीकों के रूप अत्यन्त सरल हैं। कुछ देवताओं को छोड़ कर अन्य अधिकांश प्रतीकों के आकार में अभिधा के रूप की तुलना में कोई विशेष अतिशय नहीं है। सबसे अधिक प्रमुख, सामान्य और श्रेष्ठ प्रतीक 'स्वस्तिक' रूप में सबसे सरल है। देवताओं के रूप में जो अतिशय है वह विचित्रता और अतिरंजना द्वारा सम्पादित हुआ है, अन्यथा सामान्यत: जिन रचनाओं और क्रियाओं के आकारों में प्रतीक चरितार्थ होते हैं, वे रूप में अभिधा के समान और स्वरूप में अत्यन्त सरल हैं। प्राकृतिक उपादानों में उचित होते हुए भी इन प्रतीकों का रूप उपयोगिता से अधिक

मुक्त होता है। अतः सरल और सामान्य होते हुए भी इनकी रूप-सम्पत्ति अतिशय का स्थान ग्रहण कर लेती है। अतिशय होने के कारण यह अल्प और सरल रूप-सम्पत्ति सौन्दर्य की अनन्त विभूति बन जाती है। आधार के सम्बन्ध से इसे लक्षणा का सौन्दर्य मिलता है। दूसरी ओर वे सामाजिक सम्बन्ध जिनमें ये प्रतीक चरितार्थ होते हैं और इतिहास की परम्पराएँ जिनमें वे गुम्फित रहते हैं, प्रतीकों की स्वरूपगत लक्षणा के सौन्दर्य को और बढ़ाते हैं। पुष्प के केशर और उसकी पंखुड़ियों की भाँति इस लक्षणा के सूत्र और दल चारों ओर विकसित होकर प्रतीकों को जीवन के उद्यान का सुन्दर पुष्प बनाते हैं। प्रतीक के पुष्प के दल चाहे बिखरते रहें (वे इतने अल्पजीवी तो नहीं होते) किन्तु इन सम्बन्धों के केशर-सूत्र उस पराग से गर्भित रहते हैं, जो सौन्दर्यों के पुष्पों की सृजनात्मक परम्परा को अमर बनाते हैं। इस परम्परा में प्रतीकों के पुष्प संस्कृति के उद्यान में नये-नये सौन्दर्य, सौरभ और वर्णों में खिलते रहते हैं।

अभिधा के सरल बिन्दु में प्रतीकों की अल्प परिधि में जो लक्षणा के सौन्दर्य का सिन्धु लहराता है, उसमें व्यंजना के विपुल ज्वार उठते हैं। लक्षणा यदि रूप का अतिशय है, तो व्यंजना को हम भाव का अतिशय कह सकते हैं। भाव का स्वरूप रूप की अपेक्षा तत्व के अधिक निकट है। प्रतीकों के सरल रूपों में जीवन के सांस्कृतिक भाव प्रचुर मात्रा में वर्तमान रखते हैं। वस्तुतः ये प्रतीक इन विपुल भावों के निमित्त और सूक्ष्म संकेत मात्र हैं। केवल तत्व की दृष्टि से इन भावों को दर्शन की सम्पत्ति माना जा सकता है। दर्शन जीवन के तत्व का तटस्थ दृष्टि से अनुसन्धान करता है। दर्शन के निरपेक्ष तत्व जब जीवन के मूल्यों के रूप में प्रकाशित होते हैं तो हम उन्हें 'भाव' कह सकते हैं। दर्शन में यद्यपि मूल्यों को भी निरपेक्ष माना जाता है किन्तु वस्तुतः वे चेतना के भाव होते हैं। चेतना के भाव से भिन्न मूल्य की कल्पना कठिन है। किसी व्यक्तिगत चेतना पर आश्रित व्यक्तिगत भाव मूल्य नहीं बनते, अतः व्यक्तिगत चेतना से सापेक्ष न होने के कारण उन्हें निरपेक्ष कहा जाता है। किन्तु वस्तुतः मूल्यों का स्वरूप चेतना के भावों से अभिन्न है। समात्मभाव सौन्दर्य और संस्कृति का सामान्य

भाव है। समात्मभाव की स्थिति में ही प्रतीकों में भावों की व्यंजना सफल होती है और सौन्दर्य को सजीव रूप देती है। समात्मभाव के नाल पर सांस्कृतिक भावों का सहस्रदल कमल खिलता है।

लक्षणा के सौन्दर्य के साथ-साथ भाव-सम्पत्ति की व्यंजना प्रतीकों की अमूल्य विभूति है। यह भाव-तत्व संस्कृति का प्राण है और इसका संचार ही सांस्कृतिक जीवन है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि प्रतीकों के रूप के साथ समवाय में ही भाव की प्राण-विभूति संस्कृति को जन्म देती है। केवल भावतत्व दर्शन की सम्पत्ति है और वह बुद्धि का विषय है। भाव-तत्व दर्शन और संस्कृति में उसी प्रकार समान है, जिस प्रकार पशुओं और मनुष्यों में प्राण समान होते हैं। रूप से भाव-सम्पत्ति को एक ऐसा अद्भुत संस्कार प्राप्त होता है जिससे वह समग्र जीवन की सांस्कृतिक विभूति बन जाती है। रूप का बाह्य आकार एक ओर इन्द्रियों की सम्वेदना और प्रकृति का स्पर्श करता है, दूसरी ओर समात्म भाव में अन्वित होकर रूप और भाव दोनो चेतना को आल्हादित करते हैं। व्यंजना की विपुलता रूप और भाव दोनों को कला के सौन्दर्य से अलंकृत करती है। समात्मभाव की स्थिति में व्यंजना की विपुल विभूति ही कला के सौन्दर्य का मर्म है। इसीलिये कलाओं का संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक युग में तो कलाऐं ही संस्कृति का पर्याय बन गयी हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रम का अभिप्राय नृत्य, गान, नाटक आदि से ही समझा जाता है। भ्रमपूर्ण और एकांगी होते हुए भी यह प्रचलित दृष्टिकोण कला और संस्कृति के अभिन्न सम्बन्ध को प्रकाशित करता है। कला के अभाव में संस्कृति संभव नहीं है। कलात्मक सौन्दर्य संस्कृति की आत्मा है। समात्मभाव और व्यंजना की विपुलता में ही कला का सौन्दर्य उदित होता है और संस्कृति साकार होती है। साधना बनकर कला संस्कृति से अभिन्न होते हुए भी उसका एक अंग रह जाती है। समात्मभाव के साथ-साथ उसका भाव-तत्व भी मन्द हो जाता है और रूप की साधना ही कला में प्रमुख हो जाती है। कला में समात्मभाव तथा अन्य भाव-तत्वों का जितना विपुल और व्यापक समाधान होता है, उतनी ही वह संस्कृति के अधिक निकट होती है। इसीलिये लोक-कला

संस्कृति के अधिक निकट है। इसीलिए संस्कृति के समर्थक लोक-कलाओं को अपनाने का राग अलापते हैं।

किन्तु जिस प्रकार केवल भाव-तत्व संस्कृति को रूप नहीं देता और दर्शन की परिधि में ही रह जाता है, उसी प्रकार प्रधानतः रूप की साधना कला बन जाती है। संस्कृति रूप और भाव का संगम है। भावों का प्राणतत्व रूप के सौन्दर्य में साकार होकर संस्कृति को आकार देता है। संस्कृति दर्शन और कला के समान एकांगी नहीं है, वह जीवन के समान व्यापक है। जीवन में अन्वित होने के कारण वह इनसे अधिक सजीव भी है। वस्तुतः संस्कृति जीवन का अंग नहीं, वरन् जीवन का समग्र और संस्कृत रूप है। न वह दर्शन के समान केवल तत्व का अन्वेषण है और न वह कला के समान केवल सौन्दर्य के रूप की साधना है। प्रकृति के आधार में समाहित होकर जब दर्शन के संस्कार कलात्मक रूप में प्रकाशित होकर समस्त जीवन को श्रेय और सौन्दर्य से अंचित करते हैं, तो संस्कृति जीवन की संज्ञा बन जाती है। प्राकृतिक आधार, दार्शनिक तत्व और कलात्मक रूप के संगम में समग्र जीवन संस्कृति का तीर्थराज बन जाता है। प्रकृति, दर्शन और कला से अलग संस्कृति का अस्तित्व नहीं है, किन्तु केवल इन तीनों का समवाय भी संस्कृति की रचना नहीं करता। इस समवाय में प्रकृति को दर्शन का संस्कार और कला का सौन्दर्य प्राप्त होता है। दर्शन प्रकृति के यथार्थ से सार्थक और कला के सौन्दर्य में सफल होता है तथा कला के सौन्दर्य को प्रकृति का आधार और दर्शन की गंभीरता का गौरव मिलता है। इससे तीनों के ही स्वरूप का संस्कार होता है। इस समवाय और संस्कार में समग्र जीवन में एक नई विमा प्रकट होती है। यह नवीन विमा ही संस्कृति है। यह अन्य एकांगी साधनाओं से अधिक पूर्ण और अधिक मानवीय है। प्रकृति की प्रधानता पशुत्व का लक्षण है। मनुष्य में वह प्रकृति भी विकृत होकर दानवत्व को जन्म देती है। दार्शनिक भाषा में इसे तमोगुण का उत्कर्ष कह सकते हैं। दर्शन की साधना देवत्व का लक्षण है। तत्व के शोधक ऋषि, मुनि और विचारक देव-तुल्य ही हैं। इन्हें सत्व-प्रधान

कहा जा सकता है। दर्शन का विवेचन गंभीर बुद्धि की अपेक्षा करता है और बुद्धि सत्व प्रधान है। कला की साधना किन्नरों और गंधर्वों का लक्षण है। सौन्दर्य की आराधना में रजोगुण की प्रेरणा रहती है। पौराणिक परम्परा में कला की साधना किन्नरों और गन्धर्वों का विशेष धर्म रही है। संस्कृति की मानवीयता इन तीनों का समवाय नहीं, वरन् एक नवीन गुण है, जो इनके संस्कार और समन्वय से उत्पन्न होता है। जीवन की व्यापकता के साथ-साथ इसमें मनुष्यता का साम्य और उसकी पूर्णता भी होती है। एक अन्य दृष्टि से इस साम्य को हम शक्ति, ज्ञान और प्रेम का साम्य भी कह सकते हैं। पशुत्व की शक्ति दर्शन के सात्विक ज्ञान से प्रकाशित और कला के सौन्दर्य से सरस होती है। तीनों के साम्य और समन्वय से जीवन की जिस नवीन और पूर्ण कोटि का उदय होता है, वही मनुष्यता का वास्तविक रूप है।

संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि का संकर अथवा समवाय नहीं, जैसा कि प्रायः संस्कृति के अनेक आचार्य समझते हैं अथवा समझने की भूल करते हैं। संस्कृति मानव-जीवन का एक मौलिक और व्यापक रूप है, जिसके अंचल में धर्म, दर्शन, कला आदि सभी पलते हैं तथा जिसका स्नेह और अवलम्ब सभी चाहते हैं। इस दृष्टि से संस्कृति को धर्म, दर्शन, कला आदि सबकी माता कहना अनुचित न होगा। धर्म, दर्शन, कला आदि सभी उसी के गर्भ से उत्पन्न होते हैं। भारतीय जीवन की परम्परा में धर्म, दर्शन, कला आदि संस्कृति के उदार और मधुर अंचल में ही पले हैं। समर्थ होने पर ही वे स्वतन्त्र हुये हैं, किन्तु समर्थ होने पर भी संस्कृति अपने मातृत्व का सहज स्नेह उनको देकर उन्हें अपने अंचल से दुलारती रही है। पश्चिमी परम्परा में मातृहीन होने के कारण धर्म, दर्शन, कला आदि अधिक स्वतन्त्र रूप में विकसित हुये हैं। संस्कृति की किसी मौलिक महिमा का सौन्दर्य इनमें नहीं है। इसीलिए ये किसी संस्कृति को अपनी सेवायें अर्पित नहीं कर सके। अज्ञात-कुल-शील की भाँति इनका विकास और इनकी गति स्वच्छन्द, अनर्गल और अद्भुत रही है।

५. कला और संस्कृति

संस्कृति और कला दोनों में ही रूप की प्रधानता होती है। किन्तु संस्कृति में रूपों की चिरन्तनता प्रतिष्ठित होती है, तो कला में रूपों की नवीनता अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त कला के रूप अधिक शुद्ध और स्वतन्त्र होते हैं। जीवन के तत्वों और भावों से उनका आवश्यक सम्बन्ध नहीं होता। कला के रूपों की यह शुद्धता उन्हें शून्य-कल्प बना देती है। यह शून्यता सह्य न होने के कारण ही कला के रूप जीवन और संस्कृति का अवलम्ब ग्रहण करते हैं। जीवन के तत्वों और भावों को आकार देकर वे स्वयं मूर्त और मांसल बनते हैं। संस्कृति के रूप कला की भांति पूर्णतः शुद्ध और स्वतन्त्र नहीं होते। रूप का अतिशय संस्कृति के रूपों का भी लक्षण है। किन्तु यह अतिशय जीवन के तत्वों से अलग नहीं होता। साधारण लोक-जीवन के उपकरणों और व्यवहारों में ही वह सौन्दर्य के ज्वार उठाता है। रूप की प्रधानता होते हुए भी संस्कृति में जीवन के तत्वों का अन्तर्भाव रहता है। इस प्रकार संस्कृति में दर्शन और कला की सन्धि है। इसीलिये एक ओर दर्शन अपने तत्वों को सौन्दर्य का रूप देने के लिये तथा दूसरी ओर कला अपने रूपों के प्रेतों को देह और प्राण देने के लिये संस्कृति का अवलम्ब लेते हैं। जीवन के तत्वों से समन्वित होने के कारण ही संस्कृति के रूप प्रतीक बन जाते हैं। प्रतीक की कल्पना में रूप और तत्व का समन्वय है। प्रकट रूप में संस्कृति के प्रतीक रूप के अतिशय-से ही प्रतीत होते हैं। किन्तु इस रूप के अंचल में जीवन के गहन तत्वों का अन्तर्भाव रहता है, बिल्कुल इसी प्रकार जिस प्रकार कि रंग-बिरंगे बादलों में जल भरा रहता है अथवा रंग-बिरंगे पुष्पों में रस भरा रहता है। तत्व के अन्तर्भाव से पूर्ण होने के कारण संस्कृति के प्रतीक सामाजिक रूप होते हैं। वे कला के रूपों की भांति व्यक्तिगत नहीं होते। धर्म, दर्शन, कला आदि सभी व्यक्तिगत हो सकते हैं। किन्तु संस्कृति व्यक्तिगत नहीं होती, वह एक सामाजिक रचना है। लोक-कला में संस्कृति और कला का समन्वय होता है। अतः उसके रूप सामाजिक होते हैं। किन्तु अभिजात कला के साधनामय रूप मूलतः व्यक्तिगत होते हैं। इसीलिये

कला के शुद्ध और स्वतन्त्र रूपों में भी समात्मभाव की आकांक्षा छिपी रहती है। यह समात्मभाव ही कला के शून्य रूपों को सौन्दर्य प्रदान करता है। इस समात्मभाव से ही कला अपने नाम को सार्थक बनाती है। इससे युक्त होकर ही कला के रूप सुन्दर बनते हैं। जीवन का प्राकृतिक तत्व ही अधिकांश में व्यक्तिगत होता है। व्यक्तिगत होने के कारण कला प्रायः इस तत्व को ग्रहण करती है और प्रकृति के रमणीय आधार से अपने को मधुर बनाती है। अनेक कलाकार और कला-प्रेमी इसी माधुर्य को कला का सौन्दर्य समझने की भूल करते रहे हैं। ऐसी कला में प्रकृति के माधुर्य और कला रूप के सौन्दर्य का संकर रहता है, जिन्हें बहुत कम लोग पृथक कर पाते हैं। प्रकृति का यथार्थ अभिधा का विषय है। अतः ऐसी कला में सौन्दर्य केवल रूप की व्यजना के रूप में रहता है। प्रकृति का तत्व तो अभिधेय है। अतः कला की व्यंजना में भाव का अतिशय अधिक न होकर रूप की मंगिमा ही अधिक होती है। रूप की भंगिमा के साथ प्रकृति का तत्व भी उसी प्रकार बल खाता है, जिस प्रकार वायु की तरंगों के साथ पानी की तरंगे उठती हैं। प्रकृति के कुछ तत्वों में एक ऐसा अनिर्वचनीय आस्वाद होता है कि वह अभिधेय प्रकृति में रूढ़ होने पर भी लक्षणा और व्यंजना के क्षितिजों का स्पर्श करता है। काम और शृंगार प्रकृति के ऐसे ही तत्वों में हैं। इसीलिये कला और काव्य में इन्हें विपुलता से ग्रहण किया गया है। इसका एक कारण यह भी है कि प्राकृतिक होते हुए भी काम पूर्णतः व्यक्तिगत नहीं है। वह एक मिथुन धर्म है। सम्बन्ध और भाव के अतिशय के कारण उसमें लक्षणा और व्यंजना का प्रकाश भी होता है।

किन्तु संस्कृति केवल प्राकृतिक और व्यक्तिगत नहीं है, वह अनेक व्यक्तियों के समात्मभाव में ही संभव होती है। वह एक सामाजिक भाव है, जो प्रतीकों के रूप में साकार होता है। प्रतीक रूप के ऐसे अतिशय है, जो अपनी विशेपता में महत्वपूर्ण होते हुए भी कला के शुद्ध रूपों की भाँति शून्य नहीं हैं। सामाजिक भावों और सम्बन्धों का अन्तर्निधान इन प्रतीकों को सार्थक बनाता है। किन्तु जीवन के इस सामाजिक भाव-तत्व से प्रतीकों का सम्बन्ध अभिधेय तत्व के समान नहीं

है। इस सम्बन्ध में लक्षणा और व्यंजना की विपुलता है। इसीलिये संस्कृति कला के अधिक निकट रहती है। कला व्यक्तिगत और अभिव्यक्ति प्रधान होती है। अतः उसमें लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना अधिक होती है। किन्तु संस्कृति एक सामाजिक विभूति है। सामाजिकता परस्पर सम्बन्धों में ही चरितार्थ होती है। अतः संस्कृति में लक्षणा की महिमा व्यंजना से कम नहीं है। लक्षणा-मूलक सम्बन्धों के विस्तार संस्कृति में बहुत महत्वपूर्ण हैं। वन्दना, आशीर्वाद, सप्तपदी आदि अनेक सांस्कृतिक प्रतीक सम्बन्धों के रूपों में ही हैं। अन्य प्रतीक भी सम्बन्धों में ही चरितार्थ होते हैं। इसके अतिरिक्त समाज के इतिहास के कितने प्रसंगों और सम्बन्धों का अनुषंग संस्कृति की परम्परा में अन्तर्निहित रहता है। प्रतीकों के स्वरूप और समाज की परम्परा दोनों में अन्तर्निहित सम्बन्धों की विपुलता संस्कृति के इन रूपों को लक्षणा के वैभव से सम्पन्न बनाती है। यह कहना अनुचित न होगा कि इस लक्षणा के वैभव में ही प्रतीकों की व्यंजना का सौन्दर्य खिलता है। जिस प्रकार संस्कृति में दर्शन और कला अथवा तत्व और रूप की सन्धि है, उसी प्रकार संस्कृति में लक्षणा की विपुलता में अभिधा और व्यंजना का भी सामंजस्य है। लक्षणा के सम्बन्धों का विस्तार और व्यंजना के रूप एवं भाव का अतिशय विपुल होते हुए भी अभिधा का तिरस्कार नहीं करता। जहाँ कला में अभिधा और लक्षणा को तिरोहित कर व्यंजना अपने विशेष ऐश्वर्य में प्रकाशित होती है, वहाँ संस्कृति में लक्षणा के विस्तार में व्यंजना का वैभव अभिधा के ऐश्वर्य पर अवलम्बित होता है। इसीलिये संस्कृति में प्रकृति के उपकरणों का विपुलता से ग्रहण किया गया है। किन्तु प्रकृति के उपादान संस्कृति के उपकरण बनकर व्यक्तिगत नहीं रह जाते। स्वार्थ से बहुत कुछ मुक्त होकर ही वे लक्षणा और व्यंजना के अनुकूल बनते हैं। समात्मभाव से युक्त होकर प्रकृति के उपकरण सम्बन्धों के विस्तार और व्यंजना के सौन्दर्य में समन्वित हो जाते हैं। इस प्रकार संस्कृति में प्रकृति, दर्शन और कला तथा अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों का सन्तुलित समन्वय है। अभिधा के आधार के कारण संस्कृति के प्रतीकों का रूप अत्यन्त सरल है और जीवन के साधा-

रण व्यवहारों में ही संस्कृति के रूप साकार हुए हैं। लक्षणा की विपुलता इन प्रतीकों को समाज और इतिहास में विस्तार का वैभव प्रदान करती है। व्यंजना का सौन्दर्य संस्कृति को कला के अत्यन्त निकट ले आता है। किन्तु साथ ही लक्षणा की विपुलता और प्रतीकों के रूप की सामाजिकता संस्कृति को कला से अलग करती है। कालिदास के काव्य की भाँति जिस कला में लक्षणा के विपुल सम्बन्धों का सन्निधान होता है, वह कला शुद्ध रूपात्मक न रहकर सांस्कृतिक कला बन जाती है, यद्यपि सांस्कृतिक सौन्दर्य के कारण उसका सौन्दर्य और बढ़ जाता है। प्रतीकों की सामाजिकता सांस्कृतिक रूपों का एक सरल सत्य है। रचना और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से वे सामाजिक और सार्वजनिक हैं। अभिजात कलाओं के रूपों की भांति किसी विशेष कलाकार ने इन रूपों की रचना नहीं की। ये समाज के सामूहिक जीवन में किस संयुक्त प्रेरणा से प्रसूत हुए हैं, यह निश्चित करना कठिन है। इनका अकृत होना भी इन्हें एक निसर्ग सौन्दर्य का वैभव प्रदान करता है। सामाजिक आचारों में चरितार्थ होकर संस्कृति के प्रतीक संस्कृति को दर्शन की गंभीर यमुना और कला की उज्ज्वल गंगा का पवित्र संगम बनाते हैं। संस्कृति का यह संगम ही मनुष्य जीवन का तीर्थराज है।

कला और संस्कृति दोनों में ही समात्मभाव की प्रेरणा रहती है। दोनों में सौन्दर्य की प्रधानता है और समात्मभाव सौन्दर्य का स्रोत है। किन्तु कला और संस्कृति दोनों में समात्मभाव की स्थिति भिन्न है। एकान्त साधना बनकर अभिजात कला में समात्मभाव एक आकांक्षा और अप्रस्तुत की कामना बन जाता है। कला की प्रेरणा का सजीव यथार्थ न होकर समात्मभाव एक कल्पना का अभीप्सित है। कला के सुन्दर और मार्मिक प्रसंगों में इसी रूप में समात्मभाव मिलता है। वर्तमान और वास्तविक समात्मभाव कला में बहुत कम मिलता है। जिस शृंगार की काव्य में विपुलता है, उसमें भी संयोग की अपेक्षा विप्रलंभ अधिक है। संयोग वास्तविक और सजीव समात्मभाव की स्थिति है। विप्रलंभ अभीष्ट और काल्पनिक समात्मभाव की अवस्था है। लोक-कला के स्वरूप में वास्तविक और वर्तमान समात्मभाव अधिक है, किन्तु उसके

भा। ।भभभ। में विप्रलंभ के गीत बहुत रहते हैं। संस्कृति कला की भाँति अभाव की प्रेरणा नहीं, वरन् भाव की सृष्टि है। अतः उसके स्वरूप और विषय दोनों में ही वास्तविक और वर्तमान समात्मभाव की विपुलता रहती है। संस्कृति के इस वर्तमान में अतीत का भी अन्तर्भाव है। वर्तमान स्मृति में अतीत संचित रहता है। स्मृति मानों पश्चात्गामी कल्पना है। वह जीवन की विगत विभूतियों को अपने अंचल में समेट कर रखती है और इच्छा होने पर उन्हें अनेक सुन्दर रूपों में संजोती है। अप्रस्तुत होते हुए भी स्मृति की निधियाँ कल्पना की विभूतियों की भाँति अनिश्चित नहीं हैं। स्मृति की निधियाँ वे हैं, जिन्हें हम प्राप्त कर चुके हैं और जो वर्तमान को अपने ऐश्वर्य से अलंकृत करके चिरन्तनकाल को अपनी महिमा से गौरवान्वित करती हैं। कल्पना की विभूतियाँ वे हैं जो भविष्य की आकाक्षायें और संभावनाऐं मात्र हैं। अतः अप्रस्तुत होते हुए भी स्मृति और *कल्पना की निधियों में बहुत अन्तर* है। इसी अन्तर पर संस्कृति और कला का भेद भी अवलम्बित है। स्मृति अतीत को महिमा से मंडित करती है और कल्पना भविष्य के स्वप्न सजाती है। स्मृति एक परम्परा है। कल्पना को विकास कहना अधिक उचित है। स्मृति विगत भावों और प्राचीन रूपों को परिचय की आत्मीयता के द्वारा वर्तमान की सुन्दर विभूति बनाती है। कल्पना नये रूपों की रचना करती है। चिरन्तन भाव भी उन व्यक्तियों के लिये, जिनके अनुभव में वे साक्षात नहीं हुए हैं, कल्पना के भव्य विषय बन सकते हैं। कल्पना को अपनी रचनाओं के उपकरण स्मृति से ही प्राप्त होते हैं। अतः स्मृति का भी कला में बहुत योग है। मनुष्य के मन और कला दोनों का स्मृति से मुक्त होना कठिन है। अतः स्मृति के माध्यम से कला में बहुत कुछ संस्कृति का अंश रहता है। स्मृति के उपकरणों के नवीन रूप-विधानों के द्वारा कला भी संस्कृति में अपना स्थान रखती है। स्लृति और कल्पना की घनिष्ठता के कारण संस्कृति और कला में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

समात्मभाव की दृष्टि से दोनों में यही अन्तर किया जा सकता है, कि जहाँ कला में अप्रस्तुत की कल्पना अधिक रहती है और इस कल्पना

के द्वारा ही समात्मभाव स्थापित किया जाता है, वहाँ संस्कृति साक्षात समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होती है। क्रिया की दृष्टि से दोनों ही वर्तमान के व्यवसाय हैं। किन्तु लक्ष्य और भाव की दृष्टि से संस्कृति स्मृति के उपकरणों और कल्पना के योग से वर्तमान को सुन्दर और आल्हाद पूर्ण बनाती है। कला के लिये संस्कृति का आधार आवश्यक नहीं है। आधुनिक प्रयोगवाद की भाँति बहुत सी कला कृतियाँ केवल नये रूपों की रचना में कृतार्थ हो सकती हैं। इतना अवश्य है कि ऐसी कला में जीवन का कोई दृढ़ अवलम्ब नहीं रहता। अतः वह रूप के सौन्दर्य के आधार पर ही जी सकती है। संस्कृति की परम्परा में उसकी जड़ें न होने के कारण प्रायः उस कला के रूप-कुसुम शीघ्र ही बिखर जाते हैं। इसीलिए कला के वे ही रूप स्थायी रहे हैं, जो अपने कलात्मक सौन्दर्य में संस्कृति के तत्वों और रूपों को आकार दे सके हैं। संस्कृति की परम्परा के अतिरिक्त दर्शन के चिरन्तन सत्य ही ऐसे तत्व हैं, जिनका अवलम्ब लेकर कला के रूप स्थायी हो सकते हैं। जीवन की परम्परा में रूढ़ रहने के कारण संस्कृति के चिरन्तन रूप अधिक स्थायी होते हैं। साक्षात समात्मभाव का रस उनकी जड़ों को निरन्तर सींचता रहता है। यदि वनस्पति जगत से उपमा लेकर संस्कृति और कला का भेद स्पष्ट किया जाय, तो यह कह सकते हैं कि कला उन मौसमी पादपों के समान है, जो प्रतिवर्ष नये लगाये जाते हैं और थोड़े दिन फूलों से खिलते हैं तथा संस्कृति उन विशाल वृक्षों के समान है जो दीर्घजीवी होते हैं तथा प्रतिवर्ष नये फल-फूल देते रहते हैं। यदि केवल नये पल्लवों और फलों को सौन्दर्य के संकेत के लिये पर्याप्त मान लिया जाय, तो 'वट' का दीर्घ जीवी वृक्ष संस्कृति का सबसे उत्तम उपमान है।

कला के रूप परिवर्तनशील होने के साथ-साथ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व रखते हैं। रूप की दृष्टि से अनेक सांस्कृतिक रूपों को भी कलात्मक कहा जा सकता है। संस्कृति में कुछ व्यवहार और आचार के रूपों का भी ग्रहण होता है। किन्तु रूप की दृष्टि से इन्हें भी कलात्मक रूपों से पृथक करना कठिन होगा। चिरन्तन और स्थायी बनकर ये रूप संस्कृति के आधार बनते हैं। साक्षात और सामाजिक

समात्मभाव की निरन्तर परम्परा में ये रूप स्थायी होते हैं। रूपों की चिरन्तनता और सामाजिक समात्मभाव की साक्षात व्यापकता ही संस्कृति के कला से पृथक करने वाले दो प्रमुख लक्षण हैं। लोक-कला में इनका सन्निधान अधिक होने के कारण वह संस्कृति के अधिक निकट है।

वर्तमान की प्रधानता और साक्षात समात्मभाव के कारण संस्कृति जीवन के अधिक निकट है। जीवन का साक्षात रूप भावात्मक अधिक है, यद्यपि जीवन की वेदना और कल्पना में अभाव की प्रेरणा भी बहुत रहती है। भाव का अतिरेक आनन्द में उमड़ता है और अभाव कल्पना की आकांक्षा को प्रेरित करता है। कला की सृष्टि और अभिव्यक्ति इसी प्रेरणा से प्रकल्पित होती है। केवल रूप के अतिशय में भी एक सौन्दर्य है। रूप का अतिशय अभिव्यक्ति को प्रखर बनाता है। इस प्रखरता में ही भाव, तत्व और उपकरण सौन्दर्य से दीप्त हो उठते हैं। किन्तु समात्मभाव के बिना इस सौन्दर्य का प्रकाशित होना संभव नहीं है। एकान्त के अभाव में काल्पनिक समात्मभाव इस सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व रखते हुए भी कला के रूप का सामाजिक महत्व अधिक नहीं होता। इसी कारण कला के रूप निरन्तर नवीनता में अपने सौन्दर्य को उसी प्रकार बनाये रखते हैं, जिस प्रकार प्रेम से वंचित तरुणी अपना वेष बदल-बदलकर अपने आकर्षण को बनाये रखने का प्रयत्न करती है। जीवन का सौन्दर्य अनुभूति से साक्षात होकर आनन्द में फलित होता है। कला का सौन्दर्य अभिव्यक्ति में अधिक रहता है। क्रोचे के समान अभिव्यक्ति को आन्तरिक तथा अभिव्यक्ति और अनुभूति को समानार्थक मान लेने पर कला-कृतियों की बाह्य अभिव्यक्ति निरर्थक हो जाती है। अनुभूति के सौन्दर्य को आनन्द से पृथक करना कठिन है। संस्कृति का सौन्दर्य भी रूप पर अवलम्बित है किन्तु वह साक्षात अनुभूति के आनन्द से अभिन्न है। जिस प्रकार संस्कृति के रूप सार्वजनिक हैं, उसी प्रकार सांस्कृतिक सौन्दर्य की आनन्दमयी अनुभूति भी व्यक्तिगत न होकर सामाजिक है। समात्मभाव में कला का सौन्दर्य अत्यन्त सीमित समात्मभाव में भी संभव हो सकता है। किन्तु

सांस्कृतिक सौन्दर्य के लिये सामाजिक समात्मभाव की व्यापक भूमिका अपेक्षित है।

इस प्रकार संस्कृति कला की अपेक्षा अधिक सामाजिक है। सामाजिक होने के साथ-साथ वह कला की अपेक्षा अधिक भावात्मक भी है। कलाकारों के व्यक्तिगत जीवन का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि अधिकांश कला अभाव से ही प्रेरित हुई है। इसी कारण कला के अधिकांश सौन्दर्य में वेदना और वियोग का योग अधिक है। जिनका जीवन कुछ भाव प्रचुर रहा है, उनकी कला का सौन्दर्य बहुत मन्द है। उसमें उस कला के सौन्दर्य की प्रखरता नहीं है जो अभाव से प्रेरित हुई है। अभाव से प्रेरित कला का सौन्दर्य काल्पनिक समात्मभाव में अधिक प्रखरता से प्रकाशित होता है। इसके विपरीत संस्कृति का सौन्दर्य भाव के अतिशय में उमड़ता है। इसीलिये संस्कृति की क्रियाऐं साक्षात्-समात्मभाव में सम्पन्न होती हैं। संस्कृति में रूप का अवलम्ब होते हुए भी कला के समान रूपों की नवीनता संस्कृति को अभीष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है मानों अभाव कला के नये-नये रूपों में अपना सन्तोष खोजता हो। भाव से प्रसूत होने के कारण संस्कृति में ये परिवर्तन अपेक्षित नहीं हैं। सम्पन्न और संतुष्ट व्यापारी या धनी वर्ग में कला का वास्तविक अनुराग कम देखने में आता है। इससे भी कला की अभाव-मूलकता का संकेत मिलता है। कला की अपेक्षा धनिकों की संस्कृति में अधिक रुचि होती है, इसलिये नहीं कि वह उनके निहित स्वार्थों की रक्षा करती है, वरन् इसलिये कि वह उनके भाव-मूलक जीवन को आनन्द-मय बनाने का अधिक अनुकूल माध्यम है। सभी प्रकारों की समृद्धि जीवन के भौतिक और बाहरी अभावों को दूर करती है। अत: मनोवैज्ञानिक दृष्टि से न सही किन्तु भौतिक साधनों के अर्थ में तो समृद्धि जीवन को भावात्मक आधार देती है। मन के कुछ भाव तो अभाव की अवस्था में ही अधिक तीव्रता से जागरिक होते हैं। किन्तु ये भाव सम्भवत: जीवन की पूर्णता के धरातल से नीचे के भाव हैं, जो समृद्धि के द्वारा जीवन के अभाव दूर होने पर नहीं रहते। इसीलिये समृद्ध जनों की रुचि कला में बहुत कम होती है। वे कला का पोषण अहंकार और अभिमान की

दृष्टि से अधिक करते हैं, कला के प्रति उनका वास्तविक अनुराग कम होता है। अभाव केवल भौतिक ही नहीं होते, वे मानसिक भी होते हैं। मनोभावों के रूप में भी मनुष्य कुछ चाहता है। वह उसको नहीं मिल पाता तो अभाव का अनुभव करता है। गौरव, स्नेह, सम्बन्ध आदि अनेक रूपों में मनुष्य की ये मानसिक आकांक्षाएं अपनी पूर्ति चाहती हैं। वास्तविक जीवन में यह पूर्ति न मिलने पर मनुष्य कल्पना के द्वारा इसकी पूर्ति करता है। मन के अभावों की पूर्ति का प्रयास बहुत कुछ कला को प्रेरणा देता है। इस प्रयास में कला के अन्तर्गत विकृतियाँ भी पैदा होती हैं, जो आधुनिक युग में बहुत बढ़ रही हैं। मनोविलास के रूप में विकृति सभी युगों की कलाओं में मिल सकती है। भौतिक समृद्धि होते हुए भी प्राय: जीवन में मानसिक विषमताऐं और मानसिक अभाव रहते हैं। इसीलिये इस अभाव की पूर्ति करने वाली कला में कुछ लोगों की रुचि रहती है। किन्तु पूर्ति का यह मार्ग भी उन्हीं के लिये आवश्यक होता है, जिनके लिये विकृति के भी व्यावहारिक मार्ग आर्थिक और सामाजिक कठिनाईयों के कारण रुके रहते हैं।

अस्तु सभ्यता में कला और उसके प्रति अनुराग बहुत दुर्लभ है। कला और संस्कृति के स्वरूप के कुछ लक्षणों में बहुत अन्तर है, किन्तु उनका समन्वय भी सम्भव है। जीवन के कुछ अभावों की आकांक्षाऐं भी संस्कृति के साथ संगत हो सकती हैं, किन्तु उनके प्रति विकृत दृष्टि-कोण की संगति संस्कृति के साथ नहीं हो सकती। रूप और अभिव्यक्ति का सौन्दर्य कला का मूल लक्षण है। उसका संस्कृति में समन्वय हो सकता है। किन्तु अभाव की अपेक्षा संस्कृति में भाव का योग अधिक रहता है। भौतिक और मानसिक दोनों ही क्षेत्रों में भाव की प्रचुरता के पीठ पर संस्कृति के पर्व प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार एक दृष्टि से जहाँ कला का अन्त होता है, वहाँ संस्कृति का आरम्भ होता है। भौतिक समृद्धि और मानसिक भाव-प्रचुरता की भूमि पर ही सांस्कृतिक उल्लास के निर्झर बहते हैं। इसीलिये अनेक पर्वों का सम्बन्ध उन अवसरों से है, जिनमें मनुष्य का श्रम आर्थिक वैभव के रूप में सफल होता है और समृद्धि के द्वार पर वह सामाजिक सम्बन्धों का स्वागत करता है। आर्थिक समृद्धि

भौतिक अभावों को दूर करती है और सामाजिक सम्बन्ध मानसिक आकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं। कला की जो कल्पना अभाव में पलती है, वह समृद्धि और सम्बन्धों के इस भाव को सहन नहीं कर पाती। इस लिये इन्हें पाकर प्रायः कला का अन्त हो जाता है। अभावों में पलने वाले न जाने कितने कलाकारों की कला का अन्त समृद्धि और सम्बन्धों के द्वारा पूर्ति होने पर हुआ है। प्रायः कला का वही रूप जो जीवन की भावात्मक स्थिति में उदय होता है, वही संस्कृति के साथ अधिक घनिष्ठता से संगत हो सकता है। भारतीय संस्कृति के सजीव रूप में भावात्मक कला का ही समन्वय अधिक है। भावात्मक कला के सौन्दर्य में आनन्द का उदय होता है। अभाव की कला का आनन्द काल्पनिक अधिक होता है। हम कल्पना को भी अनुभव मान लें यह दूसरी बात है किन्तु वह जीवन की भाव सम्पन्नता के अर्थ में यथार्थ नहीं होती। आनन्द का वास्तविक रूप भावात्मक अनुभूति है। यह आनन्दपूर्णता के धरातल के ऊपर समुद्र के ज्वार की भांति छलकता है। आनन्द के इस उद्रेक में ही संस्कृति की पूर्णिमाओं के पर्व सम्पन्न होते हैं।

अस्तु संस्कृति का कल्पवृक्ष जीवन की उस भावात्मक भूमि पर उगता है जिस तक बहुत कम कला पहुँच पाती है। अधिकांश कला इस भूमि तक पहुँचने का काल्पनिक प्रयास रहती है। अनेक कलाकारों की प्रेरणा इस भूमि-तल तक पहुँचने पर मन्द हो जाती हैं। जीवन की भावात्मक भूमि पर भी कला की सृष्टि संभव है। किन्तु कला का यह रूप तभी श्रेष्ठ और प्रखर हो सकता है जब उसमें सामाजिक समात्मभाव का सन्निधान विपुल परिमाण में हो अन्यथा भावात्मक भूमि की कला भी मध्यकाल के संस्कृत और हिन्दी काव्य की भाँति बौद्धिक चमत्कार अथवा विलास का रूप लेगी। ऐसी कला संस्कृति की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं हो सकती। वाल्मीकि और कालिदास के अतिरिक्त संस्कृत में सांस्कृतिक काव्य बहुत कम हैं। कालिदास का सांस्कृतिक काव्य भी युग की शृंगार-भावना से शबल है। हिन्दी में सांस्कृतिक काव्य बहुत दुर्लभ हैं। तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ के समान भक्ति और अध्यात्म का काव्य भी बहुत कुछ भावात्मक भूमि का ही काव्य है। बौद्धिक चमत्कार और

बौद्धिक विलास के अतिरिक्त भावात्मक भूमि के काव्य की यह तृतीय कोटि है। चमत्कार और विलास की प्राकृतिक रमणीयता से मुक्त होने के कारण भक्ति और अध्यात्म का काव्य संस्कृति के अधिक निकट है। इस निकटता के कारण प्रायः इस काव्य को सांस्कृतिक समझने की भूल भी की जाती है। संस्कृति के कुछ बिखरे हुए तत्व इस काव्य में मिल जाते हैं। वे इस भ्रम को और बढ़ाते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि कला और काव्य का धार्मिक और आध्यात्मिक रूप भावात्मक रूप की कला के अन्य दो रूपों की अपेक्षा अधिक सांस्कृतिक है। किन्तु प्रधानतः सांस्कृतिक कला वही मानी जायेगी जिसमें कला के रूप के साथ संस्कृति के रूपों का विपुल समन्वय हो। कालिदास के काव्य के अतिरिक्त ऐसी कला का उदाहरण मिलना कठिन है। कालिदास का काव्य एक सम्पन्न युग और कलाकार की सम्पन्न स्थिति का काव्य है। अतः उसमें भावात्मक तत्व की ही प्रधानता है। किन्तु अभाव की विषमताओं और वेदनाओं का संस्कृति से कोई द्वेष नहीं है। संस्कृति की भावात्मक भूमिका अभाव की वेदनाओं को अपने उदार अंचल में समेट कर कला और संस्कृति को और अधिक मार्मिक बना सकती है। किन्तु अभाव की विषमता और वेदनाओं के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण के द्वारा ही अभाव की प्रेरणा का अन्वय संस्कृति में हो सकता है। यह भावात्मक दृष्टिकोण रचनात्मक और सामाजिक होता है। अभाव और वेदना के व्यक्तिगत अहंकार की निष्क्रिय अतिरंजना, जो कि हिन्दी के आधुनिक काव्य में बहुत पाई जाती है अभाव की प्रेरणा को संस्कृति के साथ संगत नहीं बना सकती। व्यक्तिगत अहंकार की अतिरंजना में अभाव की वेदना एक काल्पनिक विलास बन जाती है। ऐसी व्यक्तिगत आत्मलीनता संस्कृति के अनुकूल नहीं है। जीवन की भावात्मक और सामाजिक भूमि पर अभाव की विषमताओं की अपनी रचनात्मक प्रेरणाओं में समेट कर कला का सौन्दर्य संस्कृति में समन्वित होता है।

यह रचनात्मकता संस्कृति की एक दूसरी विशेषता है। कला को भी रचनात्मक मानते हैं। कला भी भाव और रूप की रचना है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु कला का यह कृतित्व मानसिक और काल्पनिक

अधिक है। नृत्य, संगीत, चित्र आदि की कलाओं में जो साक्षात कृतित्व होता है, वह भी जीवन का केवल एक अंग है। संस्कृति कला की भाँति एकांगी नहीं है। उसमें जीवन का कृतित्व समग्र और साक्षात रूप में समाहित है। संस्कृति जीवन का साक्षात और सुन्दर रूप है। जीवन कृतिमय है। जीवन की समग्र कृतित्व जब सौन्दर्य से अंचित होता है तो जीवन का साक्षात रूप ही सस्कृति बन जाता है। कला और संस्कृति की रचनात्मकता में यह अन्तर है कि जहाँ कला का कृतित्व जीवन की अन्य क्रियाओं के उपराम में चरितार्थ होता है, वहाँ संस्कृति का कृतित्व जीवन की साक्षात क्रियाओं में ही सफल होता है। इन क्रियाओं में ही कलात्मक सौन्दर्य का अन्वय इनके कृतित्व को संस्कृति बनाता है। यह कलात्मक सौन्दर्य रूप की अभिव्यक्ति है, यद्यपि संस्कृति के रूप नवीन नहीं, वरन् चिरन्तन होते हैं। कला का कृतित्व रूप और भाव की रचना में ही समाप्त हो जाता है। किन्तु संस्कृति का कृतित्व रूप और भाव की रचना को जीवन के साक्षात और सामाजिक आचारों में समाहित करता है। इससे संस्कृति जीवन का साक्षात और सुन्दर रूप बन जाती है। इसी कारण प्रकृति की प्रवृत्तियों और उसके उपकरणों की संगति संस्कृति में अधिक सफलता से होती है। इनकी विपुलता जहाँ कला को संस्कृति से दूर करती है, वहाँ यह विपुलता संस्कृति को अधिक सजीव बनाती है। इसका कारण यह है कि संस्कृति का रूप और भाव प्रकृति की प्रवृत्तियों और उसके उपकरणों का उन्नयन तथा संस्कार करता है। किन्तु कला के सम्बन्ध में प्रकृति के भाव कला के रूप को अभिभूत करके उसे संस्कृति से दूर ले जाते हैं। कला की रचनात्मकता प्रायः जीवन को भुलाती और जीवन से दूर ले जाती है। संस्कृति की रचनात्मकता हमें जीवन के अधिक निकट लाती है तथा जीवन को सौन्दर्य और श्रेय के भावों से सम्पन्न बनाती है। जहाँ कला के सौन्दर्य में सम्मोहन अधिक है, वहाँ संस्कृति के सौन्दर्य में उल्लास और प्रेरणा अधिक है। नवीन रूपों की रचना होते हुए भी कला में प्रेरणा बहुत कम होती है। विश्व की प्रगति में कला का बहुत कम योग है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रगति की प्रेरणा बनने की अपेक्षा कला प्रगति के अवरोध

का कारण अधिक रही है। कला के सौन्दर्य का सम्मोहन कृतित्व से विरत करता है। किन्तु संस्कृति का सौन्दर्य जीवन के साक्षात कृतित्व में आश्रित होने के कारण चिरन्तन रूपों की आराधना होते हुए भी समाज की प्रगति में निरन्तर प्रेरणा देता है।

जीवन की क्रियाओं, जीवन के भावों और सम्बन्धों का समन्वय कला की अपेक्षा संस्कृति में अधिक साक्षात रूप में हुआ है। ये कला के आवश्यक उपकरण नहीं है। कला का रूप इनसे स्वतन्त्र भी हो सकता है, किन्तु संस्कृति का सौन्दर्य इन्हीं के माध्यम में साकार होता है। रूप की रचना होते हुए भी कला स्वरूप से गतिशील अथवा क्रियात्मक नहीं है। उसके सम्मोहक सौन्दर्य में अगति अथवा स्थिरता अधिक है। मानों कला सौन्दर्य के कुछ क्षणों को स्थिर बनाने का प्रयास है। इसीलिये कला में ओज की अपेक्षा प्रसाद माधुर्य के गुण अधिक मिलते हैं। संस्कृति के उल्लास और उत्साह में प्रसाद और माधुर्य, के साथ ओज की कान्ति भी रहती है। संस्कृति के सामाजिक समात्मभाव में रचना की प्रेरणा भी रहती है। संस्कृति स्वयं रचनात्मक ही नहीं है, वह रचना की प्रेरणा भी है। इस प्रेरणा के द्वारा ही संस्कृति की परम्परा चलती है। इस प्रेरणा के द्वारा ही संस्कृति के सुन्दरम् में शिवम् का संगम होता है। सुन्दरम् रूप और भाव की मनोहर सृष्टि है। शिवम् भाव की सृष्टि के साथ-साथ सृष्टि की प्रेरणा भी है। संस्कृति की रचनात्मकता का रूप कला की अपेक्षा अधिक पूर्ण और प्रगतिशील है। इसीलिये कला की वैसी परम्परा नहीं होती, जैसी कि संस्कृति की परम्परा होती है। कला की परम्परा की प्रेरणा स्वयं कला में नहीं, वरन् कलाकारों की व्यक्तिगत मनस्थितियों में रहती है। इसीलिये कला की परम्पराएँ निरन्तर बदलती रहती है। संस्कृति की परम्परा प्रायः एक सी बनी रहती है, क्योंकि संस्कृति के स्वरूप में ही रचनात्मक प्रेरणा निहित है।

सामाजिक समात्मभाव की विपुलता और भावात्मक भूमि की दृढ़ता के कारण लोक-कला अभिजात कला की अपेक्षा संस्कृति के अधिक

निकट है। किन्तु सौन्दर्य का सम्मोहन उसमें भी कला के अन्य रूपों के समान है। इस दृष्टि से लोक कला भी संस्कृति का केवल एक अंग है। जीवन की भावात्मक सक्रिय और सामाजिक स्थिति में अन्वित होने पर ही लोक-कला संस्कृति के अधिक निकट आ जाती है। लोक-कला संस्कृति के रूपों को कला के आकारों से अन्वित करती है तथा कला को सांस्कृतिक बनाती है। फिर भी वह कला ही है, संस्कृति नहीं। इसके विपरीत संस्कृति अपने चिरन्तन रूपों के सौन्दर्य में कला के सौन्दर्य को समाहित कर अपने स्वरूप को प्रकाशित करती हैं। लोक-कला को हम संस्कृति और कला की सन्धि कह सकते हैं, यद्यपि उसमें कला का सौन्दर्य ही प्रधान रहता है।

कला और संस्कृति में एक और अन्तर है। यद्यपि सिद्धान्त: कला इस दृष्टि से सार्वभौम है कि सभी उसके सौन्दर्य में भाग ले सकते हैं, बालक और किशोर भी कला के आस्वादन के योग्य हैं, फिर भी अधिकांश कला में प्रौढ़ों का ही साम्राज्य है। उसकी रूप-रचना का कौशल इतना समय चाहता है कि उसे प्राप्त करने तक मनुष्य प्रौढ़ हो जाता है। बालकों और किशोरों का कला में बहुत कम स्थान है। रूप-रचना के कौशल से वंचित प्रौढ़ भी उसमें कोई स्थान नहीं रखते। इसके विपरीत संस्कृति अधिक उदार और व्यापक अर्थ में सार्वजनिक है। उसमें बच्चे, बूढ़े, युवक, प्रौढ़, स्त्री, पुरुष, धनी, निर्धन सबके लिये समान स्थान है और सब उसके आनन्द में समान भाव ले सकते हैं। सांस्कृतिक अवसरों की योजना में प्रौढ़ों पर कुछ अधिक भाग रहता है। इस दृष्टि से बालक और किशोर सांस्कृतिक पर्वो में अधिक उल्लास पाते हैं। इसके विपरीत कला प्रौढ़ों का विलास अधिक है। इस दृष्टि से भी संस्कृति में आत्मदान का शिवम् कला की अपेक्षा अधिक है। कलाकारों के बीच कला चाहे समानता का सूत्र हो किन्तु दूसरों के लिये वह भेद की रेखा बनती है। संस्कृति अपने उदार अंचल में बालकों और किशोरों को अधिक गौरव का स्थान देकर अपनी शिवत्व की प्रधानता चरितार्थ करती है।

कुछ कला शास्त्री कला में एक ऐसा चमत्कार देखते हैं, जिसके द्वारा वह वासनाओं, उद्वेगों और विषमताओं का शमन करके शान्ति और श्रेय का पथ प्रशस्त करती है। कला के रूपगत सौन्दर्य की तन्मयता का कुछ समय के लिये ऐसा प्रभाव होता है। किन्तु कला में स्वरूपत: वासनाओं का परिष्कार और व्यक्तित्व का उत्कर्ष करने की शक्ति है, यह सन्देह का विषय है। कला के सौन्दर्य का सम्मोहन मनुष्य को तन्मय और विमुग्ध बनाता है। सौन्दर्य की यह तन्मयता एक निष्क्रिय आनन्द है। इस निष्क्रियता के कारण कलाकारों की रुचि सभी प्रकार के कर्मों में कम होती है। इस कारण उन अनीति के कर्मों में भी उनकी प्रवृत्ति कम होती है, जिनमें दूसरों को अधिक अपराधी पाया जाता है। इस दृष्टि से कला के प्रभाव में सहज नैतिक गुण माना जा सकता है। किन्तु कलाकारों में कुछ ऐसे नैतिक दोष भी मिलते हैं जो सामान्यत: लोगों में उनकी अपेक्षा कम होते हैं। सौन्दर्य एक आध्यात्मिक मूल्य है। उस मूल्य को पाकर कलाकार अपने जीवन को सम्पन्न मानता है। कला की निधि से उसके मन का कोष पूर्ण रहता है। अत: साधारणत: कलाकारों को धन के प्रति इतना मोह नहीं होता जितना कि दूसरे लोगों को होता है। सौन्दर्य की निधि पाकर वह अपने को इतना श्रीमन्त मानता है कि व्यक्तित्व के गौरव के लिये वह अन्य किसी वैभव को आवश्यक नहीं मानता। इसीलिये रहन-सहन, वेष-भूषा, धनोपार्जन आदि की ओर से इसका दृष्टिकोण ऐसा होता है कि हम उसे उदासीन अथवा फक्कड़ कह सकते हैं। इसीलिये आर्थिक अनीति अथवा अपराध कलाकारों में बहुत कम मिलते हैं। इस आर्थिक उदासीनता तथा स्वभाव की मस्ती के कारण कलाकारों के दूसरों के साथ लड़ाई-झगड़े और संघर्ष भी कम होते हैं। किन्तु कलाकारों की यह शान्तिप्रियता पूर्णत: नैतिक गुण नहीं है, उसमें कलाकार की स्वभावगत दुर्बलता का योग भी हो सकता है। कला का अनुराग एक कोमल वृत्ति है। इसीलिये कलाओं के सौन्दर्य में माधुर्य की प्रधानता है। माधुर्य की दृष्टि से जिसे कोमलता कहा जाता है, वह ओज की दृष्टि से दुर्बलता ठहरती है। सौन्दर्य के तेजस्वी रूप की साधना बहुत

कम कलाकारों ने की है। कोमलता के कारण कलाकार युद्ध और संघर्ष से ही नहीं, अन्य कठिन कर्मों से भी दूर रहता है जिनमें श्रम और साहस की आवश्यकता है। इस दृष्टि से यदि कला को कोमलता का विलास कहा जाय तो अनुचित न होगा। संघर्ष से दूर रहने में कलाकार की शान्ति प्रियता ही नहीं उसकी कोमलताजन्य दुर्बलता भी कारण है। इस दुर्बलता के कारण ही जहाँ कलाकारों ने युद्ध और क्रान्ति के गीत बहुत कम गाये हैं, वहाँ इनमें साक्षात भाव और भी कम लिया है। चन्दवरदाई के समान युद्ध में वीर राजाओं का साथ देने वाले कवि और कलाकार बहुत कम हुए हैं। सामाजिक अनीतियों के प्रति होने वाली क्रान्तियों में भी उन्होंने बहुत कम भाग लिया है।

फिर भी इतना अवश्य मानना होगा कि किसी भी कारण से सही आर्थिक अनीति और लड़ाई-झगड़े से दूर रहकर कलाकार प्रायः सौन्दर्य की साधना करते हैं। चाहे इसका कारण निषेधात्मक ही हो चाहे उद्योग के प्रति अनुत्साह और दुर्बलता ही उनकी शान्ति प्रियता के कारण हो, किन्तु फिर भी यह मानना होगा कि अधिकांश कलाकार अर्थ-लोलुपता और अशान्तिमय संघर्षों से दूर रहते हैं। इस दृष्टि से कला मे कुछ नैतिक प्रभाव माना जा सकता है, किन्तु दो अन्य प्रवृत्तियों की दृष्टि से प्रायः कलाकार साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक दोषी ठहरते हैं। ये प्रवृत्तियाँ अहंकार और काम हैं। सभी मनुष्यों में ये स्वाभाविक होती हैं। किन्तु धर्म, कला आदि का यह दम्भ झूठा है कि वे इन प्रवृत्तियों का शमन कर सकते हैं। काम की दृष्टि से कलाकार साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक रसिक होते हैं। चित्रकला, नृत्य, संगीत आदि के अधिकांश भाव और विषय यही प्रमाणित करते हैं, कि काम का अनुराग कलाकारों में साधारण लोगों से अधिक होता है। कलाकारों का मानसिक विलास तो कला के भावों और विषयों से ही प्रमाणित किया जा सकता है। व्यावहारिक विलास का दोषारोपण भी प्रायः कलाकारों पर किया जाता है, जो नितान्त निराधार नहीं है। विलास के सहयोगी अन्य व्यसन भी अनेक कलाकारों में मिलते हैं। काम की भाँति अहंकार भी कलाकारों में अधिक मिलता है। वे अपने को साधारण लोगों से

श्रेष्ठ समझते हैं। एक कलाकार दूसरे कलाकार की प्रशंसा अथवा ख्याति सह नहीं सकता। कलाकारों में काम और अहंकार की वृत्तियों के अधिक प्रबल रहने पर यह कहना कि कला वासनाओं को शान्त करती है और सहज रूप में नैतिक श्रेय का सम्पादन करती है, उचित नहीं है। कला के अनुरागियों में कला किन्हीं नैतिक संस्कारों का उद्भावन करती है यह कहना भी ठीक नहीं है। कला के अधिकांश विषय और भाव वासना से पूर्ण हैं। कला के रूपगत सौन्दर्य की अपेक्षा साधारण जनों के लिये कला में वासना का आकर्षण अधिक महत्वपूर्ण रहता है। कलाकारों के लिये मनोविश्लेषणवाद का यह आरोपण पूर्णतः अनुचित नहीं है कि कलाकार सौन्दर्य की छाया में अपनी मनो-विकृतियों की अभिव्यक्ति करते हैं। कलाकार और कलानुरागी दोनों प्रायः काल्पनिक मनोविलास के द्वारा अपनी अतृप्त वासनाओं का सन्तोष करते हैं। नैतिकतावादियों के कला की ओर से सन्देह पूर्णतः निराधार नहीं है। सौन्दर्य की तन्मयता के द्वारा यदि कला प्रवृत्तियों को मन्द बनाती है, तो यह भी कला का कोई नैतिक संस्कार नहीं है, वरन् एक प्रकार का निषेधात्मक फल है। सौन्दर्य में तन्मय होकर मन की वृत्ति कुछ काल के लिये वासनाओं से विरत हो सकती है। किन्तु कला का यह प्रभाव निषेधात्मक होने के कारण किसी नैतिक संस्कार का निर्माण नहीं करता। वस्तुतः यह एक प्रकार का पलायन है। कला में यह पलायन बहुत मिलता है। इल पलायन में यदि एक ओर कुछ प्रवृत्तियों से विरति है, तो दूसरी ओर कुछ अन्य प्रवृत्तियों में अतिरंजित रति के द्वारा सन्तोष की खोज रहती है।

सत्य यह है कि रूप की अभिव्यक्ति के अर्थ में कोई नैतिक संस्कार कला का आवश्यक लक्ष्य नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि स्वरूप से कला निरपेक्ष है। कला की यह निरपेक्षता इन वासनाओं का शमन नहीं करती, तो दूसरी ओर वासनाओं का उत्तेजन भी कला का धर्म नहीं है। मनुष्य की प्रकृति ही अपने स्वभाव के प्रभाव से कला को वासना का माध्यम बनाती है। कला रूप प्रधान है। उसमें वासनात्मक भाव और विषयों का सन्निधान मनुष्य ने अपने स्वभाव से विवश

होकर किया है। कला का शुद्ध स्वरूप निरपेक्ष है, किन्तु ऐतिहासिक कला में वासना का दोष अधिक है। प्रकृति का संस्कार और उन्नयन एक कठिन कर्म है। प्रकृति की प्रवलता ही इसमें सबसे अधिक बाधक है। व्यक्तिगत तप की निष्ठा और सामाजिक सद्भाव का शील ये दो प्रकृति के संस्कार में विशेष सहायक हैं। कला की साधना स्वयं एक तप है किन्तु प्रकृति के संस्कार के योग्य तप का कला में कोई स्थान नहीं है। सामाजिक दुर्भाव के लिये कला में स्थान नहीं है, किन्तु विशेष रूप से वह सद्भाव का पोषण नहीं करती। वस्तुतः कला का रूप-प्रधान स्वरूप प्राकृतिक प्रवृत्तियों की ओर से उदासीन है। यह उदासीनता यदि प्रकृति का उत्तेजन नहीं करती तो प्रकृति के संस्कार और उन्नयन में भी कोई योग नहीं देती। नैतिक चरित्र के निर्माण अर्थात् प्रकृति के संस्करण और उन्नयन के लिये प्रकृति के प्रति अधिक सक्रिय दृष्टिकोण अपेक्षित है। इस दृष्टिकोण के तीन पक्ष हैं। सबसे पहली बात प्रकृति का 'स्वीकरण' है। कला संभवतः धर्म और अध्यात्म की भाँति आदर्शवादी नहीं है। वह प्रकृति की भर्त्सना और उपेक्षा नहीं करती। किन्तु साथ ही प्रकृति के स्वीकरण के योग्य यथार्थवाद भी कला में स्पष्ट नहीं है। दूसरी बात विकृतियों की संभावनाओं को रोकना है। यह एक मर्यादा के अन्तर्गत प्रकृति के परितोष और विकृतियों की दिशाओं में मर्यादा की अर्गला के द्वारा संभव होता है। ऐसी कोई मर्यादा कला के स्वरूप का अंग नहीं है। तीसरी बात कुछ सरल भावों के द्वारा अलक्षित रूप से प्रकृति का श्रेष्ठ आदर्शों में अन्वय है। संस्कृति में प्रकृति के संस्कार और उन्नयन के उक्त तीनों ही तत्व विद्यमान रहते हैं। इन तीनों तत्वों की त्रिवेणी ही संस्कृति को सौन्दर्य, शील और सत्य का तीर्थ बनाती है। ये तीनों तत्व भी संस्कृति को कला से पृथक करते हैं। भारतीय संस्कृति के प्रतीकों, पर्वों, संस्कारों, व्रतों आदि में इन तीनों तत्वों का विपुल सामंजस्य मिलता है। कला के रूपों में चरितार्थ होने वाले प्रतीक प्रकृति के आधारों में उन भावों की प्रतिष्ठा करते हैं, जो प्रकृति के संस्कार और उन्नयन का पथ प्रशस्त करते हैं। संस्कारों का उद्देश्य स्पष्ट रूप से प्रकृति का ग्रहण करके उसका परिष्कार करना है।

व्रतों की व्यक्तिगत साधना में तप का सन्निवेश है जो प्रकृति के संस्कार के लिये संयम और मर्यादा की आवश्यक भूमिका बनाता है। प्रकृति के स्वीकरण, संस्करण और उन्नयन की त्रिवेणी के तीर्थ में ही पर्वों के पवित्र और आनन्दमय उत्सव सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार संस्कृति की योजना में प्रकृति के संस्करण और उन्नयन की सक्रिय प्रेरणा है, जो संस्कृति को कला से पृथक करती है।

जिस प्रकार संस्कृति और कला में अन्तर है, उसी प्रकार संस्कृति और दर्शन में भी अन्तर है। कला सौन्दर्य के रूपों की साधना है। कलाकार की प्रतिभा नये-नये रूपों की अभिव्यक्ति के द्वारा सौन्दर्य की अर्चना करती है। नये-नये रूपों की रचना में ही कला की परम्परा अमर रहती है। कला के स्वरूप का सम्बन्ध विशेषतः रूपों से ही है। जो तत्व इन रूपों में साकार होते हैं वे दर्शन की सम्पत्ति हैं। दर्शन में रूप का कोई महत्व नहीं है। उसका प्रयोजन केवल तत्व से है। वह तत्व जिस रूप में साकार होता है उसके अतिशय और सौन्दर्य के प्रति दर्शन का कोई अनुराग नहीं है। तत्व में रूप के अतिशय और सौन्दर्य का संगम होते ही कला का जन्म होता है। कलाओं में प्रायः रूप की ही प्रधानता होती है। संगीत, नृत्य, चित्र आदि में तत्व अथवा भाव की अपेक्षा रूप का ही अतिशय अधिक होता है। काव्य एक ऐसी कला है जिसमें रूप के साथ-साथ भाव तत्व की ही प्रधानता है। रूप और भाव दोनों के अतिशय का साम्य होने पर पूर्ण काव्य की सृष्टि होती है। 'रघुवंश' के मंगलाचरण में कालिदास ने जिसे वाक् और अर्थ की संपृक्ति कहा है वहां रूप और भाव तत्व का साम्य है। अर्धनारीश्वर के रूप में पार्वती और शिव का साम्य काव्यगत रूप और भाव के साम्य की सर्वोत्तम उपमा है। वन्दना के व्याज से कालिदास ने इस मंगलाचरण में काव्य के उत्तम रूप की परिभाषा ही नहीं, वरन् उसका उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। भारतीय दर्शनों में जहाँ भाव के अतिशय में रूप के अतिशय का संयोग हुआ है, वहाँ दर्शन काव्य बन गया है। गीता, सौन्दर्य लहरी आदि इस के उदाहरण हैं। किन्तु वस्तुतः रूप के अतिशय से दर्शन का प्रयोजन नहीं हैं। भाव का अतिशय भी दर्शन को अभीष्ट नहीं हैं।

दर्शन के लिये रूप केवल भाव-तत्व की अभिव्यक्ति का एक अनिवार्य माध्यम है। तत्व के अनुकूल उसकी यथार्थता दर्शन के लिये पर्याप्त है, उसका अतिशय अपेक्षित नहीं है। दर्शन में तत्व की चाहे कितनी ही विपुलता हो किन्तु उसके अतिशय की अपेक्षा उसकी यथार्थता ही दर्शन के विश्लेषणों और दर्शन की व्याख्याओं का उद्देश्य है। जीवन के रहस्यों की विपुलता के कारण यदि दर्शन के तत्व अतिशय की ओर अभिमुख रहते हैं, तो दर्शन की भूमि काव्य के क्षितिजों का स्पर्श करती है। जैसा कि उपनिषदों के समान दर्शन के प्राचीन ग्रन्थों में दिखाई देता है। किन्तु तत्व की यथार्थता ही दर्शन का स्वरूप है और वह आधुनिक दर्शनों में प्रकट हुई है। तर्क इस यथार्थता का निर्णायक है। इसीलिये दर्शनों में तर्कशीलता बढ़ती गयी है। विश्लेषण अर्थ की सीमाओं का निर्धारण करता है। इसीलिये दर्शनों में विश्लेषण की प्रधानता रहती है। तत्व के यथार्थ निरूपण के लिये तत्व और रूप का साम्य दर्शन को अभीष्ट है, किन्तु इन दोनों का अतिशय दर्शन के अनुकूल नहीं है। यदि यह कहा जाय कि सूक्ष्मतम अर्थतत्व (चाहे वह कितना ही महान हो) की अल्पतम रूप में अभिव्यक्ति दर्शनों का गुण है। विज्ञान और दर्शन में तत्व और रूप का साम्य काव्य की भाँति उनके अतिशय का साम्य नहीं है, वरन् उनकी यथार्थता अथवा अल्पता का साम्य है, जिन्हें हम अनतिशय के रूप में समझ सकते हैं। किन्तु इस साम्य में भी विज्ञान और दर्शन के लिये तत्व ही मुख्य है। रूप उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति का केवल एक आवश्यक माध्यम है। दर्शन के तत्व की यथार्थता को तत्व अथवा अर्थ कहना अधिक उचित है। यों भाव समस्त सत्ता का द्योतक है किन्तु साहित्य के प्रयोग में वह अर्थ अथवा तत्व के अन्तर्निहित अतिशय को लक्षित करता है। तत्व के अतिशय के अर्थ में भाव का प्रयोग करने से सिद्धान्तों की आलोचना में कुछ सीमायें अधिक स्पष्ट रहेगी। तत्व और रूप की यथार्थता को 'अभिधान' कहते हैं। यह यथार्थता ही अभिधा का लक्षण है। सम्बन्धों के द्वारा भाव का विस्तार लक्षण है। भाव और रूप दोनों का अतिशय व्यंजना बन जाता है। दर्शन का लक्षणा और व्यंजना से कोई प्रयोजन नहीं है। ये कला, काव्य और संस्कृति के क्षेत्र की शक्तियां हैं।

इस दृष्टि से कला और दर्शन एक दूसरे के विपरीत हैं। कला में रूप का राज्य है और दर्शन में तत्व की निधि है। दोनों का उद्भावन प्रकट रूप में व्यक्तित्व की इकाईयों के द्वारा होता है, यद्यपि व्यक्तित्व के पूर्ण एकान्त में ये दोनों संभव हो सकते हैं यह संदिग्ध है। फिर भी तत्व में अनुरक्त दर्शन अन्य सभी ओर से उदासीन रहता है। कलाकार भी रूप की आराधना में लीन दिखाई देता है। दोनों के अन्तर मन में समात्मभाव की सूक्ष्म आकांक्षा निहित रहती है किन्तु तत्काल में दार्शनिक और कलाकार अपने में और अपनी साधना में लीन दिखाई पड़ते हैं। सामाजिक समात्मभाव की आकांक्षा उनमें प्रकट नहीं होती। उसके प्रकट होते ही उनकी साधना में संस्कृति का समागम होता है। अपने स्वरूप में प्राय: कला और दर्शन दोनों व्यक्तिगत समझे जाते हैं। प्रकट रूप में उनका स्रोत व्यक्तिगत साधना में ही है, चाहे समात्मभाव का अन्त-र्भाव इस साधना के गर्भ में रहता हो। किन्तु प्रकट और साक्षात समात्मभाव इनकी साधना का उद्देश्य नहीं और न इनके स्वरूप का आवश्यक अंग है। दर्शन का उद्देश्य और स्वरूप तत्व का यथार्थ निर्धारण है। कला का उद्देश्य और स्वरूप नये-नये रूपों की अभिव्यक्ति है। समात्मभाव की आस्था के बिना ये अपने स्वरूप की साधना में तत्पर हो सकते हैं, यह सन्देहास्पद है। किन्तु प्रकट रूप में ये तत्व की यथार्थता और रूप के अतिशय की साधना व्यक्तित्व के एकान्त में ही करते हुए दिखाई देते हैं। दर्शन का तत्व स्थायित्व की कामना करता है। कला का रूप इतिहास में स्थायी होते हुए भी अपनी नवीनता के सौन्दर्य में रूप के स्थायित्व का खण्डन करता है। अनेक होते हुए भी दर्शन के तत्व सामान्य होने का दंभ करते हैं। इसके विपरीत कला के रूपों का सौन्दर्य उनकी विशेषता में है। दर्शन के तत्व और कला के रूपों के अनेक होते हुए भी दोनों में यह एक महत्वपूर्ण भेद है।

संस्कृति का स्वरूप कला और दर्शन दोनों से भिन्न है, यद्यपि दोनों के साथ उसकी बहुत कुछ समानता है। कला के समान संस्कृति में भी रूपों का महत्व है। किन्तु जहाँ कला नये-नये रूपों की रचना है, वहाँ संस्कृति चिरन्तन रूप की आराधना है। कला के रूप व्यक्ति की रचना

हैं, संस्कृति के रूप अनादि, अकृत और सामाजिक होते हैं। सामाजिक समात्मभाव के द्वारा ही इन रूपों का सौन्दर्य सांस्कृतिक जीवन में आनन्द की सृष्टि करता है। दर्शन के तत्वों में समानता की संभावना अधिक रहती है। क्योंकि सामान्यता उनका अभीष्ट रहती है। भिन्न-भिन्न देशों और समाजों के लोगों में दार्शनिक मान्यताओं में समानता हो सकती है। कला के रूपों में भी इसी प्रकार की समानता संभव है। कला के रूप बदलते रहते हैं। इसलिये उनके किसी विशेष रूप के सम्बन्ध में कोई विशेष अनुरोध नहीं रहता। भारतीय संगीत के खयाल और ठुमरी की तरह कला के कुछ ही रूप ऐसे हैं जो सांस्कृतिक रूप में ढल जाने के कारण स्थायी परम्परा बन जाते हैं। संस्कृति के रूप एक विशेष समाज की स्थायी निधि होते हैं। विशेषता ही उनका सौन्दर्य है। कला और संस्कृति के रूपों में एक और अन्तर है। कला में रूप का अतिशय अधिक होता है। काव्य में भाव का अतिशय अधिक होने पर भी उसमें रूप का प्रचुर अतिशय भी सौन्दर्य का कारण होता है। इसके विपरीत संस्कृति के रूप बड़े सरल होते हैं। उनमें रूप का अतिशय अल्प होता है। उनके रूप का सौन्दर्य रूप के अतिशय पर नहीं, वरन् रूप की विशेषता, इस विशेषता की चिरन्तन परम्परा और इनकी भूमिका में सम्पन्न होने वाले विपुल सामाजिक समात्मभाव पर अधिक निर्भर करता है। यदि सौन्दर्य को हम रूप का अतिशय माने तो यही कहना उचित होगा कि संस्कृति में सन्दर्भ की अपेक्षा आनन्द अधिक होता है। आनन्द भाव का अतिशय है। संस्कृति में यद्यपि कलाओं का अन्तर्भाव है फिर भी सस्कृति कला की समानार्थक नहीं है। कला रूप की एकांगी साधना है। संस्कृति साक्षात और समग्र जीवन का सुन्दर और आनन्द-मय रूप है। अतिशय से युक्त कुछ चिरन्तन रूप उसके अवलम्ब होते हैं। किन्तु ये रूप अत्यन्त सरल होते हैं। इन रूपों के निमित्तों में जो भाव का अतिशय प्रकाशित होता है, वही संस्कृति की सबसे उत्तम विभूति है। भारतीय संस्कृति के अधिकांश रूप अत्यन्त सरल हैं। स्वस्तिक, सप्तपदी, वन्दना, तिलक आदि आकार और आचार के अत्यन्त सरल रूप हैं। इनमें कुछ रूपों के निर्वाह में अनेक सूक्ष्म विशेषताएँ

विधि, उपकरण आदि के रूप में सन्निहित रहती हैं। इन विशेषताओं को हम उप-रूप कह सकते हैं। ये उपरूप प्रधानरूप के अतिशय को अधिक सम्पन्न बनाते हैं, किन्तु फिर भी संस्कृति के रूपों में रूप के अतिशय की अपेक्षा भाव का अतिशय ही अधिक होता है। इस दृष्टि से संस्कृति कलाओं में काव्य के सबसे अधिक निकट है। इसीलिये भावपूर्ण काव्य और संगीत संस्कृति की परम्परा के दृढ़ अवलम्ब रहे हैं। भाव का यह अतिशय संस्कृति में जीवन के साक्षात भाव के रूप में अधिक होता है। यही संस्कृति की सजीवता का लक्षण है। कलाओं में इस भाव का सन्निधान कला के स्वरूप में ही होता है। इसलिये जहाँ कला स्वरूप से संस्कृति की अपेक्षा अधिक भाव-सम्पन्न होती है, वहाँ दूसरी ओर संस्कृति की अपेक्षा कम क्रियात्मक होती है, क्योंकि स्वरूप में सन्निहित होने के कारण उसके भाव मनुष्यों की सचेष्ट क्रिया से सम्पन्न नहीं होते। भावों की सक्रियता और सृजनात्मकता के कारण संस्कृति अधिक आनन्दमय होती है। 'संस्कृति' कला, धर्म, दर्शन आदि की समष्टि नहीं, वरन् इनका स्रोत और उपजीव्य है। संस्कृति के अंचल में ही प्राचीन काल से धर्म, दर्शन, कला आदि पलते रहे हैं। आज भाव की सृष्टि में मनुष्य की चेष्टा कम हो जाने के कारण जीवन में संस्कृति का अवलम्ब दुर्बल हो गया है। इसी कारण अपने रूपों में अत्यन्त समृद्ध होते हुए भी कलाओं का मूल्य और महत्व बहुत कम हो गया है। सामाजिक सम्बन्धों में साक्षात् रूप में अनूदित न होने पर कलाओं के स्वरूप में सन्निहित भाव अपने आप में अधिक प्रभाव और महत्व नहीं रखता। इसीलिये कलाएँ महत्वहीन होने के साथ-साथ प्रभावहीन हो गई हैं। श्रीमानों और सत्ताधारियों की कला-रुचि के आडम्बर को कला का महत्व समझना भूल है। यह भूल समाज का भ्रम और कलाकारों की दुर्बलता है। कलाओं का वास्तविक मूल्य और महत्व संस्कृति के अनुरूप होता है। संस्कृति का भाव जीवन का प्राण है, जिसकी चेष्टा से कलाओं के अंग सजग रहते हैं।

६. भारतीय संस्कृति में प्रतीकों की विभूति—

रूपों की विशेषता के निमित्तों में सम्पन्न होने वाला विपुल सामाजिक समात्मभाव ही संस्कृति का जीवन है। भारतीय परम्परा में इसी रूप में संस्कृति प्रतिष्ठित रही है। इस समात्मभाव की भूमि में जीवन के अनेक भाव-तत्व प्रतीकों के रूपों में समाहित रहे हैं और संस्कृति के आचारों में सम्पन्न होते रहे हैं। दर्शन के उदासीन और व्यक्तिगत रूप में इन भाव-तत्वों का निदर्शन तटस्थ रूप में होता है। किन्तु संस्कृति में ये जीवन के सामान्य आचार और नय के रूप प्रतिष्ठित होते हैं। दर्शन और संस्कृति में यही अन्तर है। दर्शन के उदासीन सिद्धान्त निर्जीव होते हैं। इसीलिये उनमें जीवन की प्रेरणा नहीं होती। संस्कृति में अन्वित होकर वे जीवन की प्रेरणा बन जाते हैं। संस्कृति के रूपों में दर्शन के भाव-तत्व एक सहज और सजीव रूप में समाहित हैं। संस्कृति के सभी रूपों और आचारों में उनका सन्निधान है। संस्कृति के प्रतीक उनके विशेष प्रतिनिधि हैं। इन्हें हम दार्शनिक भाव-तत्वों का सांस्कृतिक प्रतिनिधि कह सकते हैं। आकार, आचार आदि के अत्यन्त सरल रूप जीवन के विपुलभाव तत्वों से सम्पन्न हैं। किन्तु दर्शन और संस्कृति के भाव-तत्वों में यह अन्तर है कि दर्शन के भाव-तत्व स्पष्ट और अभिधेय होते हैं। उनका स्वरूप और अभिप्राय सदा प्रत्यक्ष और अनावृत रहता है। चाहे व्यवहार में उनका आचरण हो या न हो किन्तु उनका स्वरूप तिरोहित नहीं होता। इसके विपरीत संस्कृति के रूप और आचार में दार्शनिक भाव तत्व अन्तर्निहित रहते हैं। वे प्रकट और स्पष्ट नहीं रहते। आचार और व्यवहार में संस्कृति के विशेष रूपों का पालन होता है, वे अभिधा के द्वारा उन भाव तत्वों को घोषित नहीं करते। ये भाव-तत्व उन रूपों के लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ हैं। लक्षणा और व्यंजना के द्वारा सांस्कृतिक रूपों के प्रतीक जीवन के भाव तत्वों को प्रकाशित करते हैं। लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ रूपों के स्वरूप में निहित नहीं रहते, वरन् सम्बन्ध और समात्मभाव के अतिशय में प्रकट होते हैं। इसीलिये सम्बन्ध और समात्मभाव संस्कृति के सूत्र हैं। इन सूत्रों से ही संस्कृति का पट बुना जाता है। इन सूत्रों के दृढ़ रहने पर ही

संस्कृति दृढ़ रहती है। इनके शिथिल होने पर संस्कृति का प्रकाश मन्द हो जाता है। ये सूत्र ही संस्कृति के जीवन तन्तु हैं। इनके शिथिल होने पर संस्कृति का जीवन मन्द और मरणोन्मुख हो जाता है। भारतीय संस्कृति की व्यवस्था में सम्वन्ध और समात्मभाव के सूत्र दीर्घ और सघन हैं। दैनिक आचार से लेकर विशेष पर्वों तक उनका विस्तार है। इन्हीं सूत्रों के सहारे भारतीय संस्कृति अब तक जी रही है, जबकि अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं। भारतीय संस्कृति बडी समृद्ध हैं। उसके प्रतीकों, पर्वों, संस्कारों, व्रतों आदि की संख्या इतनी अधिक है कि किसी भी संस्कृति में मिलना कठिन है। कर्म, आचार, विधि, उपकरण, सम्बन्ध आदि की भी जटिलता भारतीय संस्कृति में बहुत है। सांस्कृतिक रूप का प्रत्येक पुष्प एक विशाल वृक्ष पर खिलता है और अनेक दीर्घ मूलों से रस पाता है। यदि जटिलता को सृष्टि के विकास का मानदण्ड माना जाय तो भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता अतुलनीय है। संस्कृति का प्रत्येक रूप एक अत्यन्त जटिल व्यवस्थाओं में सम्पन्न होता है और इस जटिलता की सीमा यह है कि समस्त जीवन ही संस्कृति की योजना में गुंफित है। जीवन का कोइ भी क्षण अथवा अंग शुद्ध रूप में प्राकृतिक नहीं रह गया है। मानों समग्र जीवन ही सांस्कृतिक रूपों से रंजित होकर संस्कृति के साथ एकाकार हो गया है। संस्कृति की जटिलता और व्यापकता के कारण भारतीय परम्परा में जीवन और संस्कृति एक दूसरे के पर्याय वन गये हैं। इस जटिलता के कारण जहाँ भारतीय संस्कृति अत्यन्त श्रेष्ठ और सबल वनी हैं, वहाँ दूसरी ओर उस संस्कृति का निर्वाह भी वड़ी सजगता और सचेष्टता की अपेक्षा रखता है। अब तक भारतीय संस्कृति अपने स्वरूप की जटिलता और सवलता तथा उसके प्रति भारतीयों की निष्ठापूर्ण सजगता के आधार पर जीवित रही है। उसके सौन्दर्य-पुष्प नवीन वसन्तों में खिलकर सौरभ का प्रसार करते रहे हैं। इन्हीं आधारों के वल से भारतीय संस्कृति अनेक विदेशी आक्रमणों को झेल कर भी उसी प्रकार अक्षुण्ण रही है, जिस प्रकार वट का वृक्ष भीषण आंधियों को झेलकर भी अचल रहता है। भारतीय संस्कृति की तुलना में दूसरी संस्कृतियाँ जो नष्ट हो गईं, वे उन छोटे वृक्षों

के समान थी, जो काल और आक्रमणों के आघात को नहीं सह सके। उनमें सभी संस्कृतियों पर ऐसे भीषण आक्रमण नहीं हुए जैसे कि भारतीय संस्कृति पर हुए हैं। फिर भी वे कम जटिल व्यवस्था वाले जीवों और वृक्षों के समान अल्पायु रहे। भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त जो संस्कृतियाँ आज जीवित हैं उनको किसी आक्रमण का सामना नहीं करना पड़ा। उनके स्वरूप में इतनी जटिलता और सौन्दर्य में इतनी सम्पन्नता नहीं है। इन संस्कृतियों में संस्कृति के रूपों की अपेक्षा धर्म, सभ्यता और कला के तत्व अधिक हैं। जिनमें सभ्यता और कला के तत्व कम हैं, उनमें संस्कृति के तत्व अपेक्षाकृत अधिक हैं। पश्चिम को जिस संस्कृति का गर्व है उस संस्कृति में सभ्यता और कला के बदलते हुए रूपों की विपुलता है। इनके अतिरिक्त संस्कृति के स्थान पर एक धर्म की रूढ़ि है, जिसकी सभ्यता के साथ बहुत कम संगति है। जो चिरन्तन रूप संस्कृति के प्रमुख अवलम्ब हैं, वे पश्चिमी संस्कृति में बहुत कम हैं। सभ्यता को ही संस्कृति समझ लेने के कारण और धर्म की चिरन्तन रूढ़ियों को संस्कृति के स्थान पर पूजने के कारण पश्चिम के लोग अपनी संस्कृति पर गर्व करते है, क्योंकि एक ओर सभ्यता में विज्ञान के वरदान से वैभव के रूप बढ़ते जा रहे हैं और दूसरी ओर धर्म के तत्वों में सिद्धान्त की दृष्टि से गर्व करने योग्य बहुत कुछ है।

किन्तु दूसरी संस्कृतियाँ वस्तुतः इतनी सम्पन्न नहीं हैं, जितनी कि उनके मानने वाले उन्हें मानते हैं। उन संस्कृतियों के रूप इतने बहु-संख्यक और इतने जटिल नहीं हैं। उनकी सांस्कृतिक विधियां बहुत अल्प और सरल हैं। इन कारणों से इन संस्कृतियों को मानने वाले सरलता से इन रूपों की आराधना कर सकते हैं। इस सरलता के कारण ही इन संस्कृतियों में परिवर्तन की प्रथा चली है। वस्तुतः संस्कृतियों का परिवर्तन नहीं होता। इसीलिये यह परिवर्तन धर्म परि-वर्तन कहलाता है। परिवर्तन का धार्मिक रूप इस बात का प्रमाण है कि उन संस्कृतियों में सांस्कृतिक गौरव कम और धार्मिक प्रभुत्व अधिक है। संघवादी धर्मों में व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके कर्त्तव्य की अपेक्षा संघ का प्रभुत्व अधिक है। अतः संघ को समर्पित करके मनुष्य

अपने धर्म का परिवर्तन सरलता से कर सकता है। उस धर्म के पीछे कोई जटिल और विस्तृत सांस्कृतिक परम्परायें न होने के कारण उसकी रूढ़ियों को अपनाने में कोई कठिनाई नहीं होती। एक धर्म को छोड़कर मनुष्य दूसरे धर्म में इसी प्रकार चला जाता है, जिस प्रकार धान अथवा अन्य छोटे पौधे एक स्थान से उखाड़ कर दूसरे स्थान पर लगा दिये जाते हैं। 'वट' आदि के समान जिन वृक्षों की जड़े लम्बी और गहरी होती हैं, उन्हें हटाकर दूसरे स्थान पर नहीं लगाया जा सकता। जिस समाज की संस्कृति अधिक सम्पन्न होती है, उसके सदस्य लम्बी और गहरी जड़ों वाले वट वृक्ष के समान हैं। वे सहसा अपनी संस्कृति को छोड़कर दूसरी संस्कृति को नहीं अपना सकते। भारतवर्ष की संस्कृति इतनी सम्पन्न थी कि यहाँ के निवासी किसी भी दूसरी संस्कृति को ग्रहण नहीं कर सकते थे। भारतवर्ष में आक्रमणकारियों की विजय राजनीतिक और सैनिक विजय थी, वह सांस्कृतिक विजय नहीं थी। भारतवर्ष में जो कुछ धर्म परिवर्तन हुआ, वह तलवार के जोर से हुआ। प्राण संकट होने पर मनुष्य धर्म, संस्कृति आदि सबको छोड़ सकता है। शक्ति और शासन के आतंक के द्वारा भी इस्लाम और ईसाई धर्म भारतवर्ष को उस प्रकार नहीं जीत सके, जिस प्रकार वे निकट पश्चिम और सुदूर पश्चिम के देशों को जीत सके। उन देशों की पराजय का कारण उनकी सैनिक शक्ति की कमी के साथ-साथ सांस्कृतिक दीनता भी थी। इस्लाम धर्म का प्रचार चाहे तलवार के बल पर हुआ हो, किन्तु ईसाई धर्म का प्रचार सर्वत्र तलवार के द्वारा नहीं हुआ। योरोप में ईसाई धर्म के प्रचार का कारण यही था कि ईसा के पूर्व वहाँ कोई सम्पन्न संस्कृति नहीं थी। इसीलिये योरोप में संस्कृति के स्थान पर लगभग एक हजार वर्ष तक धर्म का साम्राज्य रहा।

पश्चिमी धर्म और संस्कृति के रूप अल्प और सरल होने के कारण दूसरों के लिये भी इनका अपनाना सरल है। इसीलिये ईसाई और इस्लाम धर्मों का धर्म परिवर्तन कुछ सफल हुआ। इसीलिये आज पश्चिमी सभ्यता का प्रचार बढ़ता जा रहा है। कुछ सरल अथवा आकर्षक बाह्य रूपों को ग्रहण करना सुगम है। किन्तु जटिल और

बहुसंख्यक सांस्कृतिक रूपों को अपनाना कठिन है। इसलिये भारतीय धर्म और संस्कृति में न परिवर्तन की व्यवस्था की गई है और न अधिक लोग इसको अपनाने के लिये आकर्षित हुए। परिवर्तन के लिये बल का प्रयोग तो अधार्मिक और असांस्कृतिक है। अतः भारतीय परम्परा में बलपूर्वक परिवर्तन का स्थान नहीं है। ऐसा अधार्मिक और असुन्दर कर्म भारतीय धर्म और संस्कृति में स्थान नहीं पा सकता। फिर भी जिन इने-गिने लोगों ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से भारतीय धर्म और संस्कृति को अपनाया है, वे भी उसे पूर्णता के साथ नहीं अपना सके। कुछ विचारक इसको संस्कृति की शक्ति मानते हैं कि वह बाहरी तत्वों और वर्गों को अपने में मिलाकर आत्मसात कर सके। उनका मत है कि भारतीय सस्कृति में यह शक्ति ही उसका सबसे बड़ा गुण थी। इसी के कारण अनेक आक्रमणकारी जातियाँ भारतवर्ष में घुलमिल गई। किन्तु सत्य यह है कि वे आक्रमणकारी जातियां अपने मूल स्रोतों से विच्छिन्न न होकर भारतीय समाज में मिल गई। जटिल और सम्पन्न भारतीय संस्कृति को अपनाने में उन्हें बहुत समय लगा होगा। दूसरी ओर स्वयं भारतीय भी इसकी सम्पन्नता को संभाल नहीं पा रहे थे। अतः धीरे-धीरे उसकी जटिलता कुछ कम होती गई तथा इन जातियों को इस संस्कृति के साथ समायोजन करना कम कठिन हो गया। प्रयत्न करने पर दीर्घकाल में कोई भी कुल एक नवीन संस्कृति को अपना सकता है। हर पीढ़ी के साथ यह कर्म अधिक सरल होता जाता है। क्योंकि संस्कृति संस्कारों की परम्परा है। जिन विविध और सम्पन्न रूपों में संस्कृति प्रतिष्ठित रहती हैं, वे संस्कारों की दीर्घ परम्परा के द्वारा ही अपनाये जाते हैं और इसी प्रकार उनका निर्वाह होता है। किन्तु स्वरूपतः दूसरों को अपने समाज में आत्मसात कर लेना संस्कृति की शक्ति नहीं, वरन् उसकी दुर्बलता और दीनता है। इसकी अपेक्षा नवीन रूपों और तत्वों का सन्निधान संस्कृति का कुछ अधिक महत्वपूर्ण गुण है। किन्तु सांस्कृतिक प्रक्रिया में यह बहुत कम होता है और इसका बहुत कम महत्व है। मुख्यतः संस्कृति विशेष और चिरन्तन रूपों की आराधना ही है। संस्कृति की स्वरूपगत शक्ति उसके रूपों की प्रचुरता और उनकी

सम्पन्नता है। सम्बन्ध, क्रिया और भाव के विस्तार जितने विपुल और दीर्घ होते हैं, उतनी ही संस्कृति अधिक सम्पन्न होती है। किन्तु जटिलता के कारण दूसरों के लिये उसका अपनाना और उस संस्कृति के मानने वालों के लिये उसका निर्वाह करना उतना ही कठिन होता है। इसीलिये इतना ही नहीं है कि भारतीय संस्कृति दूसरों को अपनी ओर अधिक आकर्षित नहीं कर सकी है, वरन् साथ ही साथ यह भी है कि स्वयं भारतीय समाज में भी उसका निर्वाह कठिन होता गया। इसी कठिनाई से अत्यन्त प्राचीन वैदिक कला में रूपों और विधियों की इन जटिलताओं के निर्वाहों के लिये पुरोहित वर्ग का उदय हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे संस्कृति के रूपों से समाज का सम्पर्क घटता गया। पुरुष प्रकृति, व्यापार, युद्ध आदि में अधिक संलग्न रहे। अतः स्त्रियों के आचार, संस्कार, स्मृति आदि में ही संस्कृति का सूत्र कुछ अक्षुण्ण बना रहा। साधारण लोक भी कुछ सांस्कृतिक कर्मों में भाग लेता रहा। इस प्रकार नारी और लोक के योग से भारतीय संस्कृति की परम्परा आज तक जीवित रही है। किन्तु नैतिक और मानसिक साधनों की दीनता के कारण इनकी क्षमता भी क्षीण होती जा रही है। अभिजात वर्ग कुछ लौकिक और प्राकृतिक स्वार्थों को अधिक महत्व देता है। अतः वह प्राकृतिक सुखों की पश्चिमी सभ्यता को वेग से अपना रहा है। साधारण लोक समाज भी उसका अनुकरण कर रहा है। पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति को अपनाना अत्यन्त सरल है, क्योंकि उसके रूप प्राकृतिक दृष्टि से आकर्षक और व्यावहारिक दृष्टि से सरल हैं। उनके पीछे विधि और भाव की ऐसी जटिल परम्परायें नहीं हैं, जिनको अपनाना कठिन हो। किन्तु दूसरी ओर ऐसी दीन संस्कृति को अपनाकर भारतीयों का समृद्ध मन सन्तुष्ट नहीं हो सकता। आधुनिक भारतीय जीवन की भाव शून्यता और रसहीनता का यही कारण है। वही पश्चिमी सभ्यता जिसमें पश्चिम के लोग संभवतः प्रसन्न हैं, भारतीयों को उल्लास और आनन्द नहीं दे पा रही है। इसका कारण पश्चिमी संस्कृति की दीनता ही है। अपनी समृद्ध संस्कृति को अपना कर ही भारतीय आत्मा प्रफुल्ल और प्रसन्न हो सकती है।

भारतीय संस्कृति अपने रूपों, विधियों, सम्बन्धों, भावों, परम्पराओं आदि में अत्यन्त समृद्ध है। उसके रूप संख्या में ही अधिक नहीं है, वरन् इन रूपों की आराधना की विधियाँ, सामग्रियां, सम्बन्ध आदि भी अत्यन्त जटिल और विपुल हैं। इस जटिलता के कारण ही जहाँ एक ओर दूसरों को भारतीय संस्कृति का अपनाना कठिन रहा, वहाँ दूसरी ओर स्वयं भारतीयों के लिये भी उसका निर्वाह सजगता और सचेष्टता की अपेक्षा करता रहा। इस सजगता और सचेष्टता में स्वभाव और इतिहास की बाधाएँ रहीं। इसलिये स्वयं भारतीयों के जीवन में भी अपनी संस्कृति के सम्पन्न सौन्दर्य का प्रभाव कम होता गया। इतिहास का प्रभाव दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक हुआ। इसलिये संस्कृति का सौन्दर्य अपने रूपों की जटिलता और विशेषता में उत्तर भारत में अधिक मन्द हुआ। दक्षिण भारत में रूपों, विधियों आदि की जटिलताएँ अपनी विशेषताओं के साथ इतने सम्पन्न रूप में सुरक्षित हैं कि उत्तर भारत के निवासियों के लिये उनका अनुकरण करना भी कठिन है। धर्म, कला, आचार आदि सभी क्षेत्रों में यह अन्तर अवलोकनीय है। दक्षिण भारत के मन्दिरों के विशाल और जटिल स्थापत्य की तुलना में उत्तर भारत के मन्दिर बहुत फीके मालूम होते हैं। दक्षिण के मन्दिरों की पूजा-चर्या की विधि भी उत्तर की अपेक्षा अधिक जटिल है। उत्तर भारत में भी प्रमुख धर्म सम्प्रदाय और मन्दिर दक्षिणी आचार्यों द्वारा ही प्रतिष्ठित किये गये हैं। आचार की विधियों में भी दक्षिण भारत में अनेक जटिल और सम्पन्न विशेषताएँ सुरक्षित हैं, जो उत्तर में लुप्त हो गईं। फिर भी भारतीय संस्कृति अपने स्वरूप से ही सम्पन्न है। अतः उत्तर में भी सांस्कृतिक विशेषताएँ बहुत परिमाण में सुरक्षित रह गईं। धार्मिक कर्म विधि तो पुरोहित का कर्तव्य बन गई। किन्तु लोक संस्कार की विधियाँ सामाजिक लोक जीवन में अपनी विपुल विशेषताओं के साथ लोक-परम्पराओं में सुरक्षित रही हैं। पश्चिमी सभ्यता के प्राकृतिक आकर्षण और प्रभाव के कारण यह परम्परा अब कुछ मन्द हो रही है, किन्तु यह आकर्षण और प्रभाव भी दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक है और इसका कारण भी दक्षिण की तुलना में

उत्तर भारत की सांस्कृतिक दीनता है। विदेशी संस्कृति से वे ही अधिक प्रभावित होते हैं, जो या तो मूलत: समृद्ध संस्कृति से सम्पन्न नहीं होते या जिनकी संस्कृति की सम्पन्न परम्परा शिथिल हो जाती है।

इस शिथिलता का प्राकृतिक कारण यह है कि यद्यपि संस्कृति का स्वरूप विशेष रूपों की विपुलता में सम्पन्न होता है, फिर भी ये रूप-मात्र संस्कृति की शक्ति नहीं है। संस्कृति की शक्ति इन रूपों के व्यवहार की जटिल विधियों में रहती है। इस निर्वाह के पीछे जीवन के उन भाव-तत्वों की प्रेरणा रहती है जो रूपों और विधियों के प्रतीकों के अन्तर्निहित तत्व हैं। इन्हें संस्कृति का दार्शनिक पक्ष कह सकते हैं। केवल इतना अन्तर है कि संस्कृति में ये भाव-तत्व केवल उदासीन सिद्धान्त के रूप में नहीं रहते, वरन् सजीव रूप में रहते हैं। ये सजीव भाव तत्व संस्कृति की आत्मा है। इन्हीं से अनुप्राणित होकर सांस्कृतिक विधियों के अंग संचालित होते हैं और रूपों का सौन्दर्य यौवन की देह के समान खिलता है। इनके बिना विधियाँ शिथिल और रूप श्रीहीन हो जाते हैं, जिस प्रकार आत्मा के बिना अंग निष्क्रिय और देह का रूप निष्प्रभ हो जाता है। सांस्कृतिक रूपों के प्रतीक जीवन के इन भाव-तत्वों की देह हैं। इनका जीवन और सौन्दर्य भाव-तत्वों की आत्मा पर निर्भर है। अत: समाज की चेतना में इन भाव-तत्वों के प्रकाशित रहने पर ही संस्कृति का जीवन और सौन्दर्य बना रह सकता है। संस्कृति का स्वरूप जहाँ विशेष रूपों की परम्परा है वहाँ संस्कृति का जीवन इन रूपों से लक्षित भाव-तत्वों की चिन्मय परम्परायें हैं। मनुष्य के जीवन में चेतना का उदय ही संस्कृति का आरम्भ है। संस्कृति मनुष्य की सर्वोत्तम विभूति है। जो उसके जीवन को पशुओं से श्रेष्ठ बनाती है। चेतना का अभ्युदय संस्कृति की समृद्धि है। किन्तु दूसरी ओर मनुष्य प्रकृति का पुत्र है। प्रकृति के धर्म सहज और स्वतन्त्र हैं। मनुष्य की सत्ता इन धर्मों के आधीन है। ये धर्म मनुष्य के आधीन नहीं है। प्रकृति के इन धर्मों से आत्मा की चेतना का कोई विरोध नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि इन धर्मों की सहज प्रियता सुख, अहंकार आदि ऐसी वृत्तियों को जीवन में रूढ़ बनाती है जो चेतना की सजगता और उसके प्रकाश के

अनुकूल नहीं है। प्रकृति के धर्मों का निर्वाह जीवन की प्रवृत्ति से होता है और इन धर्मों का सुख मनुष्य की चेष्टा को प्रेरित करता है। प्रकृति का सम्मोहन चेतना के प्रकाश को मन्द बनाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ चेतना का स्वरूप कभी तिरोहित नहीं होता, वहाँ दूसरी ओर जीवन के भाव-तत्वों के रूप में चेतना का प्रकाश आत्मा की सजगता और सचेष्टता पर ही निर्भर करता है। आत्मा के धर्मों की अन्विति जीवन में प्रकृति के धर्मों की भाँति सहज रूप में नहीं होती। जब आत्मा की आकांक्षाएँ प्रकृति की मर्यादा बनती हैं, तब आत्मा के अध्यवसाय से ही चेतना के भाव-तत्व जीवन में चरितार्थ होते हैं। यह कहा जा सकता है कि शिक्षा और साधना के द्वारा ही संस्कृति के भाव-तत्वों का प्रकाश जीवन और समाज की परम्परा में अमन्द रह सकता है। ये शिक्षा और साधना संस्कृति के क्षेत्र में मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक अध्यवसाय हैं। प्रकृति के प्रभाव और आकर्षण के कारण इस अध्यवसाय में मनुष्य की रुचि बहुत सजग नहीं रही है। सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी प्राकृतिक धर्मों की प्रधानता इसका प्रमाण है। सत्य यह है कि अध्यवसाय के किन्हीं उत्साहपूर्ण क्षणों में मनुष्य ने संस्कृति के भाव तत्वों को सुन्दर रूपों का आकार दिया। किन्तु कई कारणों से संस्कृति के इस मन्दिर में निरन्तर साधना का दीपक रखकर वह उसे प्रकाशित न रख सका। प्रकृति इतनी प्रबल है कि साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है, सन्त, महात्मा और योगी भी उससे विवश हो जाते हैं। अतः एक तो प्रकृति के प्रभाव से मनुष्य संस्कृति के भाव तत्वों की सजीव साधना का सामाजिक जीवन में निरन्तर निर्वाह न कर सका, दूसरे समाज के विकास की कुछ आर्थिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों ने प्रकृति के प्रभाव को ही बढ़ाया और संस्कृति के भाव को मन्द किया। इसके अतिरिक्त समाज के नेताओं की ओर से सांस्कृतिक भावों को जागरित रखने का अधिक प्रयत्न नहीं हुआ। धर्म और राजनीति का प्रचार तो बहुत हुआ, किन्तु संस्कृति के रूपों के पीछे छिपे हुए अमूल्य भाव-तत्वों को समाज में जागरित रखने की ओर कोई प्रयत्न नहीं किया गया। साहित्य और कला में भी प्रकृति की ही प्रधानता है। संस्कृति

के भाव-तत्व अपने रूपों में बहुत कम मिलते हैं। धर्म और दर्शन अपने स्वरूप में रहकर संस्कृति को अनुप्राणित नहीं कर सकते। सांस्कृतिक रूपों की आत्मा बनकर ही वे संस्कृति की परम्परा को प्रकाशित रख सकते हैं। फिर दार्शनिक तत्वों के रूप में भी संस्कृति के भाव-तत्वों की व्याख्या बहुत कम हुई। वस्तुतः विचार के नेताओं ने इन रूपों के पीछे छिपे हुए भाव-तत्वों की ओर बहुत कम ध्यान दिया। जीवन और आचार में उदित होने के कारण जीवन की आन्तरिक शक्ति से ही संस्कृति की परम्परा चलती रही। जब तक समाज की स्थिति अनुकूल रही, तब तक संस्कृति के भाव-तत्व भी समाज के सांस्कृतिक जीवन में प्रतिष्ठित रहे। किन्तु प्रकृति के प्रभाव और इतिहास की बाधाओं के कारण इन भाव-तत्वों का प्रकाश मन्द होता गया और धीरे-धीरे संस्कृति के विशेष रूपों का बाह्य आकार ही शेष रह गया। आज भी इन रूपों का निर्वाह हो रहा है, किन्तु इनका भाव-तत्व मन्द होने के कारण हमारे सांस्कृतिक कर्म आज इतने उल्लासपूर्ण नहीं है। इन रूपों की प्राण-शक्ति क्षीण होने के कारण संस्कृति का निर्वाह एक नीरस शिष्टाचार बन रहा है।

इस सम्बन्ध में संस्कृति के प्रति पुरुष की उदासीनता विशेष उल्लेखनीय है। यह आश्चर्य की बात है कि एक ओर जहाँ पुरुष अभिजात कला की साधना स्त्रियों की अपेक्षा अधिक करता रहा है, वहाँ दूसरी ओर संस्कृति के भाव और रूप दोनों में उसका अनुराग स्त्रियों की अपेक्षा कम रहा है। पुरुष की रुचि प्राकृतिक और भौतिक व्यापारों में अधिक रही है। दर्शन, कला, व्यापार, राजनीति आदि व्यक्तित्व पर आश्रित और अहंकार का पोषण करने वाली दिशाओं में पुरुष अधिक प्रवृत्त रहा है। स्वार्थमय अहंकार पुरुष में अधिक है क्योंकि स्त्री की भांति सृजनात्मकता उसका प्राकृतिक धर्म नहीं है। सृजन में स्त्री का अहंकार विभाजित होकर संस्कृति के समात्मभाव की प्राकृतिक भूमिका बनाता है। इसीलिये संस्कृति के अनेक रूप स्त्रियों के लोकाचार की परम्पराओं में सुरक्षित रहे हैं। कुल और समाज में सांस्कृतिक परम्पराओं के निर्वाह की प्रेरणा 'शक्ति' स्त्री है। स्त्रियों की प्रेरणा और उनके

प्रयत्न से भारतीय समाज में अब तक सांस्कृतिक परम्पराओं का निर्वाह हो रहा है। किन्तु यह निर्वाह केवल संस्कृति के रूपों का अनुशीलन है। हमारे अनेक सांस्कृतिक प्रतीक जो इन रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं, आज भी हमारे पर्व और उत्सवों में आराधित हैं। किन्तु अनेक कारणों से, जिन भाव-तत्वों के ये द्योतक हैं, वे भाव-तत्व हमारे समाज की चेतना में इतने स्पष्ट नहीं हैं। विचार तत्व के रूप में वे कभी स्पष्ट भी नहीं किये गये थे। वे केवल संस्कृति की सहज परम्पराओं में अन्वित थे। समाज की अनुकूल स्थिति के कारण यह अन्वय अक्षुण्ण बना रहा। किन्तु आज समाज की स्थिति बदल गई है। पश्चिम की प्रकृतिवादी सभ्यता और विज्ञान के प्रभाव से स्वार्थ और एकान्त के वे तत्व बढ़ रहे हैं, जो सांस्कृतिक सौन्दर्य के विघातक हैं। अतः एक ओर समाज की चेतना में इन भाव-तत्वों के सहज संस्कार नहीं हैं, और दूसरी ओर सभ्यता के प्रभाव सांस्कृतिक सौन्दर्य के प्रकाश को क्षीण बना रहे हैं। जिन प्रतीकों में सांस्कृतिक सौन्दर्य के रूप खिलते हैं और जिनके निमित्त से संस्कृति के भाव सम्पन्न होते हैं तथा जीवन के भाव-तत्व चरितार्थ होते हैं, वे प्रतीक भाव और तत्व से रहित होकर शून्य हो जाते हैं। भाव उनके प्राण और तत्व उनकी आत्मा हैं। इनसे सम्पन्न होने पर ही प्रतीकों के निमित्तों में संस्कृति का सौन्दर्य सजीव रूप में खिलता है। एक प्रकार से संस्कृति के सामाजिक भाव प्रतीकों के अर्थ तत्वों की व्याख्या उनके सांस्कृतिक सौन्दर्य और महत्व को प्रकाशित कर सकती है। अर्थ का यह प्रकाशन बौद्धिक ही होगा। सभी विचार बुद्धि का विषय है। किन्तु अर्थ के प्रकाश में संस्कृति के वे भाव भी संभव हो सकते हैं जो संस्कृति के सौन्दर्य के प्राण हैं। सामाजिक जीवन में अर्थ तत्वों के चरितार्थ होने पर वे अर्थ तत्व सप्राण-भाव बन जाते हैं। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की इन भावों के साथ संगति होने पर ही सभ्यता और संस्कृति का सामंजस्य संभव होता है। भावों का सहज रूप जीवन और संस्कृति का सौन्दर्य है। किन्तु इस सहज रूप में जीवन के अर्थ-तत्वों का प्रकाश आत्मा की भांति सजग रहता है, तभी

संस्कृति सजीव रहती है। अतः संस्कृति के रूपों और प्रतीकों में अन्त-निहित भाव तत्वों को सदा समाज की चेतना में सजग रखना अपेक्षित है। इन भावों की सजगता सामाजिक सम्बन्धों और भावों के सहज रूप में अन्वित होकर संस्कृति को निसर्ग सौन्दर्य से मण्डित करती है। चाहे संस्कृति के विधायकों ने इन भाव तत्वों को स्पष्ट नहीं किया, क्योंकि प्राचीन समाज इतना शिक्षित नहीं था, आज के शिक्षित और सजग समाज में शिक्षा के द्वारा इन भाव तत्वों को प्रकाशित और जागरित करने की आवश्यकता है। प्राचीनकाल में जो रूढ़ि में रूप में सभव था आज उसके लिये चेतना का सजग उद्योग आवश्यक है। सामाजिक व्यवस्था और सम्बन्धों में इन सजग भावों के अन्वित होने पर इनकी कृत्रिमता कम हो जाती है और ये संस्कृति के सहज भाव बन जाते हैं। रूपों और प्रतीकों के निमित्तों में ये सहजभाव संस्कृति के सौन्दर्य सुमनों के समान खिलते हैं। अर्थ की सजगता और भाव की सहजता का सामंजस्य आधुनिक युग में संस्कृति की प्रमुख समस्या है। इस समन्वय में ही संस्कृति के रूप और प्रतीक जीवन के सौन्दर्य के निमित्त बन सकते हैं। इस समन्वय से ही इन रूपों की उदासीन शून्यता में रस की धारा प्रवाहित हो सकती है।

भारतीय संस्कृति के अनेक रूप प्रतीक बन गये हैं। वे अपने बाह्य आकार मात्र से संस्कृति के सौन्दर्य के द्योतक हैं। इन रूपों में जो अधिक परिचित और प्रचलित हैं, उन्हें संस्कृति के प्रतीक कहना अधिक उचित है। जिन रूपों में कोई भाव और अर्थ सहज रूप में समाहित हो जाता है, तथा जो सरल और प्रत्यक्ष रूप में उन भावों और तत्वों के सूचक बन जाते हैं, वे प्रतीक कहलाते हैं। यों संस्कृति के सभी रूप विशेष होते हैं किन्तु जो रूप प्रतीक बन जाते हैं उनमें विशेषता की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। अपने अत्यन्त विशिष्ट रूप में वे संस्कृति के सूचक बन जाते हैं। इन प्रतीकों की आराधना संस्कृति का अनुशीलन है। किन्तु संस्कृति जीवन का एक अंग नहीं है, वह जीवन का समग्र रूप है। अतः आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में इन प्रतीकों के निमित्त से इनमें समाहित भाव-तत्वों को अन्वित करने पर ही समग्र जीवन सांस्कृतिक

सौन्दर्य से अंचित हो सकता है। प्राचीन भारतीय जीवन का यही रूप था। यही जीवन का पूर्णतः सुन्दर रूप भी है, चाहे विज्ञान, व्यापार, राजनीति से प्रभावित आधुनिक समाज में उसका प्रतिष्ठित करना कितना ही कठिन हो।

७. आकारात्मक प्रतीक—

भारतीय संस्कृति के प्रतीक अनेक और विविध हैं। उनमें से कुछ ये समान भावों का सन्निधान है। किन्तु विविध रूप और आकार में इन भावों का सौन्दर्य साकार हुआ है। आकार, क्रिया (आचार) विधि, देवता आदि इन प्रतीकों के कुछ प्रमुख भेद हैं। इन प्रतीकों में रूप, भाव और तत्व तीनों का समन्वय है। रूप का अतिशय संस्कृति के सौन्दर्य का प्रकट मर्म है। इन रूपों की विशेषता ही संस्कृति की विशेषता का सूत्र है। किन्तु आकार, आचार, आदि के इन रूपों में अन्तर्निहित भाव संस्कृति का प्राण है। जीवन के जिन तत्वों से ये भाव ओत-प्रोत रहते हैं, वे संस्कृति की आत्मा हैं। रूप, भाव और तत्व का संगम संस्कृति को पूर्ण वनाता है। भारतीय संस्कृति इन तीनों पक्षों से सम्पन्न और इनकी प्रचुरता से समृद्ध है। आकार और आचार के अनेक रूप चिरन्तन काल से भारतीय परम्परा में पूजित और प्रतिष्ठित हैं। आकार के रूपों में स्वस्तिक सवसे प्रमुख और प्रचलित है। प्रत्येक सांस्कृतिक अवसर पर मांगलिक उपादानों पर 'स्वस्तिक' का अंकन किया जाता है। जैसा कि स्वस्तिक के नाम से प्रकट है, यह मंगल का प्रतीक है। मंगल सूचक लाल अथवा पीले वर्ण में वह अंकित किया जाता है। स्वस्तिक एक ऐसा अद्भुत प्रतीक है जिसके आकार में मंगल का भाव समाहित हो गया है तथा जिसके विन्यास की रेखाएँ और दिशाएँ मंगल के तत्व का संकेत करती है। रूप, भाव और तत्व इस मांगलिक प्रतीक में मिलकर ऐसे एक हो गये हैं कि यह भारतीय संस्कृति की सौन्दर्य और मंगलभावना का अनन्य प्रतीक वन गया है। आकार और भाव की सरलता के कारण साधारण से साधारण लोगों में भी इसका विपुल प्रचार है। आकार की सरलता और भाव पूर्णता के

कारण छोटे से छोटे अवसर पर इसका व्यवहार होता है। स्वस्तिक की सरल रेखाएँ अपनी ऋजुता के द्वारा संस्कृति के भाव की सरलता का संकेत करती हैं। समकोणों पर सन्तुलित चार समान रेखाएँ जीवन में अभीष्ट समता, सन्तुलन और चतुर्मुखता का निर्देश करती हैं। रेखा गति की भी सूचक है। वह विन्दु की गति का मार्ग है। अत: स्वस्तिक की सरल, सम और चतुर्मुख रेखाएँ जीवन की ऋजु, सम और चतुर्मुख गति के आदर्श को प्रत्येक मांगलिक अवसर पर प्रकाशित करती हैं। ऋजुता, समता और गति ये मंगल के तीन मूल मंत्र हैं। जीवन की चतुर्मुख गति से ही समता का सन्तुलित भाव पूर्ण होता है। जीवन और विश्व अनन्त है। अत: जीवन की गति भी अनन्त है। किन्तु व्यक्ति और समाज के वर्तमान जीवन में उसकी मर्यादा अभीष्ट है। सिद्धान्त: सत्य होते हुए भी अनन्त का आग्रह अव्यावहारिक है। स्वस्तिक की बाहरी रेखाएँ जीवन में प्रगति की इसी मर्यादा की रेखाएँ हैं। कुछ लोग इन मर्यादा सूचक रेखाओं में भी गति का एक और मोड़ बना देते हैं, जो मर्यादा और गति के सामंजस्य को सूचित करता है। स्वस्तिक के चार कोणों में प्राय: चार बिन्दु अंकित किये जाते हैं। विन्दु सृष्टि का बीज है। रेखा उसी की गति अथवा उसी के विमर्श की दिशा है। बिन्दु और रेखा का सामंजस्य जीवन की गति और स्थिति का सामंजस्य है। दूसरी ओर ये बिन्दु गति की अन्य दिशाओं के सूचक भी हैं। एक ही केन्द्र पर अनन्त बिन्दुओं पर अनन्त मांगलिक रेखाओं का (गतियों का) सन्तुलन संभव है। मंगल का प्रतीक स्वस्तिक जीवन की विपुलता और सम्पन्नता के भाव से भी परिपूर्ण है। बाहरी रेखाओं की दिशा पृथ्वी की गति के विपरीत चक्रगति का संकेत करके यह निर्देश करती है कि संस्कृति का मंगल प्रकृति की गति के अनुसार ही नहीं हो सकता। इस मंगल की प्रतिष्ठा के लिये प्रकृति का निरोध और विरोध भी अपेक्षित होता है। पृथ्वी की गति की दिशा प्राकृतिक गति की सूचक है, स्वस्तिक की बाहरी रेखाओं की दिशा इसके विपरीत है। यह विपरीत भाव संस्कृति के मंगल को सम्पन्न करने के लिये अपेक्षित होता है। स्वस्तिक के चार समकोण चारवेद, चारयुग, चार आश्रम आदि

अनेक चतुष्कोटि विभाजनों को लक्षित करते हैं और इस प्रकार स्वस्तिक जीवन की मांगलिक भावना का एक अत्यन्त समृद्ध प्रतीक बन जाता है। रूप की सरलता और भाव की सम्पन्नता के कारण इसका व्यवहार सभी शुभ अवसरों पर होता है। नये घर के द्वार पर अथवा उत्सव आदि के समय पुराने घर के द्वार पर, बहू-बेटियों की विदा के समय पर उनके चरणों पर, उनके अलंकारों और वस्त्रों में, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि के अवसर पर बालकों के मस्तक पर, उत्सव, संस्कार आदि के मांगलिक घरों पर स्वस्तिक का अंकन किया जाता है। इन मुख्य अवसरों के अतिरिक्त स्वस्तिक का व्यवहार हमारे दैनिक और साधारण जीवन में इतनी विपुलता से होता है कि यदि स्वस्तिक की भावना को जीवन में सजग बनाया जा सके तो हमारा सम्पूर्ण जीवन मंगलमय बन सकता है।

केवल आकार का शुद्ध प्रतीक तो एक स्वस्तिक ही है। यह सभी भारतीय वर्गों में प्रचलित है और भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता का बिन्दु बन सकता है। अन्य सांस्कृतिक भेदों में यह एकता का सूत्र है। रूप, भाव और अर्थ तीनों की दृष्टि से यह मंगल का सूचक है। भारतीय एकता में यह मंगल भावना का संचार कर सकता है। शुद्ध आकार का एक दूसरा प्रतीक हम केवल तिलक को कह सकते हैं। तिलक अथवा बिन्दी का प्रचार भी हमारी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा में स्वस्तिक के समान ही व्यापक है। पूजा-पाठ आदि के प्रसंग में जो तिलक लगाया जाता है, वह धार्मिक विधि के अन्तर्गत है। उसमें आकार की विशेषताओं का कुछ विशेष अर्थ होता है। विभिन्न सम्प्रदायों के तिलकों के आकार अलग-अलग होते हैं। सम्प्रदायों के भेद के वाह्य होने के साथ-साथ ये सम्प्रदाय के विशेष सिद्धान्तों के सूचक भी हैं। वैष्णवों की श्री, शैवों का त्रिपुंड आदि इस सार्थक भेद के कुछ उदाहरण हैं। त्रिपुंड की तीन रेखाएँ तीन गुणों की सूचक हैं। श्री का सम्प्रदायों में जो कुछ भी भाव हो किन्तु शिव के तृतीय नेत्र से उसका सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रायः श्री लाल रोली की लगाई जाती है। शिव का तृतीय नेत्र भी लाल है। वह उनके प्रज्वलित तेज का सूचक है, जिसके द्वारा उन्होंने कामदेव को भस्म किया था। आत्मा के ऊर्ध्व मुखी तेज के द्वारा काम का

संस्कार मनुष्य संस्कृति की मौलिक समस्या है। शिव परम्परा में काम दहन इसी संस्कार का सूचक है। तृतीय नेत्र को तेज का माध्यम मानना अत्यन्त संगत है। नेत्र की इन्द्रिय का तेज से सम्बन्ध है। वह तेजस् तत्व से ही उत्पन्न मानी जाती है। व्यवहार में वह तेज से उद्घटित रूप और प्रकाश का ग्रहण करती है। तेज से उत्पन्न होने के कारण वह इन्द्रियों में सबसे कान्तिमान है। नेत्र का धर्म दृष्टि है जो हमारे मार्ग का संचालन करता है। प्रकृति ने भौतिक दृष्टि की स्थापना भी हमारे मस्तक के निकट ही की है। किन्तु जीवन की दृष्टि तो मस्तक में ही रहती है। वह चेतना का भाव है। शिव का तीसरा नेत्र जीवन की मंगलमयी दृष्टि का प्रतीक है। मस्तक के तिलक और बिन्दी इसी प्रतीक को साकार बनाते हैं। उनके आकार भी नेत्र के अनुरूप हैं। गोल बिन्दी पुतली की आकृति के समान है। तिलक के अन्य लम्बे आकार आंख के समान होते हैं। बिन्दी और तिलक दोनों ही आंख का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा शिव के तृतीय नेत्र के प्रतिनिधि हैं। कुछ सम्प्रदायों में तिलक की श्री संज्ञा है। 'श्री' शक्ति का नाम है। अतः तिलक शक्ति का भी प्रतीक माना जा सकता है। शक्ति की गति ऊर्ध्व मुखी है, जैसी कि तिलक की रचना होती है। शक्ति सम्प्रदायों में शक्ति को शिव के शीश पर स्थित माना जाता है। शक्ति के बिना शिव शव के समान है। इसीलिये शक्ति को शव रूप शिव के ऊपर खड़ा हुआ चित्रित करते हैं। त्रिपुंड के बीच में ऊर्ध्व मुखी तिलक अथवा केवल श्री शक्ति की ही प्रतीक है। शिव के समान देवी को भी त्रिनेत्रा मानते हैं। इसीलिये शक्ति स्वरूपा स्त्रियाँ सौभाग्य के चिन्ह के रूप में बिन्दी को धारण करती हैं। पूजा-पाठ करने वाले अथवा सम्प्रदाय में निष्ठा रखने वाले पुरुष भी तिलक लगाते हैं। शिव दृष्टि के सूचक होने के कारण तिलक और बिन्दी भी स्वस्तिक के समान ही मांगलिक है। धार्मिक और सांस्कृतिक शिष्टाचार में स्वस्तिक के समान ही इनका व्यापक प्रयोग भी है। धार्मिक स्थानों और ग्रन्थों पर भी स्वस्तिक अंकित किया जाता है। किन्तु धार्मिक पवित्रता से पूर्ण होते हुए भी स्वस्तिक का व्यवहार सांस्कृतिक ही अधिक है। तिलक का उपयोग धार्मिक कृत्यों में स्वस्तिक की अपेक्षा

अधिक प्रकट रूप में होता है। किन्तु सांस्कृतिक आचार में भी उसका उपयोग प्रचुरता से होता है। धर्म व्यक्तिगत साधना है। अतः मनुष्य धर्म-चर्या में अपने हाथ से ही तिलक लगाता है। किन्तु संस्कृति सामाजिक सम्वन्धों में सम्पन्न होती है। सांस्कृतिक चर्या में तिलक अपने हाथ से नहीं लगाया जाता, वरन् आचार्य, वहन आदि के द्वारा अंकित किया जाता है। तिलक की इस सामाजिक विधि में समात्मभाव का सौन्दर्य एक अपूर्व आभा से खिलता है। तिलक की विधि सांस्कृतिक सौन्दर्य के सहित जीवन की मंगल दृष्टि को मनुष्य के मस्तक पर अंकित करती है। स्वस्तिक के समान ही तिलक का प्रचार भी सभी भारतीय वर्गों में है। अतः तिलक भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकता का विन्दु वन सकता है। नैपाली समाज में तो कनिष्ठों के वन्दन के उत्तर में आशीर्वाद के रूप में मस्तक पर विना उपकरण के केवल अंगूठे से तिलक अंकित करना वड़ों के आशीर्वाद का एक सामान्य रूप है। मस्तक के तिलक से लक्षित शिव दृष्टि सवसे उत्तम आशीर्वाद है।

रेखाओं के शुद्ध आकार के तो केवल दो ही प्रतीक भारतीय संस्कृति में प्रचलित हैं—स्वस्तिक और तिलक। इनमें रूप-रेखा की विशेषता तो केवल स्वस्तिक में ही है। इस विशेषता का कुछ लक्षण धार्मिक सम्प्रदायों के तिलकों में है। अन्य सांस्कृतिक तिलकों में केवल एक सामान्य रूप अभीष्ट है, रूप-रेखा की विशेषता का आग्रह इनमें नहीं है। श्रीचक्र और सर्वतोभद्रचक्र दो अन्य ऐसे आकार हैं जो हमारे धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। श्रीचक्र का सम्वन्ध शैव और शाक्त सम्प्रदायों की रहस्य साधना से होने के कारण वह समाज के सार्वजनिक व्यवहार में प्रचलित न रहा। शैव तंत्र के विशेष सिद्धान्तों का प्रतिनिधि होने के कारण वह एक सार्वजनिक विभूति न रहकर एक सम्प्रदाय की गुप्त निधि वन गया। स्वस्तिक और सामान्य तिलक इस दृष्टि से अखिल भारतीय हैं। वे समस्त देश की सामाजिक और सांस्कृतिक विभूति हैं। इसी प्रकार सर्वतोभद्रचक्र भी स्वस्तिक और तिलक के समान ही सामाजिक और सार्वदेशीय है। इनका उपयोग भी हमारे सभी मांगलिक अवसरों पर होता है। भूमि पर अंकित यह चक्र

हमारे जीवन की धरती पर मंगल की प्रतिष्ठा करते हैं। इनकी चतुर्मुख रचना में कुछ स्वस्तिक का आभास मिलता है और उसमें श्री चक्र के त्रिकोणों का भी सन्निधान है। स्वस्तिक की मंगलभावना वेदों के स्वस्ति-वाचनों में मिलती है। वेद भारतीय संस्कृति के एक दीर्घ विकास की सांस्कृतिक परणति हैं। वेदों के स्वस्ति-वाचनों में जिस मंगलभावना की मन्द्र ध्वनि गुंजित है वह संहिताकाल के पूर्व दीर्घ काल में विकसित हुई होगी। शैव धर्म की परम्परा भी संहिताओं से प्राचीन है। अतः यह सम्भव है कि सर्वतोभद्रचक्रों की रचना, विधियाँ भी संहिताओं के पूर्व प्रचलित, स्वस्तिक और श्रीचक्र के समन्वय से हुई हैं। सर्वतोभद्र-चक्रों की मांगलिक अवसरों पर रचना करने वाला समाज एक ओर वैदिक परम्परा का पालन करता है, साथ ही दूसरी ओर शैव-परम्परा में भी आस्था रखता है। इस समाज की मिश्रित आस्था में ही, सर्वतोभद्र-चक्रों के मिश्रित रूप का उदय हुआ हो, यह बहुत संभव है। सर्वतोभद्र-चक्रों का विन्यास और नाम दोनों स्वस्तिक की चतुर्मुखी रचना और उसकी मांगलिक भावना के सूचक हैं। सभी मांगलिक अवसरों पर स्त्रियां भूमि पर इन चक्रों का आलेखन करती हैं। स्वस्तिक, तिलक और सर्वतो-भद्र चक्रों की स्त्रियों के द्वारा रचना संस्कृति की परम्परा में इनकी प्राचीनता का संकेत करती है। इनके उपयोग का सार्वदेशिक और व्यापक प्रचलन इस बात का सूचक है कि ये हमारे देश की सांस्कृतिक एकता के सूत्र हैं। संस्कृति के इन सरल सूत्रों के आकारों में सौन्दर्य और भाव का अपार सागर लहराता है, जिनके उत्कर्ष के ज्वार संस्कृति की पूर्णिमाओं के मंगल पर्वों की रचना करते हैं। इनकी सरलता इनके व्यवहार को सुगम बनाती है। इस सुगमता के कारण ही ये इतने दीर्घकाल से हमारे सांस्कृतिक आचार में प्रचलित हैं। सरल और सुगम प्रतीक ही सामाजिक आचार में सद्भाव, सौन्दर्य और मंगल के सूत्र बन सकते हैं।

८. वर्णात्मक प्रतीक—

स्वस्तिक और तिलक के सरल और गंभीर आकारगत प्रतीकों के समान ही 'श्री' और 'ॐ' दो भारतीय संस्कृति के अत्यन्त सरल और

गंभीर वर्णात्मक प्रतीक हैं। एक प्रकार से वर्ण भी आकार है। रेखाओं के द्वारा वर्ण की आकृति का निर्माण होता है। किन्तु 'वर्ण' स्वस्तिक आदि के समान केवल रेखाओं की आकृति नहीं है। आकृति के साथ-साथ वे कुछ ध्वनियों के भी सूचक हैं। इन ध्वनियों से शब्द और भाषा का विस्तार होता है। यह कह सकते हैं कि वर्ण में केवल रेखा की आकृति की अपेक्षा अर्थ का सन्निधान अधिक है। ध्वनि के अतिरिक्त वर्ण कुछ भाव-मय अर्थ तत्व के भी सूचक हैं। संस्कृत वाङ्गमय में वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर का विशेष अर्थ है। संस्कृत वर्णमाला का अक्षर अन्य वर्णमालाओं के अक्षरों की भाँति केवल अर्थ हीन ध्वनियां नहीं हैं। सभी वर्ण सार्थक हैं। संस्कृत भाषा के अनेक शब्द अक्षरों के मूल अर्थ के योग से बने हैं। शक्ति-तंत्रों में वर्णमाला के अक्षरों के विशेष अर्थ हैं। तंत्रों के मंत्रबीज इन्ही अर्थों के आधार पर बने हैं। वर्णों के इन अर्थों को तंत्र-शास्त्र में 'मातृका रहस्य' कहते हैं। 'अ' कार को अनुत्तर कहते हैं। उसका अर्थ अमृत है। 'आ' का अर्थ आनन्द है। 'इ' का अर्थ इच्छा है। 'ई' का अर्थ ईश्वर-भाव है। इस प्रकार सभी वर्ण रहस्यमय अर्थ के सूचक हैं। स्वस्तिक के समान केवल आकारगत प्रतीक भी गंभीर अर्थ के द्योतक हैं। किन्तु वर्णों की प्रतीकात्मकता अधिक सार्थक है। वे अर्थ के प्रतीक ही नहीं, अर्थ के अभिधान अथवा वाचक भी बन गये हैं। इस प्रकार प्रतीकात्मक अर्थ की व्यंजना का आधार वर्णों में अधिक सम्पन्न है। धर्म और संस्कृति के वाहक शब्द तो अधिक हैं। उनमें भी अभिधेय अर्थ के अतिरिक्त सम्बन्ध और भाव के अतिशय का सौन्दर्य अधिक है। किन्तु सामान्यत: वर्णों का अर्थ शब्दों के अर्थ के समान प्रकट और सर्वविदित नहीं है। अत: 'श्री' और 'ऊँ' जैसे वर्णात्मक प्रतीक भी स्वस्तिक आदि के आकारात्मक प्रतीकों के समान ही व्यंजना प्रधान अधिक हैं। वर्ण विधायन के अनुसार उनके रहस्यमय अर्थों की व्याख्या की जा सकती है, जिस प्रकार स्वस्तिक के रेखा विधान की व्याख्या संभव है। किन्तु सामान्य लोक परम्परा में वे अपने अभीप्ट अर्थों के निमित्त मात्र हैं। स्वस्तिक के मांगलिक रेखा-विधान की भांति वे अपने अभीप्ट अर्थों में रूढ़ हो गये हैं। सामान्य चेतना में उनसे लक्षित अर्थ की रूढ़ि प्रसिद्ध हो गयी है।

वर्णात्मक प्रतीकों में 'श्री' और 'ॐ' ही अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित हैं। ये दोनों स्वस्तिक और तिलक के समान ही लोकप्रिय हैं। इनके अतिरिक्त शक्ति तंत्रों के 'ऐं', 'क्लीं' आदि के तांत्रिक प्रतीक श्री चक्र के समान सम्प्रदाय में ही विशेष रूप से प्रचलित हैं। वे श्री और ॐ के समान सार्वदेशिक तथा दैनिक आचार में प्रचलित नहीं हैं। 'श्री' और 'ॐ' तो स्वस्तिक और तिलक के समान हमारे दैनिक आचार के मांगलिक प्रतीक बन गये हैं। तिलक के समान ॐ का प्रयोग धर्म और अध्यात्म के प्रसंग में ही अधिक होता है। लोक के सांस्कृतिक आचार में 'ॐ' का प्रयोग तिलक के बराबर भी नहीं है। किन्तु श्री का प्रयोग हमारे धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक व्यवहार में विपुलता से होता है। सबके नाम के आगे आदर के भाव से 'श्री' लगाई जाती है। धार्मिक ग्रंथों, पूज्य व्यक्तियों आदि के नाम के आगे तो इसका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। राजाओं, महन्तों आदि के लिये 'श्री' एक प्रकार का पद है और प्रतिष्ठा के अनुकूल ३, ५, १०८, १००८ आदि संख्याओं के सहित प्रयोग में आती है। इन संख्याओं का भी विशेष अर्थ और महत्व है। सामान्यत: श्री शोभा, सुन्दरता, सम्पत्ति, विभूति आदि का सूचक है। कोष में वह लक्ष्मी का भी वाचक है। लक्ष्मी शोभा, सुन्दरता, सम्पत्ति और विभूति की देवी है। अत: दोनों का पर्याय भाव उचित है। दिव्य सौन्दर्य की विभूति भारतीय संस्कृति में सबसे अधिक महनीय मानी गई है। इसीलिये श्री का प्रयोग इतना व्यापक और विपुल है। यह एक प्रकार का आन्तरिक और आत्मिक सौन्दर्य है, जो हमारे बाह्य जीवन के व्यवहार में भी प्रकाशित होता है। शक्ति तंत्रों में 'श्री' शक्ति का वाचक है। आदि शक्ति को श्री कहते हैं और शक्ति शास्त्र को प्राय: 'श्री विद्या' कहा जाता है। शक्ति जीवन का मूल तत्व है। अखिल विश्व शक्ति का ही विलास है। शक्ति ही शिव का स्वरूप है। शक्ति का स्वरूप प्रकाश और विमर्श का साम्य है। प्रकाश शक्ति का अन्तर्मुख आलोक है और विमर्श उसका बहिर्मुख विस्तार है। शक्ति का यह विस्तार ही सृष्टि है। इसीलिये विमर्श को विसर्ग भी कहते हैं। इस विमर्श में भी प्रकाश का प्रकाश है अन्यथा इसका ज्ञान भी नहीं होता। यह

सृजनात्मिका शक्ति ही सृष्टि के सौन्दर्य की विधात्री है। इसीलिये इसका नाम 'सुन्दरी' भी है। प्रकृति, जीवन, कला आदि में भी सृजन के रूपों में ही सौन्दर्य विभासित होता है। सृजन के सभी रूप शक्ति के विलास की उर्मियां हैं। इसीलिये वे सब सुन्दर हैं। सृजन जीवन का सबसे गहन और महिमामय मर्म है। जीवन की सत्ता और संस्कृति का सौन्दर्य इसी पर निर्भर है। हमारे सांस्कृतिक आचार में श्री का विपुल प्रयोग जीवन और संस्कृति के सृजनात्मक सौन्दर्य की महिमा का ही सूचक है। हमारे पर्वों, व्रतों, संस्कारों आदि में इस सृजनात्मक सौन्दर्य का सहज और प्रचुर उल्लास है। भारतीय जीवन की सामान्य व्यवस्था भी सृजनात्मक सौन्दर्य की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित है। एक प्रकार से सामान्य भारतीय जीवन के सौन्दर्य की लहरों से तरंगित सागर में ही ये पर्व और उत्सव पूर्णिमा के ज्वार के समान उठते हैं। सामान्य जीवन की हरियाली से लहराती हुई वनराजियों में पुष्पागम के वसन्तों के समान ही ये पर्व खिलते हैं।

वैष्णव परम्पराओं में 'श्री' लक्ष्मी की पर्याय है। लक्ष्मी भी भगवान् की शक्ति है और विष्णु की पत्नी मानी जाती है। इस प्रकार उनका रूप शिव की शक्ति के समान है। विश्व की विधायिनी होने के साथ-साथ वे सम्पूर्ण ऐश्वर्यों की दात्री हैं। सामान्य धारणा में लक्ष्मी लौकिक ऐश्वर्य की देवी बन गयी है। इसका कारण मनुष्य का धन, सम्पत्ति और भौतिक वैभव के प्रति मोह है। वस्तुतः लक्ष्मी भौतिक और आध्यात्मिक समस्त विभूतियों की अधिष्ठात्री हैं। इसीलिये कमल पर उनका आसन है। जल के धरातल से सदा ऊपर रहने वाला कमल लोकातीत और दिव्य सौन्दर्य का प्रतीक है। वह भौतिक जीवन के अतिरिक्त सौन्दर्य और श्रेय की विभूतियों को सूचित करता है। किन्तु ये विभूतियां पूर्णतः अलौकिक नहीं हैं। कमल के मूल सरोवर की पंक में रहते हैं। इसी प्रकार जीवन की पंक में ही आध्यात्मिक और दिव्य विभूतियां खिलती हैं। कमलासना लक्ष्मी लोक और अध्यात्म के इसी सामंजस्य को लक्षित करती है। यह सामंजस्य शिव की शक्ति का स्वरूप है। तंत्रों में इसे प्रकाश और विमर्श का साम्य कहते हैं। इस

साम्य का और एक रूप तंत्रों से विदित होता है। सरस्वती, लक्ष्मी और काली ये तीन एक ही शक्ति के रूप हैं। शक्ति में सर्जनी, पालनी और संहारिणी तीनों प्रकार की शक्तियों का साम्य है। 'श्री' स्त्री-रूप शक्ति का ही पर्याय है। अतः श्री केवल सौन्दर्य और ऐश्वर्य की लक्ष्मी तथा पालनी शक्ति नहीं है। उसके स्वरूप में सृजनात्मिका सरस्वती और संहारिणी काली का भी समवाय है।

सांस्कृतिक शिष्टाचार में श्री का प्रयोग कुछ संख्याओं के साथ होता है। मान और पद के अनुसार गुरूजनों, राजाओं और महात्माओं के लिये १, ३, ५, १०८, १००८ श्री का प्रयोग होता है। इन संख्याओं का भी तांत्रिक रहस्य है। संख्याओं का विस्तार सर्ग का क्रम है। संख्याओं के मूल अंक ९ हैं। १ से लेकर ९ तक सर्ग का क्रम पूर्ण हो जाता है। १ सर्ग का आरम्भ है और ९ उसकी पूर्णता है। इस पूर्णता के बाद ० है जो सर्ग के निलय का सूचक है। सर्ग अथवा विमर्श की प्रधानता और उसका प्रारम्भ सूचित करने के लिये श्री १ का व्यवहार होता है। श्री ३ और श्री ५ विसर्ग की विभूति के उत्कर्ष को लक्षित करते हैं। श्री ९ में यह उत्कर्ष पूर्ण होता है। किन्तु इस पूर्णता का संकेत ९ के स्थान पर १ और ८ के संयुक्त प्रयोग से किया जाता है। १ और ८ का योग ९ होता है जो पूर्णता का सूचक है। किन्तु पूर्णता ९ के समान कोई एक इकाई नहीं है। वह एक क्रम और व्यवस्था है। १ और ८ के बीच की संख्याएँ इस क्रम के उत्तरोत्तर विकास की सूचक हैं। सर्ग अथवा विमर्श के इस क्रम में लय भी है। इस लय से विमर्श की पूर्णता पूर्ण होती है। १००८ श्री के प्रयोग में शून्य अथवा विन्दु इसी लय का सूचक हैं। संन्यासियों और महात्माओं के लिये इस लय रूप प्रकाश का विशेष महत्व है। इसीलिये उनके लिये श्री १०८ अथवा श्री १००८ का प्रयोग होता है। अधिक उत्कृष्ट महात्माओं के जीवन में लय-रूप प्रकाश का अधिक महत्व दिखाने के लिये उनके लिये दो शून्यों से युक्त श्री १००८ का प्रयोग होता है। किन्तु मांगलिक संख्याओं के अन्त में ० का प्रयोग कभी नहीं होता, क्योंकि लय जीवन का अन्त नहीं है। जीवन-संस्कृति का स्वरूप सर्ग है, यद्यपि इस सर्ग के क्रम में

निलय के आवश्यक चरण हैं। निलय के द्वारा ही सर्ग की नवीनता चरितार्थ होती है। मांगलिक संख्याओं में ० के स्थान पर अन्त में सदा १ रहता है जो सर्ग के आरम्भ का सूचक है। शक्ति का स्वरूप सृजनात्मक है। लय के साम्य से युक्त सर्ग में ही लोक का मंगल है।

श्री जिस शक्ति की संज्ञा है उसके सृजनात्मक स्वरूप की प्रधानता लक्षित करने के लिये ही श्री का पद-विधान विसर्ग और ऐश्वर्य सूचक वर्णों से हुआ है। 'श' और 'र' दोनों विसर्ग के सूचक हैं। सन्धि-व्यवस्था में विसर्ग के साथ उनका पर्याय होता है। श्री का 'ई' कार मातृका क्रम में ईश्वर-भाव का सूचक है। श्री विश्व की परम ईश्वरी है। सृजनात्मक ऐश्वर्य ही उसका मुख्य रूप है, यद्यपि 'श', 'र' और 'ई' के अनुलोम क्रम में लयकी दिशा का भी संकेत है। 'अ' से लेकर 'ह' तक वर्णमाला के क्रम में 'श' से लेकर 'ई' तक दोनों ओर तीन-तीन अक्षर छूटे हुए हैं। इसका आशय यह है कि 'ह' में पर्यवसित होने वाला विसर्ग और अनुत्तर अकार में पूर्ण होने वाला निलय, ये दोनों ही अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। ये सत्य के दो अंग हैं। पूर्ण सत्य एकांगी नहीं है। वह सर्ग और लय, विमर्श और प्रकाश दोनों का साम्य है। यह साम्य ही शक्ति का पूर्ण स्वरूप है। श्री का वर्ण-विधान शक्ति के स्वरूप के इसी साम्य को सूचित करता है। श्री इसी साम्य-स्वरूपा शक्ति की संज्ञा है। सांस्कृतिक आचार और अध्यात्म दोनों में श्री का व्यापक प्रयोग हमारे समाज में प्राचीन शक्ति तंत्र के अलक्षित प्रभाव का प्रमाण है। प्राचीन भारत के मातृ-तंत्र में शक्ति तंत्र के मूल हैं। मातृ भाव का हमारी संस्कृति में व्यापक प्रभाव है। मूलत: सांस्कृतिक होने के कारण हमारे सामान्य शिष्टाचार में श्री का प्रयोग अधिक है। श्री के सांस्कृतिक प्रभाव की व्यापकता के कारण धर्म और अध्यात्म में भी श्री को आदर के साथ अपनाया गया है। महात्माओं और संन्यासियों तक के लिये श्री का प्रयोग होता है। वे अनन्त श्री से विभूषित माने जाते हैं।

इसके विपरीत ओ३म् पूर्णत: धार्मिक और आध्यात्मिक प्रतीक है। वेदों में उसका प्रयोग अधिक है। वेदों के अतिरिक्त धर्म और अध्यात्म

की सभी विधियों में ओ३म् का प्रयोग होता है। सभी मंत्रों का आरम्भ ओ३म् से होता है। ओ३म् की 'प्रणव' संज्ञा है और वह आत्मा का प्रतीक है। मांडूक्य उपनिषद् में ओ३म् को आत्मा का प्रतीक माना गया है। वर्णविधान के अनुसार उसकी तीन मात्राएँ (अ, उ, म) मानकर तथा एक मात्रा ऽतीत पद मानकर आत्मा के चतुष्पाद रूप का विवरण है। प्रणव का अर्थ नवीनता का प्रकर्ष है। यह नवीनता का प्रकर्ष विशेष रूप से आत्मा का लक्षण है और आध्यात्मिक मूल्यों का प्रकर्ष है। प्राकृतिक सत्ता के क्षेत्र में जो नवीनता है वह मुख्यतः नवीन रूपों का उदय है। प्रकृति का तत्व चिरन्तन है। रूप की नवीनता भी आत्मा के भाव में ही प्रकाशित होती है। आत्मा में रूप और भाव का साम्य अथवा ऐक्य है। रूप और भाव दोनों की नवीनता का प्रकर्ष आत्मा में अवश्य होता है। इसीलिये आत्मा की 'प्रणव' संज्ञा है और ओ३म् आत्मा का प्रतीक है। धर्म और अध्यात्म में विसर्ग और विमर्श की अपेक्षा लय-रूप प्रकाश का महत्व अधिक है। आत्मा प्रकाश स्वरूप है। ओ३म् उसका प्रतीक है। इसीलिये धर्म अथवा अध्यात्म के प्रसंगों में ओ३म् का व्यवहार अधिक है। सामाजिक और सांस्कृतिक आचार में श्री के समान ओ३म् का प्रयोग नहीं होता। संस्कृति का क्षेत्र धर्म और अध्यात्म की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इसलिये श्री का व्यवहार ओ३म् की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं। सामाजिक शिष्टाचार के सभी रूपों में श्री का प्रयोग होता हैं। ओ३म् का प्रयोग केवल धार्मिक और आध्यात्मिक प्रसंग में होता है।

यद्यपि श्री के सम्पूर्ण अर्थ में प्रकाश और विमर्श, लय और सर्ग दोनों का साम्य है; फिर भी श्रीः के वर्ण विधान में विसर्ग और ऐश्वर्य की प्रधानता मानें तो ओ३म् के स्वरूप में लय और प्रकाश की प्रधानता मान सकते हैं। ओऽम् आत्मा का स्वरूप है और आत्मा प्रकाश स्वरूप है। ओ३म् का वर्ण विधान लय की प्रधानता को लक्षित करता है। यद्यपि 'अ' कार में सर्ग का आरम्भ है और 'उ' कार में उसका उत्कर्ष है किन्तु ओ३म् की परिणति 'म' कार में होती है। 'म' कार विन्दु का पर्याय है। 'मोनुऽस्वारः' सूत्र इसका प्रमाण है। विन्दु शून्य और लय

का सूचक हैं। धर्म और अध्यात्म में लय की प्रधानता ही अभीष्ट है। ओ३म् के लेखन में 'म' कार और उसके पर्याय अनुस्वार में स्वर की परिणति होती है। इसके विपरीत 'श्री:' को प्राय: विसर्गों के साथ लिखा जाता है। ओ३म् का अवसान विसर्ग के पूर्व अनुस्वार में ही हो जाता है। इस प्रकार ओऽम् में विसर्ग का अन्वय होते हुए भी लय और प्रकाश प्रधान हैं। श्री: में प्रकाश होते हुए भी सर्ग और विमर्श का ऐश्वर्य प्रमुख है। यद्यपि दोनों में प्रकाश और विमर्श का संयोग हैं, फिर भी दोनों में प्रकाश और विमर्श का समान महत्व स्पष्ट नहीं है। प्रधानता के अनुसार यदि ओ३म् को प्रकाश और श्री: को विमर्श मानें तो अनुचित न होगा। यदि ओ३म् शिव है तो श्री: शक्ति है। भाषा के रूप में दोनों का लिंग भेद भी इस साधारण का समर्थन करता है। व्यवहार में भी अध्यात्म में प्रकाश और लय प्रधान हैं। ओ३म् का प्रयोग इसके अनुरूप है। संस्कृति में विसर्ग और विमर्श प्रधान हैं। अत: सांस्कृतिक जीवन में श्री: का विपुल प्रयोग उपयुक्त है। किन्तु प्रकाश और विमर्श एक दूसरे के परस्पर भाव से रहित नहीं हैं। प्रकाश में भी विमर्श है और विमर्श में भी प्रकाश है। गुण-प्रधान भेद से ही उन्हें प्रकाश अथवा विमर्श कहा जाता है। इस दृष्टि से श्री: के विमर्श और ऐश्वर्य में भी प्रकाश और लय हैं। १०८, १००८ आदि का शून्य इसी का सूचक है। ओ३म् का 'अ' कार और 'उ' कार विमर्श का सूचक है। गुण-प्रधान भेद से श्री: को शक्ति का और ओऽम् को शिव का प्रतीक कह सकते हैं। तंत्रों में भी शिव को मुख्यत: प्रकाश ही माना गया है। शक्ति को शिव का स्वरूप मानकर उससे प्रकाश और विमर्श दोनों का साम्य भी मान सकते हैं। शक्ति का प्रतीक श्री: इस साम्य का द्योतक है। हमारी सांस्कृतिक परम्परा में श्री: तथा ओ३म् का अविरुद्ध प्रयोग इस साम्य को भी चरितार्थ करता है। अस्तु श्री: हमारा मूर्धन्य सांस्कृतिक प्रतीक है और ओ३म् प्रमुख, धार्मिक और आध्यात्मिक प्रतीक है।

आकार रूप का सरलतम रूप है। इसके साथ-साथ वह स्पष्ट भी है। सरलता और स्पष्टता लोक-जीवन में प्रभाव रखने वाले तत्व हैं। उनका प्रभाव स्मृति में भी स्थायी होता है। इसीलिये भारतीय संस्कृति

की परम्परा में सरल और स्पष्ट आकार के प्रतीक ही सबसे प्रमुख हैं। रेखा आकार का सरलतम रूप है। अत्यन्त सरल रेखाओं के विन्यास से स्वस्तिक की रचना होती है। सरलतम होने के साथ-साथ वह भारतीय संस्कृति और उसकी एकता का अनन्य प्रतीक है। स्वस्तिक का प्रतीक जीवन के स्वस्थ, सन्तुलित और मंगलमय रूप का आदर्श प्रस्तुत करता है। वर्णमाला के अक्षरों की रचना भी रेखाओं के विन्यास से होती है। रेखा की सरल गति वंकिम और विचित्र विन्यास के द्वारा वर्णों का विधान करती है। इस प्रकार अक्षर भी आकार-गत प्रतीक हैं। यों तो समस्त वर्ण ही विशेष ध्वनियों के प्रतीक हैं। संस्कृत वर्ण-माला में उन सबका कुछ रहस्यमय अर्थ भी है। तंत्रों के मातृका क्रम में वे कुछ आध्यात्मिक तत्वों के सूचक हैं; फिर भी सभी वर्णों का सांस्कृतिक महत्व नहीं है। उनके रूप लोक परम्परा में किसी विशेष सौन्दर्य अथवा भाव के प्रतिनिधि नहीं बने हैं। किन्तु कुछ वर्णों और ध्वनियों के संयोग से बनने वाले श्रीः और ओ३म् दो ऐसे वर्ण हैं, जो सांस्कृतिक और धार्मिक परम्पराओं में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित होकर पवित्र और मंगलमय भावों के व्यंजक बन गये हैं। यद्यपि वर्णमाला के विदित अक्षरों के संयोग से ही श्रीः और ओ३म् बनते हैं; फिर भी उनकी आकृति का समग्र रूप एक विचित्र व्यक्तित्व रखता है। उनका रूप अपने आप में पूर्ण और विशिष्ट लगता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों वे वर्णमाला के दो अतिरिक्त वर्ण बन गये हैं। आकार और रचना की दृष्टि से भी उनके रूप का अतिशय सौन्दर्य का विधायक है। विधि और आचार के साथ श्रीः और ओ३म् के उपयोग में जो रूप का अतिशय प्राप्त है वह इस सौन्दर्य को और भी बढ़ाता है। धर्म और संस्कृति की दीर्घ परम्परा में सौन्दर्य की यह सम्पत्ति समृद्ध होती है। विचित्र होने के साथ-साथ इन दोनों वर्णों का आकार तथा रूप सन्तुलन और जटिलता का एक अपूर्व सौन्दर्य लिये हुए है। इन सब कारणों से श्रीः और ओ३म् हमारी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा के अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध प्रतीक बन गये हैं। वर्णमाला के अक्षर होने के कारण शिक्षितों द्वारा ही उसका प्रयोग संभव है, यद्यपि अशिक्षित भी उनके व्यवहार और भाव

से परिचित हैं। स्वस्तिक का प्रतीक आकार का अत्यन्त सरल और सामान्य रूप होने के कारण सबसे अधिक व्यापक है। अशिक्षित लोग भी उसका व्यवहार कर सकते हैं और उसके मांगलिक भाव से परिचित हैं। श्रीचक्र के त्रिकोण और सर्वतोभद्रचक्र के चतुर्कोण स्वस्तिक की अपेक्षा कुछ जटिल, किन्तु वर्णमाला के अक्षरों की अपेक्षा अधिक सरल हैं। उनके उपयोग के लिये भी शिक्षा आवश्यक नहीं है। इस दृष्टि से वे अक्षरात्मक प्रतीकों की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं। उनकी रचना की जटिलता उनके रूपात्मक सौन्दर्य को बढ़ाती है। श्रीचक्र तो एक सम्प्रदाय का रहस्यमय प्रतीक बन गया, किन्तु स्वस्तिक और उसके संयोग से बनने वाले सर्वतोभद्र चक्रों का व्यवहार स्वस्तिक के समान ही व्यापक है। भूमि पर तो मंगल की प्रतिष्ठा सर्वतोभद्रचक्र के द्वारा ही अधिक की जाती है। वस्तुओं, अलंकारों और अंगों पर स्वस्तिक की रचना अधिक होती है। भूमि पर इनकी अपेक्षा अधिक स्थान होता है। सर्वतोभद्रचक्रों के लिये अधिक स्थान अपेक्षित है। वस्तुओं और अलंकारों पर इनके योग्य स्थान नहीं होता। स्वस्तिक की रचना अधिक सरल होने के कारण अल्प से अल्प स्थान में संभव हो सकती है। आकार और रूप की सम्पन्नता की दृष्टि से स्वस्तिक, श्रीचक्र और अक्षरों के प्रतीकों में कुछ क्रमिक अन्तर अवश्य है किन्तु संस्कृति की परम्परा में वे समान रूप से विपुल सौन्दर्य और मंगल के प्रतीक हैं।

९. प्रतीकात्मक रंग—

आकार के बाद प्रकृति के लोक में वर्ण (रंग) आता है। आकार केवल रूप की रेखाओं का विन्यास है। इस विन्यास के भीतर वस्तुओं का रूप रंग के द्वारा ही प्रकाशित होता है। दृष्टि पर प्रभाव की दृष्टि से यह कहना कठिन है कि आकार की रूप-रेखा और रंग में किसका प्रभाव प्रमुख और अधिक होता है। प्रत्यक्ष संवेदना की स्थिति में रंग अधिक तीव्र और प्रभावशाली होता है। रंग की तीव्रता और उसका प्रभाव एक प्रकार से आकार को अभिभूत कर लेती है। रंग का रूप इतना सम्पन्न होता है कि उसके सामने आकार की रूप-रेखा लज्जित हो जाती है। इसीलिये चित्रों में भिन्न और अधिक तीव्र रंग की रेखाओं

द्वारा आकार को रूप दिया जाता है। गैस्टाल्ट मनोविज्ञान का सम्प्रदाय प्रत्यक्ष संवेदना में आकार को अधिक महत्व देता है। उनकी दृष्टि में पृष्ठ-देश की भूमिका में आकार का प्रत्यक्ष होता है। आकार की दिशा में ही शिशु के प्रत्यक्ष का विकास होता है। इस मत में इतना सत्य है कि पृष्ठ-भूमि की तुलना में आकार पर दृष्टि अधिक केन्द्रित रहती है। पृष्ठ-भूमि की अस्पष्टता और अनन्तता तथा आकार की स्पष्टता और परिमितता इसका कारण है। किन्तु संभवत: प्रत्यक्ष संवेदना में रंग का प्रभाव आकार से भी अधिक तीव्र होता है। शिशुओं के प्रत्यक्ष में संभवत: आकार से भी पहले रंग का प्रभाव होता है। आयु का कुछ विकास होने पर ही आकार स्पष्ट होते हैं। किन्तु दूसरी ओर स्मृति में आकार का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। वर्तमान में चाहे प्रत्यक्ष संवेदना का अधिक महत्व हो किन्तु सामान्य जीवन में स्मृति की सम्पत्ति मनुष्य की अधिक समृद्ध निधि है। प्रत्यक्ष का वर्तमान में जो कुछ उपयोग होता हो किन्तु अन्तत: वह स्मृति को ही अधिक सम्पन्न बनाता है। इस प्रकार स्मृति जीवन की सम्पत्ति का कोष है। स्मृति ही संस्कृति की परम्परा का ही सूत्र है। स्मृति और कल्पना के द्वारा ही रूप और भाव के अतिशय संस्कृति के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। स्मृति में भूतकाल के अनुषंग को छोड़कर स्मृति और कल्पना का शेष रूप बहुत कुछ समान हैं। दोनों में ही अप्रस्तुत का उपस्थापन है। संस्कृति की परम्परा में जो रूप और भाव का अतिशय है उसका निर्वाह स्मृति के द्वारा होता है। कल्पना वर्तमान और भविष्य में भाव के विस्तार के द्वारा संस्कृति के सौन्दर्य को समृद्ध बनाती है। आकार स्मृति में रंग की अपेक्षा अधिक स्थायी रहता है और स्मृति सस्कृति की परम्परा का अवलम्ब है। अत: आकारगत प्रतीक संस्कृति के अधिक व्यापक और स्थायी निमित्त हैं। स्वस्तिक और सर्वतोभद्र चक्र तथा श्री और ओ३म् की व्यापक महिमा का यही कारण है।

किन्तु आकार और रंग एक दूसरे से अभिन्न हैं। प्रत्यक्ष सम्वेदना में वर्ण आकार से भी अधिक प्रभावशाली होता है। वर्ण सम्पत्ति के बिना आकार शून्य प्रतीत होता है। इसीलिये प्राय: आकारगत प्रतीकों

की रूप रेखा को रंग के द्वारा रूप से सम्पन्न किया जाता है। दक्षिण की रांगोली और उत्तर भारत की अनेक मांगलिक विधियों में यह मिलता है। अस्तु चाहे आकार स्मृति में अधिक स्थायी हो, किन्तु प्रत्यक्ष संवेदना में रंग का महत्व भी कम नहीं है। स्मृति की धारा में संस्कृति की परम्परा का निर्वाह होता है। किन्तु संस्कृति का सौन्दर्य और भाव वर्तमान में ही सम्पन्न होता है। अतः संस्कृति के उपकरणों में रंग का महत्व आकार से कम नहीं है। इसीलिये भारतीय संस्कृति के रूपों में रंग का महत्वपूर्ण स्थान है। रंगों का स्रोत सूर्य है। सूर्य की भी भारतीय संस्कृति में बहुत महिमा है। सूर्य के द्वारा इन्द्र धनुष तथा अन्य उपकरणों में प्रकाशित होने वाले वर्ण सात हैं। इनके अतिरिक्त सफेद और काले दो रंग और होते हैं। सफेद सप्त वर्णों का निषेध है। काला सातों वर्णों की समष्टि है। उसमें सातों रग की किरणें समा जाती हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से सभी रंग कुछ भावों के द्योतक हैं। इन्हीं भावों के अनुरूप भारतीय संस्कृति में रंगों को अपनाया गया है। इस दृष्टिकोण के पीछे कुछ वैज्ञानिक संगति भी है, यद्यपि सांस्कृतिक परम्परा में रंगों की महिमा उस भाव के अतिशय के कारण ही है जो लोक-मन में रूढ़ हो गया है। यों अपने स्वरूप और अपनी आभा में सभी रंग सुन्दर मालुम होते हैं। प्रकृति के नन्दन में सभी वर्णों के पुष्प होते हैं और वे सभी सुन्दर लगते हैं। चित्रकला में सभी रंगों का उपयोग होता है और सभी रंग सौन्दर्य की रचना में योग देते हैं। किन्तु संस्कृति केवल सौन्दर्य की साधना नहीं है, वह मंगल की आराधना भी है। सभी रंग चाहे समान रूप से सौन्दर्य के विधायक हों किन्तु सभी रंग मंगल के सूचक नहीं हैं। इन्द्रधनुष के सात रंगों में एक ओर सान्द्रनील और दूसरे छोर पर लाल होता है। मध्य में हरा रंग होता है। लाल से लेकर हरे तक चार रंग भारतीय संस्कृति की परम्परा में मांगलिक माने जाते हैं। दूसरी ओर के तीन रंगों को अमांगलिक मानते हैं। ये तीनों रंग नीले के ही उपभेद हैं। लाल, नारंगी, पीले और हरे को मांगलिक मानने के कई कारण हैं। इन रंगों का रूप उज्ज्वल है और इनमें एक सहज आकर्षण है। लाल और हरे रंग बालकों को आरम्भ से ही आकर्षित करते हैं।

लाल रंग सबसे अधिक आकर्षक है। वैज्ञानिक दृष्टि से लाल रंग की किरणें सबसे अधिक लम्बी होती हैं। यदि रंगों को तेज का रूप मानें तो लाल रंग में तेज का स्फोट सबसे प्रथम होता है। जलती हुए अंगारों और उदय होते हुए सूर्य का रंग लाल होता है। तेज शक्ति का सूचक है। अतः लाल रंग शक्ति का प्रतीक होने के कारण मांगलिक बन गया है। भारतीय धर्म और संस्कृति में शक्ति की बहुत महिमा है। इसीलिये लाल रंग का उपयोग मांगलिक अवसरों पर सबसे अधिक होता है। रोली का तिलक लगाया जाता है और तिलक का व्यवहार प्रत्येक मांगलिक अवसर पर होता है। कलावा का एक रंग लाल होता है। साधुओं के गेरुआ रंग में भी लाल रंग की छाया है। शक्ति की आराधना में लाल रंग का विशेष उपयोग है। देवी के पुजारी आपाद मस्तक लाल रंग का वस्त्र धारण करते हैं। देवी के मन्दिर में दर्शकों को सिन्दूर का तिलक लगाया जाता है। विश्व की सृजनात्मिका शक्ति को मातृ रूपा मानने के कारण स्त्रियों को शक्ति का स्वरूप माना जाता है। दुर्गा सप्तशती के "स्त्रियः समस्ता सकलाः जगत्सु" के अनुसार समस्त स्त्रियां शक्ति का स्वरूप हैं। इसलिये स्त्रियों के सौभाग्य और शृंगार में लाल रंग का विशेष महत्व है। उनके महावर, बिन्दी, मांग आदि में लाल रंग के पदार्थों का उपयोग होता है। विवाह और मृत्यु दोनों ही काल में उनके आवरण के लिये लाल रंग का विशेष रूप से विधान है।

हरा रंग समृद्धि का सूचक है। प्रकृति के क्षेत्र में यह समृद्धि हरे पत्तों के रूप में खिलती है। कृषि की समृद्धि भी हरियाली में ही अंकुरित होती है। वनस्पतियों की हरियाली पर ही जीवन की सत्ता और समृद्धि निर्भर है। वनस्पतियों की यह हरियाली शक्ति का स्रोत भी है। बीजों की शक्ति हरियाली के रूप में ही प्रस्फुटित होती है। इसके साथ-साथ हरी वनस्पतियों में शक्ति के तत्व भी हैं, जिन्हें आधुनिक विज्ञान विटामिन कहता है। शक्ति से पूर्ण होने के कारण ही हरे-भरे खाद्य पदार्थों को 'शाक' कहते हैं, जो 'शक' का भाव रूप है। इसी कारण देवी का एक रूप शाकम्भरी भी है, जो जगत् को शाक-पूर्ण करने के कारण विख्यात है। शक्ति और समृद्धि के सूचक होने के कारण हमारे मांगलिक अवसरों

पर दूर्वादिल और हरित पत्रों का उपयोग किया जाता है। ताम्बूल पत्रों से संस्कारों के अवसर पर जल का अर्घ्य दिया जाता है। मांगलिक मालाओं में दूर्वादल लगाये जाते हैं। नवरात्र में कन्याएँ दूर्वादलों से गौरी की पूजा करती हैं। मांगलिक अवसरों पर हरे पत्तों की वन्दनवार लगाई जाती है। लाल और हरे दोनों रंगों के शक्ति और समृद्धि सूचक होने के कारण देश के कुछ भागों में विवाह के अवसर पर जो घाँघरा और ओढ़नी बनाये जाते हैं उनमें एक लाल रंग का और दूसरा हरे रंग का होता है। लाल और हरे रंगों की इस मांगलिकता का कुछ वैज्ञानिक आधार भी है। लाल रंग में तेज के रूप का प्रथम स्फोट होता है। तेज सृष्टि का मूल तत्व है। उसी पर सृष्टि का जीवन अवलम्बित है। सबसे लम्बी प्रकाश-किरणों से प्रस्फुरित लाल रंग उष्णता का सूचक है। यह उष्णता तेज का लक्षण है। तेज जीवन का स्रोत है। इसीलिये उष्णता जीवन का पर्याय बन गई है। जीवित प्राणियों की देह में उष्णता रहती है। मृत्यु में देह ठंडी हो जाती है। इसीलिये मृत्यु को शीतल मानते हैं। शक्ति स्वरूप होने के साथ-साथ तेज प्रकाश का रूप भी है। जीवन भी प्रकाश का अभिलाषी है। संस्कृति के पुष्प प्रकाश की ही किरणों में खिलते हैं। शक्ति जीवन की प्रेरणा है। प्रकाश उसकी दिशा है। मृत्यु शीतल होने के साथ-साथ अन्धकारमयी भी है। इसीलिये भारतीय मुनियों ने अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की और मृत्यु से अमृत की ओर जाने की कामना की। अज्ञान और मृत्यु की प्रतीक होने के कारण अन्धकार अवांछनीय है। मृत्यु और अन्धकार का वर्ण काला होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मरण की 'श्याम' से तुलना की है। मृत्यु का प्रतीक होने के कारण ही नीला और काला रंग अमंगल और असौभाग्य का सूचक है। नीले और काले में यहाँ अधिक भेद नहीं किया गया है। 'श्याम' पद का प्रयोग दोनों के लिये होता है। बाण ने अपनी 'कादम्बरी' में ऐसा वर्णन किया है कि हर्ष वर्धन को उनके बड़े भाई राज्य वर्धन की मृत्यु का समाचार देने के लिये जो दूत आया वह अपने माथे पर एक नीले कपड़े की पट्टिका बाँध कर आया। वह पट्टिका अमंगल की सूचक है। राजस्थान में विधवाओं

के वस्त्रों में नीले और काले रंग का उपयोग अधिक होता है। अन्य भागों में विधवाओं के लिये तथा मृत्यु के अवसर पर जो श्वेत वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है वह अमंगल की दृष्टि से नहीं, वरन् पवित्रता की दृष्टि से है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी नीले रंग को शीतल माना जाता है और शीतलता मृत्यु की सूचक है।

हरे रंग की माध्यमिकता के कारण उसका मंगल सूचक होना उचित ही है। माध्यमिक वृत्ति सदा मंगलमयी है। लाल और हरे के अतिरिक्त पीले और नारंगी रंग भी मांगलिक माने जाते हैं। सौभाग्यवती स्त्रियों के वस्त्रों तथा अन्य उपकरणों में इनका प्रयोग होता है। कलावे में लाल के साथ एक रंग पीला होता है। हल्दी और केशर का उपयोग मांगलिक विधियों में होता है। नारंगी रंग में लाल और पीले का सम्मिश्रण हैं। पीला रंग विविध किरणों के प्रचुर सम्मिश्रण से बनता है। यह सम्मिश्रण साम्य का सूचक है। 'साम्य' ज्ञान और सन्यास का लक्षण है। इसीलिये कुछ सम्प्रदायों में पीले वस्त्र धारण किये जाते हैं। वैसे सामान्य पूजा, पाठ, संस्कार आदि के अवसर पर भी पीताम्वर धारण करने की धार्मिक परम्परा प्रचालित है। नारंगी अथवा गेरुआ में ज्ञान और साम्य के सूचक पीले रंग के साथ शक्ति के सूचक लाल रंग का मिश्रण है। समृद्धि का सूचक होने के कारण धार्मिक प्रसंगों में पत्तों के अतिरिक्त वस्त्र आदि के रूप में हरे रंग का प्रचार नहीं है। प्रकृति की हरियाली समृद्धि का सरल और सहज रूप है। वस्त्र आदि समृद्धि के कृत्रिम रूप हैं। धर्म और सन्यास के साथ समृद्धि की अधिक संगति नहीं है। समृद्धि का अनुराग अर्थ के अतिरंजित मार्गों में ले जाता है। इसीलिये हरे रंग के पदार्थों का धार्मिक कर्मों में अधिक स्थान नहीं है। पत्रों से लक्षित हरियाली का सरल और सहज रूप ही धर्म के साथ संगत हो सकता है। किन्तु जीवन और संस्कृति की समग्रता में शक्ति और समृद्धि की महिमा अधिक है। इसीलिये भारतीय संस्कृति की मांगलिक परम्पराओं में इन दोनों रंगों का महत्वपूर्ण स्थान है। लाल रंग की सबसे अधिक व्यापकता जीवन और संस्कृति में शक्ति की महिमा तथा व्यापकता की सूचक है। अस्तु लाल और हरे रंग

भारतीय संस्कृति की परम्पराओं में शक्ति और समृद्धि के प्रतीक बन गये हैं। शक्ति और समृद्धि दोनों का रूप सृजनात्मक है। अतः स्त्री के सौभाग्य में दोनों के सामजंस्य से संस्कृति के सृजनात्मक सौन्दर्य की परम्परा अमर बनती है। इनमें पीले रंग का पुट संस्कृति को धर्म की पवित्रता का प्रसाद देता है।

१०. वस्तु प्रतीक—

आकार और रंग रूप की अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। किन्तु रूप भी तत्व का आकार है। तत्व के अतिरिक्त रूप की स्थिति नहीं हो सकती। रूप और तत्व एक दूसरे से अभिन्न रहते हैं। रूप की अभिव्यक्ति सौन्दर्य का प्रकाश है। किन्तु तत्व सत्ता का सार और सम्बल है। अतः तत्व का महत्व भी कम नहीं है, यद्यपि संस्कृति में रूप के सौन्दर्य की प्रधानता है। संस्कृति के कुछ प्रतीकों में स्वस्तिक और श्री के समान रूप की ही प्रधानता है। अतिशय होते हुए भी इनका रूप अत्यन्त सरल है। इन सरल रूपों में प्रचुर भाव का अतिशय सन्निहित होकर संस्कृति को मंगलमयी बनाता है। भाव इन रूपों का अन्तरिक और चिन्मय तत्व है। यही भाव संस्कृति की आत्मा है। भाव के सूक्ष्म तत्व की भाँति जीवन और संस्कृति में स्थूल तत्व का भी महत्व है। यह स्थूल तत्व प्राकृतिक है। प्रकृति के उपादान इसी से निर्मित हैं। समस्त रूप इन तत्वों के आधार में ही आकार ग्रहण करते हैं। संस्कृति में चाहे रूपों की महिमा अधिक हो किन्तु जीवन के अवलम्ब ये तत्व ही हैं। इन तत्वों के आधार के बिना जीवन संभव नहीं है। अतः जीवन और संस्कृति के सामंजस्य के लिये रूपों के सौन्दर्य में तत्वों के मूल्य का समन्वय आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में जिस प्रकार रूपों के सौन्दर्य की विपुलता है, और भावों के अतिशय की महान परम्परा है, उसी प्रकार स्थूल तत्वों का ग्रहण भी प्रचुरता के साथ किया गया है। यह भारतीय संस्कृति की प्रकृतिवादिता का द्योतक नहीं है, वरन् उसमें सम्पन्न होने वाले प्रकृति और संस्कृति के व्यापक सामंजस्य का सूचक है। रूप और भाव के सौन्दर्य से अलंकृत होकर प्रकृति के उपादान और उपकरण

प्राकृतिक रहते हुए भी संस्कृति के निमित्त बन जाते हैं। रूप और भाव का सौन्दर्य प्रकृति के अतिचारों की मर्यादा बन कर प्रकृति को संस्कृति का पीठ बनाता है।

प्रकृति के वस्तु रूप स्थूल तत्वों का भारतीय संस्कृति में इतने व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है कि ऐसा प्रतीत होता है मानों समस्त सृष्टि और समस्त जीवन अपने सम्पूर्ण उपकरणों के साथ संस्कृति के रंग-स्थल बन गये हैं। प्रकृति पांच तत्वों से निर्मित है। ये पांच तत्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। प्राकृतिक और भौतिक तत्व होने के कारण ये यथार्थ की कोटि में हैं। इनके रूप में अतिशय का कोई प्रश्न नहीं है। किन्तु हमारी सांस्कृतिक विधियों में इतने भाव के साथ इन सबका उपयोग होता है कि ये सब संस्कृति के सम्पन्न भावों के प्रतीक बन गये हैं। वैदिक संस्कृति में तो इन सबको देवताओं का रूप मिला है। पृथ्वी मनुष्यों की माता है। आकाश उनका पिता है। पृथ्वी के अंचल में और आकाश की छत्र-छाया में सब मनुष्य पलते हैं। अथर्ववेद में पृथ्वी के महत्वपूर्ण सूक्त हैं। उनमें पृथ्वी की माता के रूप में ही वन्दना की है और मनुष्य ने अपने को उसका पुत्र माना है। आकाश का नाम 'द्यौ' है, क्योंकि वह ज्योतिष्मान है। वह अनेक ज्योतियों से प्रकाशित होता है। नदी, मेघ आदि जल के रूप हैं। ये भी वेदों में देवताओं के समान पूजित हैं। पृथ्वी के समान पर्जन्य और नदियों के सूक्त हैं। तेज और अग्नि तो स्वयं भासमान हैं और दूसरे तत्वों को भी भासित करते हैं। अग्नि तथा तेज के अनेक रूप वेदों में देवताओं के समान वंदित हैं। ऋग्वेद में अग्नि के सूक्तों की संख्या बहुत है। इसके अतिरिक्त सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि तेज के दीप्तिमान रूप हैं। देवता का अर्थ ही चमकने वाला है। इस प्रकार तेज ही देवत्व का मुख्य लक्षण हैं। देवताओं के चित्रों में उनके मुख के चतुर्दिक ज्योति का चक्र बनाया जाता है। वह उनके तेजस्वी और ज़्योतिर्मय स्वरूप का ही लक्षण है। अग्नि के अतिरिक्त उषा, सूर्य, चन्द्र आदि तेज के भास्वर रूप देवताओं के समान वन्दित हैं। वेदों में इनकी अनेक स्तुतियां हैं। सूर्य तेज का मूल स्रोत है। उसकी वेदों में इतनी महिमा है

कि गायत्री मंत्र को वेदों की आत्मा मानते हैं। 'गायत्री' छन्द का नाम है। गायत्री मंत्र सूर्य की वन्दना का मंत्र है। अदृश्य होते हुए भी वायु को भी देवता माना गया है। शीघ्रगामी और शीघ्रफलदायी देवता के रूप में वायु की वन्दना की गयी है। इसके अतिरिक्त गन्ध, पुष्प, आरती, अर्घ्य आदि के रूप में पृथ्वी, जल, तेज आदि हमारी सांस्कृतिक विधियों के अवलम्ब हैं। भौतिक तत्व जीवन के अवलम्ब हैं। यह उनका प्राकृतिक और यथार्थ मूल्य है। किन्तु भारतीय संस्कृति की विधियों में प्रकृति के यथार्थ में भी भाव का अतिशय उदित हुआ है जिससे प्रकृति संस्कृति के सौन्दर्य का पीठ बन गयी है। सांस्कृतिक अवसरों पर इन तत्वों का उपयोग प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में नहीं, वरन् एक अतिशय के रूप में होता है। रूप का अतिशय न होते हुए भी अपने यथार्थ रूप में ही ये तत्व विधि और भाव के अतिशय से युक्त होकर सौन्दर्य के आश्रय बनते हैं। इस सौन्दर्य से युक्त होकर ये तत्व हमारे सांस्कृतिक जीवन में विशेष भावों के प्रतीक बन गये हैं। पृथ्वी धैर्य और धारण का उपमान है। जल रस और जीवन का प्रतीक है। अग्नि का तो स्वरूप ही तेज और प्रकाश हैं किन्तु वह तेज शक्ति और ज्ञान का प्रतीक बन गया है। अदृश्य होते हुए भी वायु हमारा प्राण है और प्राण के समान गतिमान है। आकाश उच्च और अनन्त है। वह जीवन और आत्मा के अनन्त विस्तार का प्रतीक है। वेदान्त में अनन्त स्वरूप ब्रह्म को लक्षण-सादृश्य के कारण ब्रह्म माना गया है। जल और तेज जीवन के रस, शक्ति और ज्ञान हैं। पृथ्वी आधार है। आकाश की अनन्तता लक्ष्य है। वायु अन्तरिक्ष में रहती है। वह जीवन के आधार में संचरण करने वाला प्राण है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश के अनुरूप भूः भुवः और स्वः तीन लोकों की कल्पना की गयी है - जो गायत्री आदि वेद-मंत्रों की व्याहृतियां कहलाती हैं। पृथ्वी धारणा और आश्रय का तथा आकाश अनंत और व्यापक लक्ष्य का प्रतीक है। जल रस और पवित्रता का तथा तेज ज्ञान और पवित्रता का प्रतीक माना जाता है। जल का उपयोग अर्घ्य, आचमन, स्नान आदि में होता है, ये सब पवित्रता के साधन हैं। तेज का उपयोग यज्ञ, आहुति, आरती आदि अनेक रूपों में

होता है। तेज भी पवित्र और प्रकाशक है। इसीलिये अग्नि को मित्रता का साक्षी और सतीत्व की परीक्षा का साक्षी मानते हैं।

इस प्रकार प्रकृति के भौतिक तत्व सांस्कृतिक भावों के प्रतीक बन गये हैं। प्रकृति के यथार्थ में रूप के अतिशय के बिना भी भाव के अतिशय के द्वारा सांस्कृतिक सौन्दर्य की समृद्धि भारतीय संस्कृति का एक अद्भुत चमत्कार है। इससे समस्त प्रकृति ही संस्कृति का आश्रय बन गयी है। दूसरी ओर संस्कृति को यथार्थ का दृढ़ और स्थूल आधार मिल गया है। प्रकृति और संस्कृति के सामंजस्य के साथ-साथ इसमें लोक-संस्कृति को एक सहज और सुदृढ़ आधार भी मिला है। इस कारण संस्कृति के रूप और भाव केवल कल्पना न रह कर यथार्थ की भूमि में प्रतिष्ठित होते हैं। इसी यथार्थता के द्वारा संस्कृति जीवन के समग्र रूप में व्याप्त और सहज रूप में अन्वित हो गई है। पांच तत्वों के सामान्य रूप के अतिरिक्त अन्य अनेक विशेष रूपों में भी प्रकृति के वस्तु-तत्व का ग्रहण सांस्कृतिक परम्परा तथा सांस्कृतिक विधियों और आचारों में हुआ है। प्राकृतिक वस्तुओं के इन अनेक रूपों में संस्कृति का सौन्दर्य रूप, विधि, भाव आदि के अतिशय के द्वारा सम्पन्न हुआ है। प्रकृति के पांच तत्वों में स्थूल और सूक्ष्म का तारतम्य है। पृथ्वी सबसे अधिक स्थूल है और आकाश सबसे अधिक सूक्ष्म है। जल, तेज, वायु में क्रमशः स्थूलता कम होती गई है और सूक्ष्मता बढ़ती गयी है। सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल में अधिक रूपान्तर होता है और उसके रूप संख्या में अधिक होते हैं। पार्थिव रूप सबसे अधिक हैं, यद्यपि पंचीकरण के कारण ये केवल पार्थिव नहीं हैं। पार्थिव रूप निर्जीव और सजीव के भेद से दो प्रकार के हैं। प्राणहीन स्थूल पदार्थ और वनस्पतियां ये दो पार्थिव रूपों के प्रमुख भेद हैं। इन दोनों के भी अनेक प्रकार है। हमारे सांस्कृतिक आचारों में इन भौतिक उपकरणों का विपुल उपयोग होता है। पत्र, पुष्प, फल, कलश, घट, रोली, चन्दन अक्षत, कलावा, पान, सुपारी, नारियल, नैवेद्य, लोंग, तिल, वस्त्र आदि न जाने कितनी पार्थिव वस्तुएं हमारी संस्कृति का उपकरण बनती हैं। इनमें कुछ पदार्थों में रूप के अतिशय का सन्निधान भी होता है, किन्तु अधिकांश पदार्थ अपने यथार्थ रूप में ही उपयोग

में आते हैं। विधि और भाव के अतिशय के द्वारा इनमें सौन्दर्य का उत्कर्ष होता है। विधि एक गतिमान रूप है, जिसमें भाव के सहित अन्वित होकर भौतिक उपकरण सौन्दर्य की माला के पुष्प बन जाते हैं। सांस्कृतिक आचार में उपयोग में आने वाले ये पदार्थ हमारे साधारण जीवन के सुलभ और परिचित पदार्थ हैं। किन्तु विधि के रूप में अन्वित होकर इन पदार्थों में ही एक अपूर्व सौन्दर्य उदित होता है। इस प्रकार साधारण जीवन और उसके साधारण उपकरणों में सौन्दर्य का सन्निवेश भारतीय संस्कृति का अपूर्व चमत्कार है। इनमें रोली, चन्दन, घट, नारियल, कलावा, पुष्प, माला आदि अनेक पदार्थ अपने प्रकृत रूप में भी दिव्य सांस्कृतिक भावों के प्रतीक बन गये हैं। प्रतीक बनकर इनके यथार्थ रूपों में ही सांस्कृतिक सौन्दर्य की परम्पराओं के विशाल स्रोत उदित हुए हैं। इन स्रोतों की रसधारा से अंचित होकर हमारा दैनिक और साधारण जीवन ही दिव्य सांस्कृतिक सौन्दर्य से आप्लावित हो गया है।

भौतिक वस्तुएँ हमारे दैनिक उपयोग में आती हैं। सांस्कृतिक आचारों में इनका उपयोग जीवन में सौन्दर्य की सृष्टि करता है। परिचित वस्तुएँ ही एक अपूर्व शोभा से प्रकाशित होती हैं। कुछ ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो कम उपयोग में आती हैं। ऐसी वस्तुओं का आहरण जीवन में नवीनता और विस्तार उत्पन्न करता है। इस प्रकार भौतिक जगत की अनेक वस्तुएँ सांस्कृतिक सौन्दर्य का यथार्थ का आधार देती हैं। सूर्य, कमल, घट आदि के समान कुछ वस्तुएँ तो भावों के विशेष अतिशय से युक्त होकर सस्कृति की प्रमुख प्रतीक बन गयी हैं। सूर्य तेज और ऋत का प्रतीक है। कमल आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सौन्दर्य की पवित्रता, सन्तुलन, ऊर्ध्वगामिता आदि का प्रतीक है। घट जीवन की अचल स्थिति और रसपूर्णता का प्रतीक है। इसीलिये सूर्य की नित्य प्रात: वन्दना की जाती है। प्रत्येक मांगलिक कार्य में घट की स्थापना की जाती है। देवताओं के आसन और अलकार के रूप में कमल हमारे आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन के सौन्दर्य का लोकप्रिय प्रतीक है। अन्य भौतिक उपकरण भी कुछ सांस्कृतिक भावों के अतिशय से युक्त होकर सांस्कृतिक आचारों के उपकरण बने। सूर्य का तेजस्वी रूप तो प्रत्यक्ष

और विदित है, किन्तु कमल जिन सांस्कृतिक भावों का प्रतीक है, वे कमल के पुष्प की दीर्घ और जटिल व्यवस्था में अन्तर्निहित हैं। कमल का पुष्प जल में खिलता है। जल का एक पर्याय 'जीवन' है। वैसे भी जल जीवन का आधार है। भारतीय सृष्टिवाद और वैज्ञानिक विकास-वाद दोनों के अनुसार जीवन का आरंभ जल से ही हुआ। जल में खिलने वाला कमल जीवन में खिलने वाले सौन्दर्य का प्रतीक है। कमल की जड़ें सरोवर की पंक में बहुत गहरी होती हैं। इसके नाल भी बहुत लम्बे होते हैं। कमल की जड़ को मृणाल कहते हैं। वह कोमल किन्तु शुभ्र होती है। प्रकृति के सत्व गुण का वर्ण भी शुभ्र है। जिस प्रकार शुभ्र मृणालों के गहरे मूलों से सरोवर की श्यामल पंक में सुन्दर कमल खिलता है, उसी प्रकार सत्व गुण के पवित्र आधार में जीवन के तमस में सांस्कृतिक सौन्दर्य का कमल विकसित होता है। कमल के नाल की भांति जीवन के सौन्दर्य के सूत्र भी लम्बे और लचीले होते हैं, जिनके आधार पर सौन्दर्य का कमल सन्तुलित रहता है। कमल में अन्य पुष्पों की अपेक्षा अधिक दल होते हैं। इसीलिये उसका नाम 'शतदल' है। जीवन के सौन्दर्य के भी अनेक दल हैं। इन सब दलों का सन्तुलन ही सौन्दर्य का रूप है। कमल का पुष्प सदा जल के धरातल के ऊपर रहता है। सरोवर में जल बढ़ता जाता है तो अपने दीर्घनालों के सहारे कमल का पुष्प भी ऊपर उठता जाता है। इसी प्रकार जीवन के प्राकृतिक धरातल से ऊपर ही सांस्कृतिक सौन्दर्य खिलता है। प्रकृति से ऊपर रहकर ही सौन्दर्य के भाव प्रकाशित होते हैं। कमल संस्कृति के इसी ऊर्ध्वगामी सौन्दर्य का प्रतीक है। परम्परा में प्रचलित है कि सूर्य के उदय होने पर कमल खिलते हैं। सूर्य तेज का प्रतीक है। तेज की अरुण किरण की प्रेरणा से ही सांस्कृतिक सौन्दर्य का कमल खिलता है। ऐसे कमल पर ही जीवन के विधाता, जीवन की लक्ष्मी और जीवन की सरस्वती विराजती है।

११. क्रियात्मक प्रतीक—

आकार, रंग और वस्त्र के अतिरिक्त क्रिया भी जीवन का एक प्रमुख रूप है। आकार, वर्ण और वस्तु तो जीवन के उपकरण हैं, जीवन का

स्वरूप कर्म ही है। जीवन की सत्ता और उसके निर्वाह के लिये जिस क्रिया का उपयोग है उसे हम प्राकृतिक कह सकते हैं क्योंकि वह सहज और स्वार्थमय है। जीवन के मोह के कारण वह अनिवार्य भी है। उसमें कर्तृत्व की वह स्वतन्त्रता और रूप अथवा भाव का वह अतिशय नहीं है जो सांस्कृतिक सौन्दर्य की सृष्टि करता है। ये क्रियाएँ अपने प्रयोजन के लिये उपयुक्त हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त मनुष्य के जीवन में चेतना के स्वतंत्र कर्तृत्व के द्वारा उन क्रियाओं का भी विकास हुआ है जो केवल जीवन के निर्वाह के लिये उपयुक्त नहीं हैं। उन क्रियाओं में रूप और भाव का अतिशय है जो जीवन में सौन्दर्य की सृष्टि करता है। प्रतीति में इन क्रियाओं का रूप भी प्राकृतिक है और इनके उपकरण भी प्राकृतिक क्रियाओं के उपकरणों की भांति भौतिक हैं। किन्तु उपयोगिता की अभिधा इन क्रियाओं की पर्याप्त व्याख्या नहीं है। प्राकृतिक प्रतीति होने पर भी इन क्रियाओं की अभिधा सार्थक दिखाई नहीं देती। सांस्कृतिक कर्मों की वैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रायः संगत नहीं होती। वस्तुतः इन क्रियाओं की सार्थकता उपयोगिता की अभिधा में न होकर सम्बन्धों की लक्षणा और भावों की व्यंजना के अतिशय में है। इस अतिशय में ही इन क्रियाओं में सांस्कृतिक सौन्दर्य फलित होता है। रूप और भाव का अतिशय ही सौन्दर्य का लक्ष्य है।

केवल प्राकृतिक क्रियाओं की उपयोगिता की सीमा में मनुष्य सुखी हो सकता है किन्तु वह सुख प्रति क्षण का अल्प-स्थायी सुख ही होगा। वह चेतना के लोक का स्थायी समृद्धिशील आनन्द नहीं हो सकता। उपयोगिता की स्वार्थमय परिधि में विस्तार के सौन्दर्य का प्रकाश भी नहीं हो सकता। मनुष्य में जो चेतना विकसित हुई है, वह स्वार्थ और उपयोगिता के अतिरिक्त रूप, भाव, क्रिया आदि के अतिशय में सम्पन्न होने वाले सौन्दर्य की आकांक्षा करती है। इस सौन्दर्य की समृद्धि में ही उसका स्वरूप प्रकाशित होता है और वह कृतार्थ होती है। भारतीय संस्कृति में जीवन के सांस्कृतिक सौन्दर्य का यह रहस्य बड़ी विपुलता से प्रकाशित हुआ है। रूप, वर्ण, वस्तु, क्रिया आदि के अनेक रूपों में यह अतिशय का सौन्दर्य जीवन की योजना में समाहित हुआ है। रूप, वर्ण और

वस्तुओं का अतिशय संस्कृति के सौन्दर्य को समृद्ध उपकरण प्रदान करता है। इन उपकरणों से युक्त होकर सौन्दर्य क्रियाओं के अतिशय में चरितार्थ होता है। इस सक्रिय रूप में सौन्दर्य सजीव रूप में साकार होता है। रूप और भाव के अतिशय से युक्त जिन अतिशयिनी क्रियाओं में संस्कृति का सौन्दर्य सम्पन्न होता है वे इतनी विपुल और व्यापक हैं कि यह कहना उचित होगा कि मानों समस्त कर्ममय जीवन ही सांस्कृतिक सौन्दर्य से अभिसिंचित हो गया है। प्रातः उत्थान से लेकर रात्रि-शयन तक के दैनिक-कर्म तथा गर्भाधान अथवा जन्म से लेकर विवाह तक के संस्कार और वर्ष क्रम में आने वाले पर्व, व्रत, उत्सव आदि जीवन के समस्त कर्मों में विधि अथवा आचार के रूप और भाव का इतना अतिशय समाहित है कि सभी दिशाओं और रूपों में जीवन सांस्कृतिक सौन्दर्य से परिप्लुत हो गया है। जीवन की क्रियाओं में अन्वित होकर संस्कृति का सौन्दर्य सजीव बन कर जीवन के प्राणों में व्याप्त और जीवन की आत्मा के साथ एकाकार हो गया है।

विधि और आचार सांस्कृतिक कर्म के दो रूप हैं। दोनों ही प्राकृतिक कर्म से भिन्न हैं। यों प्रतीति में सभी कर्म प्राकृतिक दिखाई देते हैं। सभी कर्म इन्द्रियों का वाह्य व्यवहार हैं। किन्तु उसी कर्म को पूर्णतः प्राकृतिक कहा जा सकता है जो प्रकृति के धर्म के अनुकूल केवल स्वार्थ और प्राकृतिक उपयोगिता में कृतार्थ होता है। इसके साथ-साथ प्राकृतिक कर्म अनिवार्य भी होता हैं। प्रकृति की आकांक्षाओं से विवश होकर मनुष्य उस कर्म में प्रवृत्त होता है जिन कर्मों में ऐसी अनिवार्यता और विवशता नहीं रहती तथा जो पूर्णतः स्वार्थमय नहीं होते और जिनका फल केवल उपयोग में पूर्ण नहीं होता, उन्हें पूर्णतः प्राकृतिक नहीं कहा जा सकता। ऐसे सभी कर्म सांस्कृतिक नहीं होते। किन्तु जिन कर्मों में स्वतंत्र चेतना की प्रेरणा के साथ-साथ रूप और भाव का अतिशय रहता है उन्हें सांस्कृतिक कहना उचित है। व्यक्ति और स्वार्थ में केन्द्रित रहते हुए भी ये कर्म पूर्णतः स्वार्थमय नहीं होते। इनके रूप और फल परार्थ में विस्तृत होते हैं। ये एक ऐसे सामाजिक सामात्मभाव में सम्पन्न होते हैं जिसमें व्यक्ति का हित और स्वार्थ सामाजिक हित के

समुद्र की तरंग बन जाता है। ये कर्म धार्मिक और सांस्कृतिक होते हैं। मनुष्य का स्वतंत्र कर्तृत्व इनकी प्रेरणा है। धर्म-शास्त्र भी इसमें मनुष्य की स्वतंत्रता स्वीकार करता है। धर्म-शास्त्र केवल उन कर्मों का आदेश देता है और उनके फल का निर्देश करता है। किन्तु मनुष्य इन कर्मों को करने अथवा न करने में स्वतंत्र है। इतना अवश्य है कि मनुष्य की स्वतंत्रता केवल कर्म में ही है, फल एक नैतिक विधान के अनुसार होता है। उसमें मनुष्य का अधिकार नहीं है। यही गीता का कर्म-योग है। कदाचित इन कर्मों में मनुष्य की स्वतंत्रता ही उस रूप और भाव के अतिशय का स्रोत है जिससे इन कर्मों की परिधि धर्म और संस्कृति के क्षितिजों का स्पर्श करती है। प्राकृतिक कर्मों में भी रूप और भाव के अतिशय से सांस्कृतिक सौन्दर्य का समवाय हुआ है। इस समवाय से भोजन और काम जैसे पूर्णतः प्राकृतिक कर्म भी सांस्कृतिक बन गये हैं। समाज के सांस्कृतिक विकास में एक ओर प्राकृतिक कर्मों में सांस्कृतिक सौन्दर्य का सन्निधान हुआ है तथा दूसरी ओर रूप और भाव के अतिशय की विशेष प्रमुखता से कुछ विशेष रूप से सांस्कृतिक कर्मों का प्रचार हुआ है।

विधि और आचार मनुष्य के स्वतंत्र कर्मों के ऐसे ही प्रकार हैं जिनमें रूप और भाव का अतिशय अधिक होता है। इन कर्मों का प्राकृतिक रूप अपने आप में अर्थहीन है। देवताओं पर जल चढ़ाना, आरती और अर्चनाकी अनेक विधियाँ, चरण-वन्दना, प्रणाम, परिक्रमा, सप्तपदी आदि ऐसे अनेक सांस्कृतिक कर्म हैं जो अपने प्राकृतिक रूप में अर्थहीन जान पड़ते हैं। हमारा अपना स्नान करना, घर में दीपक जलाना, किसी उद्देश्य से जाना आदि ऐसी प्राकृतिक क्रियाएँ हैं जो अपने स्वार्थ और उपयोग में कृतार्थ होती हैं। किन्तु देवताओं पर जल चढ़ाने से, पूजा अथवा आरती करने से, गोवर्धन अथवा व्रज की परिक्रमा से तथा विवाह के समय सप्तपदी से कौनसा प्राकृतिक प्रयोजन सिद्ध होता है ? यदि होता भी है तो उसमें इन कर्मों की इतिकर्त्तव्यता नहीं है। प्राकृतिक स्वार्थ और उपयोग में इन कर्मों का कृतार्थ न होना ही इनमें रूप के अतिशय का लक्षण है। इस कृतार्थता के होने पर भी स्वतंत्र

प्रेरणा के द्वारा इनका सम्पन्न होना इनमें भाव के अतिशय का लक्षण है। उपयोग के अतिरिक्त रूप ही रूप का अतिशय है। स्वार्थ से अतिरिक्त भाव ही भाव का अतिशय है। इस अतिरेक से आरंभ होकर सांस्कृतिक जीवन में रूप और भाव की विपुल समृद्धि होती है। विधि और आचार दोनों में ही रूप और भाव का विपुल अतिशय मिलता है, फिर भी विधि और आचार में कुछ अन्तर किया जा सकता है। विधि की व्युत्पत्ति में ही रूप के अतिशय का संकेत है। कर्म की प्रणाली के सम्बन्ध में वेद अथवा शास्त्र के आदेश को विधि कहते हैं। प्रणाली कर्म का रूप ही है। शास्त्रों में धार्मिक कर्मों की जिन विधियों का आदेश किया गया है उनमें रूप का विपुल अतिशय है। प्रायः यह अतिशय इतना विपुल है कि आधुनिक सभ्यता में पले हुए उन भारतीयों को जो अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं से दूर हो गये हैं यह व्यर्थ का आडम्बर जान पड़ता है। विधियों के इन रूपों में उपकरणों और क्रियाओं की इतनी जटिलता है कि उनमें रूप और भाव के अतिशय के सौन्दर्य को न देखने वालों के लिये यह जटिलता निरर्थक मालुम होती है। प्राकृतिक दृष्टिकोण से प्रभावित होने के कारण वे उसके रूपों में स्वार्थ और उपयोग खोजते हैं। वस्तुतः विधि के रूपों की स्वतंत्रता, निरुपयोगिता, विपुलता और जटिलता में ही उसका सांस्कृतिक सौन्दर्य है। विधियों के रूप की यह जटिलता आधुनिक सभ्यता में बढ़ते हुए प्राकृतिक और व्यावहारिक कर्मों की उस जटिलता के विपरीत हैं जिसका अतिशय न प्राकृतिक उपयोग की दृष्टि से सार्थक है और न सांस्कृतिक सौन्दर्य की वृद्धि में उपकारक है। आधुनिक सभ्यता के जटिल व्यवहारों में उपयोगिता की अपेक्षा अनिवार्यता अधिक है। अतिशय के विपरीत होने के कारण उपयोगिता सौन्दर्य की विरोधी है। स्वतंत्रता की विरोधी होने के कारण अनिवार्यता संस्कृति की अधिक घातक है। इस अनिवार्यता के बढ़ने के कारण ही साधनों की समृद्धि में भी संस्कृति का सौन्दर्य और आनन्द मन्द हो रहा है।

'विधि' आचार का वह रूप है जो प्रधानतः धार्मिक है और जिसको वेद अथवा शास्त्र का आदेश प्रेरित करता है। इस आदेश को ग्रहण

करने अथवा न करने की स्वतंत्रता मनुष्य को अवश्य है किन्तु इस आदेश को स्वीकार कर लेने के बाद वह कर्म की प्रक्रिया में शास्त्र की विधि का अनुसरण करता है। एक ओर इसमें मनुष्य की स्वतंत्रता कुछ कम होती है, किन्तु दूसरी ओर शास्त्र और परम्परा के सम्बन्ध की लक्षणा से रूप का अतिशय बढ़ जाता है और बढ़ कर वह कर्म के सौन्दर्य को बढ़ाता है। भारतीय शास्त्रों के आदेश में किसी व्यक्ति के अहंकार की ऐसी प्रखर छाप नहीं है। अतः वे आदेश भी बहुत कुछ निर्वैयक्तिक से जान पड़ते हैं और समाज की परम्पराओं में घुल मिल गये हैं। शास्त्र के आदेशों के साथ-साथ मनुष्य की स्वतंत्र प्रेरणाओं के अनेक रूप इन परम्पराओं में मिल गये हैं। शास्त्र के विधान पूर्ण नहीं हो सकते अतः इन स्वतंत्र प्रेरणाओं के लिये उनमें सदा अवकाश रहता है। आचारों के निर्देश भी कुछ शास्त्रों में मिलते हैं किन्तु आचारों की प्रेरणा-शक्ति बहुत कुछ सामाजिक शिष्टाचारों की परम्पराओं में ही रहती है। उनका संचालन शास्त्र के निर्देश की अपेक्षा समाज की स्वतंत्र प्रेरणा से अधिक होता है। इस दृष्टि से विधि धर्म के अधिक निकट है और आचार में संस्कृति का सौन्दर्य अधिक है। विधि में रूप के अतिशय की प्रधानता है। विधि के रूपों की परम्परा अधिक जटिल और सघन है। रूप के अतिशय के कारण विधि में सौन्दर्य की प्रचुरता मान सकते हैं। विधि की तुलना में आचार के रूप अधिक सरल हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि जहाँ विधियाँ मनीषी मुनियों और सुधी शास्त्रकारों की प्रतिभा से प्रसूत हुई हैं, वहाँ आचार साधारण लोक की परम्पराओं में उदित हुआ है। विधियों का उपयोग कुछ विशेष अवसरों पर होता है। ये अवसर कभी-कभी आते हैं। अतः इन अवसरों पर विधियों की जटिलता का निर्वाह हो सकता है। किन्तु आचार दैनिक व्यवहार का रूप है। उसमें जटिलता का निर्वाह कठिन है। संभवतः इसीलिये आचारों के रूप सरल हैं। चरण-वन्दना, प्रणाम आदि आचार के अत्यन्त सरल रूप हैं। इनमें किन्हीं उपकरणों की अपेक्षा भी नहीं है। यह भी विधि और आचार का एक अन्तर है। विधियों में अनेक उपकरणों की आवश्यकता होती है और इस प्रकार उनके रूप की जटिलता

वढ़ती है, चाहे इस जटिलता से विधियों का सौन्दर्य बढ़ता हो। प्रक्रियाओं और उपकरणों की विपुलता तथा शास्त्र के अनेक-विधि आदेश विधियों के रूप को जटिल और सुन्दर बनाते हैं। किन्तु आचारों का रूप भी अपनी सरलता में सुन्दर है। उनका रूप सरल होने के कारण उनका व्यवहार भी व्यापक है। किन्तु आचारों के सरल रूप में भाव का विपुल अतिशय सन्निहित है। भाव का यह अतिशय सांस्कृतिक आचारों को सौन्दर्य से आप्लावित करता है। रूप का अतिशय अधिक होने के कारण विधियों में सौन्दर्य अधिक है। भाव का सौन्दर्य अधिक होने के कारण आचारों में आनन्द अधिक है। इसके अतिरिक्त आचार प्रधानतः सामाजिक और सांस्कृतिक हैं। विधियाँ सांस्कृतिक होने के अतिरिक्त धार्मिक भी हैं। व्यक्तिगत शील होते हुए भी आचार का प्रयोजन सामाजिक व्यवहार और लौकिक मूल्यों में ही है। आनन्द उसका अलौकिक फल है। किन्तु विधियों की दिशा कुछ अलौकिक लक्ष्यों की ओर भी रहती है। ईश्वर और देवताओं के अलौकिक सम्बन्ध भी विधियों के क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। विधियाँ व्यवहार में अधिक व्यक्तिगत होती हैं। धर्म में संस्कृति का समवाय हो जाने के कारण सांस्कृतिक सौन्दर्य की छाया उन्हें सामाजिक बना देती है। किन्तु समात्मभाव का आधार विधि और आचार दोनों के लिये आवश्यक है। समाज की परम्पराओं के सूत्र दोनों के सौन्दर्य का वितान तानते हैं। रूप की जटिलता और विपुलता के कारण यदि विधि में सौन्दर्य अधिक है तो सम्बन्धों की जटिलता और स्वरूपगत विपुलता के कारण आचारों में भाव के अतिशय का आनन्द अधिक है।

भारतीय धर्म और संस्कृति की परम्परा में अनेक विधियां और आचार महत्वपूर्ण भावों के प्रतीक बन गये हैं। क्रियात्मक होने के कारण इन प्रतीकों के सांस्कृतिक भाव जीवन में सहज अन्वित है। आज भी वे भाव मन्द नहीं हुए हैं। हमारे प्रणाम में वैसी ही विनय है और हमारे आशीर्वादों में मंगल का चिरन्तन भाव है। धार्मिक विधियों के भाव कुछ अवश्य मन्द हो गये हैं किन्तु उनकी भी प्राचीन आभा लुप्त नहीं हुई है, चाहे वह समय की धूल से धुंधली हो गई है। संस्कृति के

भाव परम्परा के चिन्मय परिवेश में निरन्तर प्रकाशित रहते हैं। विदेशी आक्रमणों और शासनों के प्रभाव से सांस्कृतिक भावों की परम्परा कुछ शिथिल होती गई और उसकी प्रभा मन्द होती गयी। आज स्वतंत्रता के सूर्योदय में वे सब बाधाएँ मिट चुकी हैं। हम अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को भाव के अनुयोग से फिर प्रकाशित कर सकते हैं, और अपने राष्ट्रीय जीवन को सांस्कृतिक सौन्दर्य से अलंकृत कर सकते हैं। हमारी हीन भावना को पश्चिमी सभ्यता के आडम्बर जो चुनौती दे रहे हैं उससे संभल कर हमें अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं की महिमाओं को समझना है। इन परम्पराओं को भावों का नवीन प्रकाश देकर हम अपने राष्ट्रीय जीवन को सांस्कृतिक सौन्दर्य से भर सकते हैं। ये परम्परायें बड़ी व्यापक हैं। इनमें हमारे सांस्कृतिक प्रतीकों के अतिरिक्त पर्व, संस्कार, व्रत आदि संस्कृति के अनेक रूप हैं। किन्तु प्रतीक संस्कृति के आकाश के नक्षत्रों के समान हैं। वे हमारे सांस्कृतिक जीवन पथ का प्रकाश और निर्देशन करते हैं। अतः संस्कृति की परम्पराओं में प्रतीकों का विशेष महत्व है। इन प्रतीकों में रूप के अतिशय का सौन्दर्य विपुल है। सामाजिक जीवन के सम्बन्ध प्रतीकों के निमित्तों में भाव का सौन्दर्य भरते हैं। हमारी संस्कृति के रूप आज भी अक्षुण्ण हैं। भाव की धारा कुछ मन्द हो चली है। उसमें हमें सामाजिक चेतना के नवीन स्रोतों को प्रवाहित करना है। आकार, वर्ण, रंग, क्रिया आदि सभी प्रकार के प्रतीक सांस्कृतिक जीवन को सम्पन्न बनाते हैं। क्रियात्मक प्रतीक संस्कृति को अधिक सजीव बनाते हैं। अतः उनके अनुशीलन में आज हमें समृद्ध भावों को जगाना है। अन्य प्रतीक भी व्यवहार में ही सार्थक होते हैं। संस्कृति के क्रियात्मक रूपों में उन प्रतीकों के रूप अलंकारों के समान सुशोभित होते हैं। जीवन के अनुरूप और सजीव होने के कारण क्रियात्मक प्रतीक हमारे सामान्य व्यावहारिक जीवन को ही सांस्कृतिक रूप देते हैं। क्रियात्मक होने के कारण मानों समस्त जीवन ही संस्कृति के अनुरूप बन जाता है।

विधि और आचार के इन क्रियात्मक प्रतीकों में संकल्प, परिक्रमा, माला, अर्चना, प्रणाम, चरण-वन्दना, आशीर्वाद और सप्तपदी मुख्य हैं।

इनमें संकल्प परिक्रमा, माला और अर्चना मुख्यतः धार्मिक विधियां हैं। चरण-वन्दना, प्रणाम, आशीर्वाद और सप्तपदी सांस्कृतिक आचार हैं। ये दोनों प्रकार की क्रियाएँ धर्म और संस्कृति के कुछ विशेष भावों की प्रतीक हैं। संकल्प प्रत्येक धार्मिक कृत्य में पवित्र निश्चय की भूमिका है। संकल्प से ही जीवन के व्यावहारिक कर्म भी सफल होते हैं। संकल्प में 'जम्बूद्वीपे भरत खण्डे' से लेकर अपने नाम तक और 'वैवस्वत मन्वन्तरे' से लेकर कर्म-काल के 'तिथिवार' तक देश और काल की जिस व्यापक परम्परा की भूमिका रहती है वह समाज की परम्परा और व्यवस्था के साथ मनुष्य के घनिष्ट सम्बन्ध को प्रकट करती है। संकल्प जीवन के कर्म में निश्चय और आत्मबल का मंत्र है। दीर्घ परम्पराओं के अनुषंग व्यक्ति के गौरव को प्रकाशित करते हैं। साथ ही समाज में उसके उचित सम्बन्ध को स्थापित करते हैं। परिक्रमा गति की सूचक है। वह जीवन में गतिशीलता का मंत्र है। देवताओं मन्दिरों और तीर्थों की परम्परा का धार्मिक तात्पर्य देवताओं से लक्षित भावों को जीवन की गतिशील परिधि में समाविष्ट करना है। दक्षिण पार्श्व से देवताओं की परिक्रमा के दो अर्थ हैं। दक्षिण का अर्थ अनुकूल है। देवताओं द्वारा लक्षित धार्मिक और सांस्कृतिक भाव सदा हमारे अनुकूल बने रहें। दक्षिण परिक्रमा की दिशा और गति पृथ्वी की गति के विपरीत होती है। पृथ्वी प्रकृति की प्रतीक है। भारतीय संस्कृति में प्रकृति का पूर्ण समवाय है, फिर भी पूर्णतः प्रकृति के अनुकूल चलकर संस्कृति की साधना नहीं की जा सकती। उसके लिये प्रकृति की मर्यादा अपेक्षित है। मर्यादा में जो प्रकृति का संयम है उसमें कुछ निरोध का भाव आवश्यक है। पृथ्वी की गति के विपरीत प्रदक्षिणा की गति मर्यादा के इसी भाव की सूचक है। अर्चना एक जटिल धार्मिक आचार है। अनेक उपकरणों और विधियों के संयोग से वह सम्पादित होता है। पंचोपचार के रूप में प्रकृति के पाँचों तत्वों का ग्रहण है। देवता को इनके अर्पण का आशय यही है कि हम प्राकृतिक जीवन को देवताओं से लक्षित सांस्कृतिक भावों में समन्वित करें। 'जल' जीवन का पर्याय है। जल का अर्घ्य जीवन के अर्पण का सूचक है। आरती, पुष्प आदि का समर्पण भी

जीवन के तेज और सौन्दर्य को मांगलिक भावों में समन्वित करने का सन्देश है। घण्टा की ध्वनि समाज में सांस्कृतिक भावों का निर्घोष है। इस प्रकार अर्चना एक व्यापक और सम्पन्न रूप में धार्मिक और सांस्कृतिक भावों की प्रतिष्ठा करती है। माला धार्मिक साधना का एक गतिशील साधन है। वह काल की गति का ध्यान के विन्दु में अन्वय करती है। माला के सूत्र और दाने रहस्यमय तत्वों के द्योतक हैं। सूत्र ध्यान की अखण्ड और निरन्तर धारा को सूचित करता है। दाने जीवन के क्षण हैं जो धर्म के ध्यान से ओतप्रोत हैं। माला के १०८ दाने का भी एक गंभीर रहस्य है। १ विसर्ग के आरम्भ का सूचक है। १ और ८ से मिलकर बनने वाला ९ सर्ग की पूर्णता का संकेत है। पूर्ण विमर्श की सीमाओं के मध्य में लय के द्वारा ही साधना पूर्ण होती है। विसर्ग और लय का यह साम्य विमर्श और प्रकाश अथवा शिव और शक्ति के साम्य का सूचक है।

वन्दना और प्रणाम सांस्कृतिक विनय के आचार हैं। वे गुरूजनों के प्रति छोटों के आदर के सूचक हैं। बड़ों का आदर समाज के विकास का आवश्यक शील है। चरण-वन्दना के द्वारा इस विनय का प्रदर्शन कुछ महत्वपूर्ण भावों से पूर्ण है। चरण गति के साधन और सूचक हैं। गुरुजनों की गति का अनुसरण करके ही हम प्रगति के मार्ग में अग्रसर हो सकते हैं। यह अनुसरण गुरुजनों के आदर्शों का कर्म में अनुशीलन है। इसीलिये वन्दना में करों के द्वारा चरणों का स्पर्श किया जाता है। 'कर' कर्म के करण हैं। करों के द्वारा गुरुजनों के चरण स्पर्श का यही आशय है कि हम उनके आदर्शों का व्यवहार में अनुशीलन करें। यह चरण-स्पर्श पीछे से नहीं, वरन् सामने से किया जाता है। इसका अर्थ यही है कि हम पूर्वजों के आदर्शों का आदर करते हुए भी सांस्कृतिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ें और नये मार्गों का अनुसन्धान करें। कर-वद्ध प्रणाम में विनय और आदर के साथ-साथ अभय का सामाजिक सद्-भाव भी सन्निहित है। दोनों हाथों के जोड़ने पर मनुष्य आघात नहीं कर सकता। प्राचीन काल के वन्य मार्गों में दूर से ही अनाघात और अभय का यह संकेत कितने गंभीर सद्भाव का सूचक रहा होगा, यह

कल्पना करना कठिन है। हृदय और मस्तक से इन हाथों का स्पर्श भावना और बुद्धि में इस सद्भाव की दृढ़ता को लक्षित करता है। अपने रूप में अत्यन्त सुन्दर और सुशील प्रतीत होने के साथ-साथ प्रणाम का आचार सामाजिक मंगल का विनयपूर्ण प्रतीक है। आशीर्वाद विनय के मांगलिक फल हैं। वे छोटों के प्रति गुरूजनों के स्नेह और उनकी सद्भावना के सूचक हैं। आशीर्वाद के अनेक रूपों में दीर्घायु, विद्या, धन, सौभाग्य आदि की शुभकामनाएँ सन्निहित हैं। ये शुभकामनाएँ छोटों के लिये गुरुजनों का मांगलिक वरदान हैं। सप्तपदी की अग्नि प्रदक्षिणा अनेक सांस्कृतिक भावों से भरी है। ग्रन्थिवन्धन पति-पत्नी की अभिन्नता का सूचक है। अग्नि के तेजस्वी और पवित्र देवता के साक्ष्य में यह सम्बन्ध अनुष्ठित होता है। सप्तपदी की प्रदक्षिणा गतिशील जीवन में इस सम्बन्ध की सफलता को लक्षित करती है। गति जीवन का स्वरूप है। सहयोग की पूर्णगति से दम्पति अपना जीवन सफल करें, सप्तपदी की अग्नि प्रदक्षिणा का यही भाव है। पत्नी पति का अनुसरण करती है इसमें कोई हीनता नहीं। पति के अनुकूल चलना पत्नी का धर्म है। दूसरी ओर पथ का निर्माण, मार्ग की खोज और आदर्शों की स्थापना करके समाज का नेतृत्व करना पुरुष का कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है। सप्तपदी सात लोकों और सात दिनों की सूचक है। इन सभी क्षेत्रों में और सब दिन वैवाहिक सम्बन्ध के मांगलिक भावों की गतिशील अन्विति सप्तपदी के शिष्टाचार का उद्देश्य है। इस प्रकार सप्तपदी दाम्पत्य जीवन के विपुल मांगलिक भावों की प्रतीक है।

१२. सृष्टि और देवता—

आकार, वर्ण, रंग, वस्तु और क्रिया के प्रतीक सांस्कृतिक भावों के द्योतक होते हुए भी अपने बाह्य रूप में पूर्णतः लौकिक हैं। जिन रूपों में ये प्रतीक साकार हुए हैं, वे रूप लोक और जगत में उसी रूप में मिलते हैं। वे जिन भावों की व्यंजना करते हैं उनमें भी कोई अलौकिकता नहीं है। अस्तु रूप और भाव दोनों की दृष्टि से ये प्रतीक लौकिक हैं। इन प्रतीकों के भावों में जो दर्शन के तत्व अन्तर्निहित हैं, वे भी दार्शनिक होने की अपेक्षा सांस्कृतिक अधिक हैं। दर्शन की दिशा जीवन और जगत् के

अन्तिम प्रश्नों की ओर रहती है। संस्कृति लोक में सौन्दर्य और आनन्द की परम्परा की प्रतिष्ठा है। संस्कृति की दृष्टि लोक और जीवन की ओर रहती है, और वह इन्हीं में सौन्दर्य और मंगल का सन्निधान करती है। किन्तु संस्कृति के साथ-साथ मनुष्य की रुचि दार्शनिक प्रश्नों में भी रहती है। वह जीवन और जगत् के अन्तिम प्रश्नों का उत्तर भी खोजता है। वह सृष्टि के कारण और जीवन के अन्तिम लक्ष्य की जिज्ञासा करता है। एक जीवन और जगत् के मूल अथवा आदि की खोज है, दूसरा जीवन के अन्त का अन्वेषण है। भारतीय दर्शनों में सृष्टिवाद और मोक्ष के रूप में इन दोनों ही प्रश्नों की बहुत मीमांसा हुई है। दर्शनों में इन प्रश्नों का विवेचन पूर्णत: बौद्धिक दृष्टि से हुआ है। मोक्ष के प्रसंग में अध्यात्म की साधना का व्यावहारिक मार्ग भी प्रकाशित हुआ है। किन्तु भारतीय संस्कृति में सृष्टि के आधार और जीवन के लक्ष्य की कल्पना ऐसे रूप में हुई है जो हमारी समस्त सांस्कृतिक योजना के अनुरूप है और उसका एक अंग बन गया है। दर्शनों में सृष्टि की उत्पत्ति का विवेचन अधिक होता है। उत्पत्ति एक वैज्ञानिक और दार्शनिक समस्या है। वह कारणों की खोज है। उत्पत्ति और कारणता का सांस्कृतिक मूल्य संदिग्ध है। संस्कृति दर्शन और विज्ञान के समान जीवन की व्याख्या नहीं, वरन् उसकी पूर्णता और समृद्धि है। इसीलिये संस्कृति का सृष्टिवाद उत्पत्ति की व्याख्या और कारण की खोज नहीं, वरन् सृष्टि की एक ऐसी व्यवस्था है जो जीवन की सुन्दर और मंगलपूर्ण कल्पना के अनुकूल है। जीवन के लक्ष्य में भी आत्मा आदि के अलौकिक तत्व की प्रतिष्ठा की अपेक्षा संस्कृति में मांगलिक मूल्यों का स्थापन अधिक है।

संस्कृति की योजना में सृष्टि की व्याख्या और जीवन के लक्ष्य की कल्पना ऐसे सजीव और साकार रूपों में की गई है कि वे आज तक लोक चेतना की परम्परा में अम्लान बने हुए हैं। उनमें दर्शन और आध्यात्म के प्रश्नों का सूक्ष्म समाधान नहीं, वरन् लोक मन की आकांक्षाओं और आशाओं के सुग्राह्य अवलम्ब समाहित हैं। इतना अवश्य है कि सृष्टि और जीवन के इन गम्भीर और जटिल मर्मों की स्थापना सामान्यत: परिचित रूपों के द्वारा नहीं हो सकी है। कुछ भावों की व्यंजना में

अलौकिक और अद्भुत रूप आ गये हैं जो देखने में बड़े विचित्र जान पड़ते हैं। किन्तु उनके ये विचित्र रूप सौन्दर्य और मंगल से पूर्ण सांस्कृतिक भावों के प्रतीक हैं। रूपों की विचित्रता के कारण उनकी प्रतीकात्मकता अधिक स्पष्ट है। विचित्रता के कारण उनमें एक अद्भुत आकर्षण भी है। इस आकर्षण से वे लोक-मन को प्रभावित कर लोक-चेतना की परम्परा में अपने चमत्कार से प्रकाशित रहे हैं। यह विचिचत्रा देवताओं के रूपों में सबसे अधिक है। दूसरे देशों के निवासी सृष्टि और देवताओं की इन कल्पनाओं को आदिम भारतीयों की असभ्य संस्कृति का कौतूहल मानते हैं। अपनी परम्परा में ऐसी कल्पना कम होने के कारण वे इन कल्पनाओं के सांस्कृतिक अन्तर्भावों को नहीं समझ सकते। किन्तु वस्तुतः इन विचित्र कल्पनाओं में संस्कृति के गम्भीर और मूल्यवान भाव अन्तर्निहित हैं। इनके उद्घाटन के लिये भारतीय संस्कृति के विशाल क्षितिजों को प्रकाशित करने वाली दिव्य प्रतिभा चाहिये। कुछ अलौकिक और विचित्र होते हुए भी सृष्टि और देवताओं के अलौकिक तथा आध्यात्मिक प्रतीक पूर्णतः अलौकिक और विचित्र नहीं हैं। इनके अलौकिक और विचित्र रूप का आधार बहुत कुछ अंश में लौकिक और परिचित है। देवताओं के रूप बहुत कुछ मनुष्यों के समान हैं, किन्तु मनुष्यों की तुलना में रूप के अतिरेक के कारण वे कुछ विचित्र बन गये हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, लक्ष्मी, सरस्वती, काली, दत्तात्रेय, गणेश, कार्तिकेय आदि देवता कुछ मनुष्यों के समान हैं, किन्तु कुछ विचित्र भी हैं। किसी के चार हाथ हैं, किसी के चार मुख हैं, किसी का सिर हाथी का है, तो किसी का आसन कमल है, तो किसी का वाहन चूहा है, किसी के तीन नेत्र हैं, मस्तक पर चन्द्रमा है और सिर पर गंगा बहती है। ये सब रूप की विचित्रताएँ देखने में अद्भुत जान पड़ती हैं किन्तु ये सब महत्वपूर्ण सांस्कृतिक भावों की द्योतक हैं। सृष्टि की कल्पना भी बड़ी अद्भुत और विचित्र है किन्तु उसमें भी लौकिक और परिचित आधार बहुत हैं। कूर्म, कोल आदि सब हमारे परिचित जीव हैं। किन्तु सृष्टि की विचित्रता उसकी व्यवस्था में हैं। देवताओं के जिन रूपों में संस्कृति के भाव साकार हुए हैं, उनमें यह विचित्रता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। इसका कारण यह है कि जीवन के

सांस्कृतिक भाव और मूल्य साधारण रूपों में व्यक्त नहीं हो सकते। देवता इन भावों, मूल्यों और लक्ष्यों के प्रतीक हैं। ज्यों-ज्यों इनकी कल्पना जटिल और समृद्ध होती गयी है त्यों-त्यों देवताओं के रूप की विचित्रता बढ़ती गयी है। इन विचित्रताओं के द्वारा ही गंभीर सांस्कृतिक भावों को सरल और सुग्राह्य रूप दिया जा सका है। सृष्टि की कल्पना भी अद्‍भुत होने के साथ-साथ अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। दर्शनों की सृष्टि-व्याख्या आध्यात्मिक और प्राकृतिक है। उनमें प्रायः आत्मा से भौतिक सृष्टि के उद्‍भव का क्रम बताया गया है। मोक्ष के रूप में जीवन के लक्ष्य की कल्पना पूर्णतः आध्यात्मिक है। इसके विपरीत संस्कृति की योजना में सृष्टि और लक्ष्य की प्रतीकात्मक कल्पनाएं प्रधानतः सांस्कृतिक हैं। प्राकृतिक व्याख्याओं का रूप उदासीनता है। अध्यात्म के एकान्त लक्ष्य में भी कुछ उदासीनता है। भाव का अतिशय होने के कारण उसमें आनन्द अवश्य है, किन्तु रूप का अतिशय न होने के कारण उसमें सौन्दर्य नहीं है। वेदान्त के बाद वैष्णव दर्शनों में साकार ईश्वर की कल्पना के द्वारा इसी सौन्दर्य की पूर्ति हुई है। संस्कृति में जो सृष्टि और लक्ष्य की कल्पना है उसमें रूप और भाव दोनों का अतिशय होने के कारण सौन्दर्य और आनन्द दोनों परिपूर्ण हैं। सौन्दर्य से परिपूर्ण होने के कारण ये कल्पनाएं प्रधानतः सांस्कृतिक हैं, चाहे इनमें प्राकृतिक आधार और आध्यात्मिक भावना का समन्वय हो। विज्ञान, दर्शन और अध्यात्म में विश्लेषण अथवा विवेक अधिक होता है। किन्तु संस्कृति का लक्षण संश्लेषण है। इसीलिये सृष्टि और लक्ष्य की कल्पना अलग न होकर एक समग्र रूप में साकार हुई है। क्षीरसागर, कूर्म और कोल से लेकर कैलाश और शिव तक सृष्टि की व्याख्या और जीवन के लक्ष्य की एक संश्लिष्ट और समग्र योजना है। जीवन के लक्ष्य की साधना के रूप में देवता अपने पृथक स्वरूपों में भी प्रतिष्ठित हुए हैं। देवताओं की अर्चना में विधि और आचार की विपुलता रूप का अतिशय बनकर धार्मिक उपासना को सांस्कृतिक सौन्दर्य से अलंकृत करती है। अर्चना के रूप का अतिशय देवताओं के रूप के अतिशय के साथ मिलकर उपासना के सांस्कृतिक सौन्दर्य को और भी अधिक बढ़ाता है।

इस प्रकार अलौकिक और विचित्र होते हुए भी सृष्टि और देवताओं

पूर्ण और समृद्ध बनाते हैं। बाह्य रूप में विचित्र होते हुए भी ये गंभीर भावों के द्योतक हैं। इनकी विचित्रताएँ कुछ गूढ़ और कठिन भावों को सुगम बनाती हैं। लौकिक और परिचित रूपों में इन विचित्रताओं का ऐसा सामंजस्य हुआ है कि देवताओं के विचित्र रूप भी सुन्दर बन गये हैं। भारतीय परम्पराओं से अपरिचित को वे चाहे अद्भुत और कुरूप दिखाई देते हों, किन्तु अपनी परम्पराओं से परिचित और अपनी संस्कृति के संस्कारों से सम्पन्न भारतीयों को चिर परिचित होने के कारण वे अद्भुत कम और सुन्दर अधिक जान पड़ते हैं। परम्परा भी सम्बन्ध की लक्षणा के द्वारा रूप का विस्तार और अतिशय उत्पन्न करती है। इस लक्षणा और अतिशय के द्वारा परम्परा संस्कृति के रूपों का सौन्दर्य बढ़ाती है। इसीलिये विदेशियों के लिये जो रूप अद्भुत और विचित्र जान पड़ते हैं, भारतीयों के लिये वे रूप सुन्दर और आराध्य हैं। विष्णु और शिव के सौन्दर्य की महिमा काव्य और शास्त्रों में छाई हुई है। लोकमन और लोक परम्परा में भी इनका सौन्दर्य समाया हुआ है। सौन्दर्य की विपुलता भारतीय धर्म और संस्कृति की ऐसी विशेषता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। सौन्दर्य की इस विपुलता में देवताओं के रूपों का अद्भुत और भयानक तत्व भी आश्चर्य और भय का कारण नहीं रहा। ये आश्चर्य और भय सौन्दर्य के सागर में उसी प्रकार मग्न हो गये हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा की कान्ति में उसका कलंक मग्न हो जाता है। परिचय की दीर्घ परम्परा के कारण इन अद्भुत रूपों के आश्चर्य और भय में एक रूप का अतिशय उत्पन्न हो गया है, जिसके द्वारा आश्चर्य और भय के स्थान पर सौन्दर्य की महिमा बढ़ी है। क्षीर सागर में शेष शैया पर विराजमान विष्णु के सौन्दर्य से शेषनाग की भयानकता भी विलीन हो जाती है। एक दीर्घ परम्परा के द्वारा शेषनाग हमारे अत्यन्त परिचित बन गये हैं और वे हमें भयभीत नहीं करते। इसी प्रकार शिव का अद्भुत रूप भी भय उत्पन्न नहीं करता उनके त्रिशूल और त्रिनेत्र हमारी आराधना के चिर परिचित आधार हैं। नृसिंह रूप की अद्भुतता और भयानकता दोनों ही हमें भयभीत नहीं करते। बराह रूप की घृणा भी संस्कृति के सौन्दर्य में विलीन हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि और देवताओं की कल्पना में जहाँ एक ओर

देवताओं के स्वरूप में परम्परा के परिचय और रूप के अतिशय के द्वारा सौन्दर्य बढ़ता गया है, वहाँ दूसरी ओर घृणा, आश्चर्य, भय आदि के भाव इस सौन्दर्य की समृद्धि में विलीन होते गये हैं। जीवन में सौन्दर्य और आनन्द की वृद्धि करने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के रूप मनोभावों का परिष्कार करके जीवन की मांगलिक संभावनाओं को भी बढ़ाते हैं।

सृष्टि और देवताओं के प्रतीक आकार, अक्षर, रंग और क्रिया के प्रतीकों की अपेक्षा अधिक जटिल तथा व्यापक अर्थ से पूर्ण है। आकार, क्रिया आदि के प्रतीक भी गंभीर सांस्कृतिक भावों के द्योतक हैं। उन भावों के सम्पूर्ण अर्थ में भी वहुत व्यापकता और जटिलता है। वे लोक के आचार में उन भावों की प्रतिष्ठा करते हैं। किन्तु विधि के अतिरिक्त अन्य प्रतीक अपने रूप में सरल हैं। उनका उपयोग भी सरल है। सृष्टि और देवताओं के प्रतीक अपने स्वरूप में वहुत जटिल हैं। उनकी जटिलता का कारण भाव और अर्थ की विपुलता है। सृष्टि की व्यवस्था और देवताओं के स्वरूप का प्रत्येक अंग संस्कृति के जटिल भावों के एक पक्ष को प्रकाशित करता है। विचित्र होते हुए भी इन वाह्य अंगों में एक अदभुत सगति है। इस संगति के कारण ही देवताओं के विचित्र रूप भी सुन्दर बने। उस संगति का मर्म उन सांस्कृतिक भावों की आन्तरिक संगति है जो इन प्रतीकों के रूपों में साकार होते हैं। आकार, क्रिया आदि के प्रतीक सांस्कृतिक मूल्यों के निर्वाह और सांस्कृतिक जीवन के आचार सूत्र हैं। अतः सामाजिक शिप्टाचार में उनका उपयोग वहुत होता है। सृष्टि के प्रतीक एक व्यापक विधान के रूपक हैं। व्यवहार में उनका उपयोग संभव नहीं है। सामाजिक चेतना की परम्परा में वे सृष्टि के विधान और व्यवस्था के रहस्यों का प्रकाशन करते हैं। देवताओं के प्रतीक सांस्कृतिक और सामाजिक लक्ष्यों को साकार करते हुए भी व्यक्तिगत उपासना के निमित्त वन गये हैं। फिर भी हमारे अनेक सांस्कृतिक पर्व देवताओं के निमित्त से मनाये जाते हैं। अतः उपासना के व्यक्तिगत होते हुए भी देवताओं का प्रसाद समाज के लिये संस्कृति का वरदान वन जाता है। व्यक्तिगत उपासना और सांस्कृतिक पर्व दोनों में देवताओं का प्रभुत्व होने के कारण सृष्टि के प्रतीक का

प्रचार कम है। फिर सृष्टि के प्रतीक की योजना में देवताओं के अतिरिक्त क्या है। देवताओं की ही एक क्रम व्यवस्था सृष्टि का प्रतीक है। दूसरे सृष्टि के विधान का प्रतीक इतना व्यापक है कि वह व्यवहार का विषय भी नहीं बन सकता। लोक चेतना की आस्था बन कर वह सृष्टि की स्थिति, संस्कृति की व्यवस्था और जीवन के विधान को प्रकाशित कर सकता है। इसी रूप में सृष्टि का प्रतीक जीवन के रहस्यों का प्रकाशन करता रहा है, जहाँ कि देवताओं की उपासना समाज में सक्रिय रूप में सांस्कृतिक मूल्यों की साधना का मार्ग बनी रही है।

सृष्टि का अद्भुत प्रतीक मार्मिक रहस्यों से पूर्ण है। पौराणिक परम्परा के अनुसार क्षीरसागर में कमठ अथवा कच्छप की पीठ पर कोल अथवा वराह स्थित है। वराह के ऊपर शेषनाग की शैय्या पर विष्णु भगवान विराजते हैं। विष्णु भगवान की नाभि से एक कमल निकलता है, उस कमल पर ब्रह्माजी विराजते हैं। शेषनाग के सहस्र फणों पर पृथ्वी स्थिति है। कैलाश उस पृथ्वी का सर्वोच्च शिखर है। इस कैलाश पर पार्वती के सहित शिव का निवास है, जिनके मस्तक पर चन्द्रमा है और जिनकी जटाओं से गंगा की धारा निकलती है। सृष्टि के विधान की यह पुरातन कल्पना इतनी विचित्र है कि प्रायः इसकी विचित्रता के आधार पर विदेशी विद्वान हमारा उपहास करते हैं और हमारी अवैज्ञानिकता पर दया करते हैं। किन्तु बाह्य रूप से अद्भुत और विचित्र यह सृष्टि का प्रतीक संस्कृति की भावपूर्ण व्यवस्था का द्योतक है। क्षीरसागर मातृत्व के उस महिमामय भाव का सूचक है जिसके सरल और स्नेहमय अंचल में सृष्टि पलती है। कच्छप अथवा कूर्म योग की कठिन और अन्तर्मुखी स्थिति की साकार प्रतिमा हैं। इसी योग की दृढ़ स्थिति पर विश्व की व्यवस्था आधारित है। कमठ की पीठ इस दृढ़ता का और उसके अंगों का संकोच उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति का संकेत करता है। योग की इस संयम और साधनामयी दृढ़ता से ही जीवन के मंगलमय उद्योग सफल होते हैं। समुद्र-मन्थन इनका एक प्रतीकात्मक उदाहरण है। कोल अथवा वराह के रूप में अवतार लेकर विष्णु ने मल के गर्भ से सृष्टि का उद्धार किया था। वराह संस्कृति की साधना में इसी

प्रक्षालन और शोधन का प्रतीक है। प्रकृति की प्रक्रिया में सृष्टि में अनेक मल उत्पन्न होते हैं। इनका निवारण करके ही संस्कृति का सौन्दर्य प्रकाशित हो सकता है। इस शोधन-कर्म की स्थिति भी योग में ही है। इसीलिये कमठ की पीठ पर कोल का आसन है। योग के द्वारा मल-प्रक्षालन होने पर ज्ञान का प्रकाश होता है। शेषनाग इस ज्ञान का प्रतीक है। शास्त्रों में भी वे ज्ञान के देवता माने गये हैं। महाभाष्यकार पतंजलि उन्हीं के अवतार माने जाते हैं। शेष के सहस्र फण ज्ञान की अनन्त शाखाओं का संकेत करते हैं। शेष के द्वारा समुद्र-मन्थन ज्ञान के द्वारा विश्व के रहस्यों का अनुसन्धान है। प्रकृति के सत्व गुण में ज्ञान का प्रकाश होता है। इसीलिये शेष का वर्ण शुभ्र है। ज्ञान अनन्त है। शेषनाग की भी अनन्त संज्ञा है। अनन्त चतुर्दशी उन्हीं की पूजा का पर्व है। इस शेष की कुण्डली में लोक के रक्षक विष्णु विराजते हैं। योग और ज्ञान के आधार पर ही लोक की रक्षा संभव है। उसमें शक्ति का समन्वय भी अपेक्षित है। विष्णु के आयुध इस शक्ति के प्रतीक हैं। मातृत्व के मंगलमय भाव के विशाल अंचल में पल कर योग, ज्ञान और शक्ति लोक की समृद्धि और रक्षा करके उसके मंगल का मार्ग प्रशस्त करते हैं। विष्णु के शंख और पद्म संस्कृति के इसी मंगल भाव के द्योतक हैं। विष्णु के अवतार सृष्टि की रक्षा और उसके मंगल की एक विकासशील प्रक्रिया का निर्देश करते हैं। मत्स्य से कोल तक पशु-बल का विकास है। नृसिंह रूप में पशु-बल के चरम उत्कर्ष में मनुष्यत्व का उदय होता है, जो आसुरी अत्याचारों से संस्कृति के प्रहलाद की रक्षा करता है। वामन अवतार में मनुष्यत्व की लघुता दानव से सृष्टि की याचना करती है। परशुराम के रूप में मनुष्य का ज्ञान शक्ति से सम्वलित होकर असुरों का संहार करता है। संस्कृति की रक्षा और अपने तेज की प्रखरता में मनुष्य का दर्प भयंकर बन जाता है। राम के रूप में इस ज्ञान और शक्ति के सागर के तट पर शील और सौन्दर्य का अर्मोदय होता है। कृष्ण के रूप में उसमें प्रेम, कला आदि के संयोग के द्वारा भगवान की सोलह कलाएँ पूर्ण होती हैं और कृष्ण पूर्णावतार बनते हैं। यदि बुद्ध के वैराग्य और अहिंसा को भी संस्कृति का आवश्यक

अंग मानें तो बुद्ध निश्चय ही भगवान के नवम् अवतार हैं। यदि इनके अतिरिक्त संस्कृति के और कोई भाव शेष रह जाते हैं तो उनका समवाय कल के अवतार में होगा और समस्त भावों की समाप्टि उसे अन्तिम अवतार का रूप देगी।

इस प्रकार विष्णु के अवतारों में संस्कृति के रक्षण और मंगल के भावों की एक बर्धमान परम्परा है। विष्णु रक्षा के देवता हैं। रक्षा पर ही विश्व की स्थिति और उसका विकास निर्भर है। चाहे वैज्ञानिक और दार्शनिक क्रम में सृजन प्रथम हो किन्तु रक्षण के द्वारा ही सृजन सफल और सार्थक हो सकता है। इसीलिये विष्णु की नाभि से निकलने वाले कमल पर ब्रह्माजी की स्थिति है। ब्रह्माजी सृजन के देवता हैं। उनके चार मुख हैं। वे चारों ओर देख सकते हैं। यह सर्वज्ञता की सूचक है। व्यापक ज्ञान का आधार सांस्कृतिक सृजन के लिये आवश्यक है। ब्रह्माजी मृष्टि के विधाता लोक के पितामह और वेदों के स्त्रष्टा हैं। वेद ज्ञान की निधि हैं। उनमें कर्म का विधान है। ज्ञान और कर्म से ही संस्कृति की व्यवस्था विकसित होती है। सहस्रमुख शेष की विशाल कुण्डली रक्षण और सृजन के देवताओं का क्षेत्र है। शेष के सहस्र फणों पर पृथवी की स्थिति है। ज्ञान की अनेक शाखाएँ ही हमारे सांस्कृतिक जगत् का आधार हैं। सत्व का शुभ्र कैलाश संस्कृति की साधना के उत्कर्ष का सूचक है। इस साधना के शिखर पर ही विश्व का मंगल अपने पूर्ण रूप में प्रकाशित होता है। पार्वती के सहित शिव लोक के पूर्ण मंगल के प्रतीक हैं। शिव का अर्थ ही 'कल्याण' है। वे अर्धनारीश्वर हैं। स्त्री और पुरुष की अभिन्नता लोक के मंगल का मूलमंत्र है। शिव योगी और तपस्वी हैं। तप और योग मंगल के मार्ग हैं। उनका काम-दहन प्रकृति के संस्कार और उन्नयन का तेजस्वी संदेश है। उनके अद्‌भुत और विचित्र रूप के प्रत्येक उपकरण का गंभीर और रहस्यमय अर्थ है। उनके मस्तक की अकलंक चन्द्रकला उस महाकला शक्ति की प्रतीक है जिसे वे शीश पर धारण करते हैं और जो विश्व के अनन्त रूपों की रचना करती है। उनकी जटाओं से बहने वाली गंगा की धारा रस की वह अमृत प्रवाहिनी है जो योग, तप श्रेय

आदि के समन्वय के द्वारा विश्व की चेतना से निस्तृत होती है। शीश उस चेतना का अधिष्ठान है। इसीलिये शिव के शीश से गंगा की धारा बहती है।

क्षीर सागर और कूर्म से लेकर शिव तक सृष्टि के विधान का रूपक संस्कृति की व्यवस्था, उसके आधार और उसके लक्ष्यों का रहस्यमय प्रतीक है। शिव के विचित्र रूप में सांस्कृतिक मंगल के समस्त पक्ष समाहित हैं। इसीलिये वे देवताओं में महादेव कहलाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के अतिरिक्त देवताओं के अन्य अनेक रूप हैं। उनमें कुछ रूप अधिक प्रसिद्ध और पूजित हैं। तीनों देवताओं की पत्नियाँ हमारी संस्कृति की दिव्य विभूति हैं। कमलासना लक्ष्मी विश्व के सौन्दर्य और श्रेय की प्रतीक है। हंसवाहिनी सरस्वती ज्ञान और कला की देवी है। हंस विवेक का और वीणा कला की प्रतीक है। शिव की शक्ति के अनेक रूप हैं। काली रूप में वह सृष्टि का संहार करती है जो सृजन और रक्षण के क्रम में आवश्यक है। अन्य अनेक रूपों में वह संस्कृति के सौन्दर्य और मंगल के अन्य रूपों का सम्पादन करती है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक देवी और देवता हैं। दत्तात्रेय ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों के एकत्र रूप हैं। अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य हैं जिन्होंने च्यवन ऋषि को पुनर्यौवन प्रदान किया था। उनकी देह अश्व के सभना है और सिर मुनि-कुमारों का सा है। अश्व का बल और स्वास्थ्य तथा मुनियों की मनीषा का समन्वय मनुष्य का आदर्श है, जो यौवन में सम्पन्न होने पर संस्कृति के मंगल का विधायक बनता है। इसीलिये अश्विनीकुमार चिरकुमार हैं। त्रिदेवों के अतिरिक्त गणेश देवताओं में अत्यन्त प्रमुख है। उनकी पूजा मांगलिक कार्यों में सबसे पहले होती है। वे शिव के पुत्र हैं। शिव कल्याणमय हैं। मंगल से प्रसूत होने के कारण गणेश पूर्ण मंगलकारक हैं। वे बुद्धि के देवता भी माने जाते हैं। उनका हाथी का सिर है। हाथी बड़ा बुद्धिमान पशु है। हाथी की सूँड़ को 'कर' कहते हैं वह हाथी के सिर में होती है। उसी से वह सारे काम करता है। वह हाथी का हाथ है। गणेश के गजवदन का रहस्य यह है कि बुद्धि और क्रिया का घनिष्ठ सामंजस्य ही

जीवन में मंगल का मार्ग है। मांगलिक कार्यों में गणेश का पूजन इसी सामंजस्य की महिमा का सन्देश देता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश आदि के समान ही अन्य देवताओं के विचित्र रूप भी गंभीर सांस्कृतिक भावों के प्रतीक हैं। देवताओं की अर्चना का अभिप्राय जीवन में उन भावों की प्रतिष्ठा करना है।

अस्तु आकार, अक्षर, वर्ण, वस्तु विधि, आचार, देवता और सृष्टि विधान के अष्टविधि प्रतीक अपनी विपुल भाव-सम्पत्ति के द्वारा भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाते हैं। इन प्रतीकों के विविध रूपों में एक ओर आकार, अक्षर, वर्ण, वस्तु, क्रिया आदि जीवन के प्रमुख रूपों का सन्निधान हुआ है, दूसरी ओर इन प्रतीकों में संस्कृति के समृद्धभावों के सन्देश समाहित हैं। ये प्रतीक अत्यन्त सरल रूप में संस्कृति की गंभीर और महत्वपूर्ण भावों को ग्राह्य बनाते हैं। इनके सरल रूप में भी रूप का अतिशय है जो सौन्दर्य का मूल स्रोत है। परम्परा और विधि के जटिल रूपों से सम्पन्न होकर इन सांस्कृतिक प्रतीकों की सौन्दर्य सम्पत्ति बहुत समृद्ध हो जाती है। इन विपुल और व्यापक प्रतीकों में ही भारतीय संस्कृति की वास्तविक निधियाँ निहित हैं। इन प्रतीकों के भाव और रूप हमारी धार्मिक चर्या और हमारे सांस्कृतिक आचार में सुरक्षित हैं। विदेशी आक्रमणों और शासनों का आतंक भी हमारी इस सांस्कृतिक विभूति को नष्ट नहीं कर सका। आज पश्चिमी विज्ञान और वैभव के प्रभाव में हम ऐसी दिशा की ओर अभिमुख दिखाई देते हैं जिसकी ओर चलने से कदाचित हम अपनी संस्कृति के दिव्य-लोक से दूर हो जायें। पश्चिमी सभ्यता का वैभव बाह्य और प्राकृतिक है। वह सम्वेदना और स्वार्थ की अभिधा तक सीमित है। इस कारण उसका सहज और तात्कालिक आकर्षण अधिक है। किन्तु उसमें मन और आत्मा का स्थायी आनन्द तथा समृद्ध सौन्दर्य नहीं है। सम्वेदना की उत्तेजना और आवृत्ति पर ही पश्चिमी सभ्यता जी रही है। प्राकृतिक होते हुए भी सभ्यता का यह मार्ग अपनी अतिरंजनाओं के कारण विकृति बन गया है। विकृति की यह दिशा उन्माद का मार्ग है जिसका अन्त मनुष्य-जीवन का सर्वनाश है। चन्द्र और मंगल लोक में पलायन करके भी मनुष्य इस

सर्वनाश से नहीं बच सकता। प्रकृति जीवन का आधार अवश्य है। भारतीय संस्कृति में इस आधार को आदर पूर्वक ग्रहण किया गया है। संस्कृति की योजनाओं में प्रकृति का इतना विपुल आधार है कि ऐसा प्रतीत होता है मानों समस्त प्राकृतिक जीवन ही संस्कृति का सुन्दर पर्व बन गया है। किन्तु प्रकृति की मर्यादा ही मंगल का मार्ग है। भारतीय संस्कृति में इस मर्यादा की सहज व्यवस्था है। इस मर्यादा की वेला में ही जीवन के समुद्र में सांस्कृतिक सौन्दर्य और उल्लास के ज्वार उठते हैं। सांस्कृतिक सौन्दर्य और आनन्द में ही जीवन की पूर्णता और कृतार्थता है। सौन्दर्य का रहस्य रूप के अतिशय में है। आनन्द का मर्म भाव का अतिशय है। दोनों एक दूसरे से अभिन्न हैं क्योंकि भाव की भूमिका में ही रूप का अतिशय सफल होता है। लक्षणा के सम्बन्ध विस्तार, स्मृति की दीर्घ परम्परायें, उपयोग और अनिवार्यता से रहित आचार की विस्तृत विधियाँ आदि अनेक दिशाओं में विस्तृत होकर रूप का सौन्दर्य समृद्ध होता है। भावों की व्यंजना रूप के सौन्दर्य में आनन्द का समन्वय करती है। इन रूपों की विशेषता ही प्रत्येक देश और समाज की सांस्कृतिक विभूति है। अपने जीवन के आचार और सांस्कृतिक परम्पराओं में इन रूपों का निर्वाह करके ही हम अपने राष्ट्रीय जीवन को सौन्दर्य, आनन्द और मंगल से परिपूर्ण कर सकते हैं।

अध्याय–३

पर्वों का उल्लास

अध्याय–३

पर्वों का उल्लास

भारतीय पर्वों में कला का समन्वय जिस रूप में है, वह कला का साधना रूप नहीं, वरन् वह सामाजिक रूप है; जो लोक कला के नाम से प्रसिद्ध है। कला की साधना एक व्यक्तिगत धर्म है। लोक-कला कला का एक ऐसा सामाजिक रूप है, जिसमें सभी समानता से भाग लेते हैं। साधना में कला का उत्कर्ष अवश्य होता है, किन्तु इस उत्कर्ष के कारण ही वह लोक-सामान्य नहीं रहती। साधारण लोक-समाज इस साधना के क्षितिजों का स्पर्श नहीं कर सकता, इसीलिए कला की साधना और उस साधना की कला का रसास्वादन कुछ विशेषज्ञों का ही अधिकार रहा है। इसी कारण जीवन में कला का महत्व और अनुराग भी कम होता गया है। यह काव्य की एक विचित्र विडम्बना है कि जैसे-जैसे कला का उत्कर्ष होता जाता है, वैसे-वैसे वह जीवन से दूर होती जाती है और लोक-जीवन में उसका अनुराग कम होता जाता है। सभ्य समाज में कला के साधक अधिक हैं, किन्तु कला के अनुरागी बहुत कम हैं। कला के प्रदर्शनों में भाग लेना अनुराग का प्रमाण नहीं है। उसके पीछे मनोरंजन का मनोविज्ञान है। साधना की कला के विपरीत लोक-कला में सबका समान अनुराग होता है। लोक-कला का रूप ही समानभाव से समस्त समाज के सहयोग द्वारा निर्मित होता है। समता और सहयोग लोक-कला के सौन्दर्य को उस अपूर्व आह्लाद से अंचित करता है, जो साधना की कला में दुर्लभ है। लोक-कला के उल्लास के रूप में ही नृत्य, संगीत, चित्रकारी आदि हमारे पर्वों को अलंकृत करते हैं। पारिवारिक और सामाजिक रूप में अनेक प्रकार से लोक-कलाएँ पर्वों को सुन्दर और मनोहर बनाती हैं। पर्वों के कलापूर्ण समारोहों में सभी कर्त्ता और कलाकार तथा सभी दर्शक होते हैं। साधना की कला की भाँति प्रदर्शकों और दर्शकों के निम्न वर्ग नहीं होते। यह भेद साधना की कला के

सौन्दर्य को सामाजिक दृष्टि से बहुत निष्फल बना देता है। पर्वों की लोक-कला में यह भेद नहीं होता। समता और सहयोग के द्वारा पर्वों की लोक-कला जीवन के उत्सव में समन्वित होकर आनन्द को बढ़ाती है।

भारतीय पर्व सामाजिक उत्सव हैं। वे व्यक्तिगत धर्म अथवा व्रत नहीं है। पर्वों के उत्सवों में व्यक्तिगत प्राकृतिक धर्मों का पूर्ण समन्वय है। किन्तु उनका रूप व्यक्तिगत की अपेक्षा सामाजिक अधिक है। सामाजिक भूमिका में प्राकृतिक धर्मों का निर्वाह उन्हें सांस्कृतिक बना देता है। कुछ पर्वों में व्रतों का भी योग है। किन्तु इन व्रतों के स्थान पर सामाजिक उत्सव का वृक्ष अपने पूर्ण सौन्दर्य से पुष्पित होता है। बहुत से पर्वों के अवसर पर मेले भी होते हैं, जिनमें ग्राम और नगर के विशाल जन समूह सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार पर्वों के उत्सव में सामाजिक सम्बन्ध और व्यवहार की प्रमुखता है। किन्तु पर्वों की यह सामाजिकता व्यक्तिवाद तथा समष्टिवाद दोनों से भिन्न है। व्यक्तिवाद मनुष्य को एक सकुचित और सीमित इकाई के रूप में लेता है। उसके अनुसार व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ में ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। किन्तु मनुष्य के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण सन्तोषजनक नहीं है। व्यक्तित्व जीवन का अधिष्ठान अवश्य है, किन्तु वह अपनी सीमित इकाई में ही पूर्णता प्राप्त नहीं करता। दूसरे मनुष्यों के साथ घनिष्ठ और आत्मीय संबंध में जीवन का जो गहन आनन्द है, वह व्यक्तित्व के सीमित स्वार्थ में नहीं है। इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ की विशेष हानि नहीं होती, केवल एक उत्तम भाव में उसका उन्नयन होता है। व्यक्तिगत धर्मों की पूर्ति के साथ-साथ इस सम्बन्ध के व्यापक भावों में जीवन का सुख और सौन्दर्य अधिक समृद्ध होता है। इस दृष्टि से पर्वों के पारिवारिक और सामाजिक रूप में व्यक्तित्व की क्षति नहीं, वरन् उसके गौरव और आनन्द की समृद्धि होती है।

किन्तु जिस प्रकार पर्वों का सामाजिक समात्मभाव संकुचित व्यक्तिवाद से भिन्न है, उसी प्रकार वह उन समष्टिवादों से भी भिन्न है, जो या तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता की उपेक्षा करते हैं या व्यक्तियों को एक

ऐसे समूह में संगठित करते हैं, जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता मन्द हो जाती है और वह एक विशाल यंत्र का अंग बन जाता है। समष्टि के इन दोनों रूपों में सिद्धान्ततः अधिक अन्तर नहीं है। दोनों ही रूपों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता एक सामूहिक प्रयोजन में विलीन हो जाती है। इन समूहों में चाहे आकार का भेद हो, किन्तु इन सभी का संचालन एक प्रभुत्वपूर्ण सत्ता के शासन से होता है। सत्ता के दंभ के कारण इस समूह के सदस्यों की स्वतन्त्रता का हनन होता है और शासन में अनीति की आशंका रहती है। एक निम्न धरातल पर सदस्यों के सन्तोष के लिए नेताओं ने समूहों का संचालन अतिचार के मार्गों में भी किया है। अनेक आक्रमणकारी-समूह ऐसे ही शासकों द्वारा अतिचार के मार्गों में संचालित हुए हैं। निरपराधों पर अत्याचार करके इन समूहों ने अपनी हीनता का प्रतिशोध किया है। मनोविज्ञान यह मानता है कि समूह में अपना व्यक्तित्व खोकर मनुष्य पशुता के निकट पहुँच जाता है। इसीलिए संगठित समूहों ने चाहे वे किसी आकार के हों, समाज में जितने अत्याचार किये हैं, उतने अत्याचार व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र चेष्टा से नहीं कर सके। समूहों में मनुष्य निम्न वृत्तियों से परवश हो जाते हैं। निम्न वृत्तियों की दिशा में ही ये संगठन सफल हो सकते हैं। बुद्ध के बाद उदय होने वाले कई धर्म अनुयायियों के संगठन में विश्वास करते हैं। उनमें उपासना का रूप भी सामूहिक है। बड़े-बड़े समूहों को धर्मोपदेश भी होता है। सामूहिक उपदेश और उपासना के विशाल भवन इन धर्मों के पीठ हैं। किन्तु धर्म की वास्तविक भावना इस संगठित रूप में कितनी सफल हुई है, इसका अनुमान इन धर्मों को मानने वाले देशों के राजनीतिक इतिहास से लगाया जाता है। समूह में मनुष्य की उदात्त वृत्तियां मन्द और निम्न वृत्तियाँ उत्तेजित हो जाती हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य सभी संगठनों के सांस्कृतिक महत्व को खंडित करता है। उदात्तवृत्तियों की दिशा में संगठन बहुत कम सफल हुआ है। आत्मा की उदात्त वृत्तियाँ स्वतन्त्रता के आधार पर ही जागरित हो सकती हैं। सामाजिक सद्भाव स्वतन्त्रता के अनुकूल होने पर इनका पोषण कर सकता है। किन्तु स्वतन्त्रता का घातक होने के कारण संगठन इनका घातक है।

इसीलिए भारतीय पर्वों में जहाँ एक ओर संकुचित व्यक्तिवाद को आश्रय नहीं मिला है, वहाँ दूसरी ओर किसी प्रकार के संगठन का अवलम्ब भी नही लिया गया है। धर्म की साधना और व्रत अनुष्ठान आदि का रूप व्यक्तिगत है, यह उचित ही है। किन्तु सामाजिक पर्वो के उत्सव और उल्लास में ही इस साधना की सफलता है। भारतीय पर्वो के सामाजिक रूप में कोई संगठन की योजना नहीं है। किसी के शासन अथवा आदेश से न व्यक्ति उत्सवों में संलग्न होते हैं और न समूह संगठित होते हैं। समाज की साधारण व्यवस्था ही एक नवीन उल्लास से लहरा उठती है। परिवारों, सम्बन्धियों आदि के रूपों में पारिवारिक भूमिका में ही कुछ लोग एकत्र होते हैं और प्राकृतिक जीवन के सांस्कृतिक उत्कर्ष में स्वतन्त्रता पूर्वक भाग लेते हैं। सामाजिक जीवन का समस्त प्रवाह ऐसे ही पारिवारिक उत्सवों की अनन्त तरंगों से आन्दोलित हो उठता है। मेले आदि में विशाल जन-समूह भी एकत्रित होते हैं। किन्तु इन सबमें किसी भी संगठन का नाम नहीं है। विशाल प्रतीत होते हुए भी इन जन-समूहों में सम्पर्क और सम्बन्ध की परिधि छोटे-छोटे दलों में ही सीमित रहती है। इन दलों को भी संगठन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ये व्यक्तियों की स्वतन्त्र इच्छा और स्नेह-भावना से अल्पकाल के लिए ही निर्मित होते हैं। संगठित समूहों की भाँति इनका कोई स्थायी प्रयोजन और कार्य नहीं होता। न ये किसी के शासन से संचालित होते हैं। स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा घनिष्ठ और आत्मीय सम्पर्क का सामाजिक समात्मभाव भारतीय पर्वो के उल्लास और आनन्द का रहस्य है। असीम और अपरोक्ष समाज की भूमिका में यह संभव नहीं हो सकता। ऐसे असीम समाजवाद का अन्त भी व्यक्तिवाद में ही होता है। प्राकृतिक धर्मो का सुख और विलास व्यक्तिवाद और संगठन दोनों का समान लक्षण है। स्वतन्त्रता, स्नेह और सम्मान की वायु से उठने वाली, छोटे-छोटे असंगठित दलों के निकट सम्पर्क और घनिष्ठ आत्मीय भाव की तरंगे ही उदासीन जीवन को मंगलमय आनन्द से आन्दोलित कर सकती है। भारतीय पर्व इन्हीं आन्दोलनों के उत्सव है।

भारतीय पर्वों की परम्परा में प्रेरणा का नैसर्गिक स्रोत उनके आनन्द का एक प्रमुख रहस्य है। इन पर्वों के सम्बन्ध में शास्त्रों का आदेश भी प्रेरणा का मूल स्रोत नहीं है। इन पर्वों के सम्बन्ध में शास्त्रों ने निसर्ग परम्परा का समर्थन मात्र किया है। किसी नेता, शासन, शास्त्र आदि के आदेश से प्रेरित न होने के कारण पर्वों की निसर्ग परम्परा समाज का एक स्वतन्त्र उत्सव बन जाती है। किसी बाहरी आदेश का आरोपण न होने के कारण प्रत्येक मनुष्य इन पर्वों के समारोह में अपना अधिकार, गौरव और आनन्द मानता है। समाज की स्वतन्त्र इच्छा और प्रेरणा से इन पर्वों के समारोह विना किसी आयोजन और आभास के सम्पन्न होते हैं। जैसे वसन्त के आगमन पर समस्त वायु मण्डल मधुर गन्ध और प्राकृतिक सौन्दर्य के उल्लास से पुलकित हो उठता है, अथवा जिस प्रकार प्रभात के उदय से दिग्मण्डल एक दिव्य आलोक से जगमगा उठते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक पर्व के अवसर पर समाज का वातावरण अनायास ही एक निसर्ग उल्लास से दीप्त हो उठता है। जैसे वसन्त के आगमन में सरिताएँ नवीन जलों के प्रवाहों से उमड़ती है, उसी प्रकार समाज की जीवन धाराओं में पर्वों के नवीन उल्लास के ज्वार उमड़ते हैं। समाज की शिराओं में नवीन रक्त का संचार होने लगता है। समस्त समाज का परिवेश एक उत्सव का रूप ले लेता है, जैसे विवाह के अवसर पर घर में उत्सव का उल्लास छा जाता है। समाज के इस उल्लासपूर्ण परिवेश से प्रत्येक परिवार और मनुष्य को उत्सव की प्रेरणा मिलती है। दूसरी ओर व्यक्तियों का भाव ही इस उल्लास के परिवेश का निर्माण करता है। दोनों का यौगपद्य जीवन के साम्य सिद्धान्त को चरितार्थ करता है। समाज के उल्लासपूर्ण परिवेश की सहज प्रेरणा ही इन पर्वों के दिव्य आनन्द का रहस्य है। इस सहज प्रेरणा में किसी आदेश का आरोपण, आग्रह आदि का संकेत भी नहीं है। इसीलिए इसकी प्रेरणा स्वच्छन्दता का सहज भाव बन जाती है। साथ ही एक अनादि परम्परा और सहज प्रेरणा के कारण पर्वों के समारोहों में लोगों को किसी आयास और यंत्र का अनुभव नहीं होता। यंत्र और आयास के प्रभाव कार्य के आनन्द को मन्द कर देते हैं। स्वतन्त्र

कर्त्तृत्व की भावना हमारे कार्य को महिमा से मण्डित करती है। किन्तु उसमें आयास का अनुभव उल्लास को कम करता है। पर्वों की सामाजिक प्रेरणा से उन्हें सम्पन्न करने के लिए जो सहज उत्साह मिलता है, वह समारोह के उद्योग और आयास को नगण्य बना देता है। एकाकी मनुष्य का उद्योग उदासीन होने के कारण आयास पूर्ण बन जाता है। अतः उसके कार्य का उल्लास मन्द हो जाता है। सामाजिक परम्परा और परिवेश की महती प्रेरणा मनुष्य के उदासीन उद्योग में उल्लास भर कर उसे लीला उत्सव बना देती है। सामाजिक परिवेश की प्रेरणा की तरंगों पर मनुष्य के उद्योग की तरी लहरातीं हुई अनायास आगे बढ़ती है। परिवेश की प्रेरणा से ही ये पर्व अनादिकाल से सम्पन्न होते आ रहे हैं और जीवन में आनन्द का उल्लास भरते रहे हैं।

परिवेश की सहज और उल्लासपूर्ण प्रेरणा का रहस्य भारतीय पर्वों का एक अमूल्य सन्देश है। आधुनिक युग के बढ़ते हुए व्यक्तिवाद और एकान्तवाद में मनुष्य के दैनिक उद्योग भी आयास बन रहे हैं। अतः जीवन का उल्लास मन्द हो रहा है। आयास के क्लेश से मनुष्य का मन खिन्न होता जा रहा है। इस खिन्नता का कारण उद्योग का श्रम नहीं। श्रम में मनुष्य खिन्न नहीं होता। श्रम के पीछे कोई सहज प्रेरणा अथवा श्रम के कार्य में कोई उल्लास न होने के कारण कार्य भार बन जाता है और मनुष्य का मन खिन्न होता है। इसी कारण आज का मनुष्य कार्य के भार से दबा हुआ है और उसका मन आयास से खिन्न है। एक विडम्बना यह है कि इस खिन्नता से मनुष्य की सचेष्ट उद्योग की क्षमता और कम होती जाती है। खिन्नता का यह चक्र खिन्नता को बढ़ाता है। किन्तु सभ्यता के विकास में मनुष्य से चेष्टा और आयास की अधिकाधिक माँग की जा रही है। मनुष्य इस बढ़ती हुई माँग को पूरा नहीं कर पा रहा है। विवशता से जीवन के आवश्यक भार का वहन वह कर रहा है। न उन कार्यों में उसे कोई उल्लास है और न उल्लास के अन्य कार्यों में उसका उत्साह है। विशाल समाज में वह अकेला है। सामाजिक परिवेश में कोई सहज प्रेरणा नहीं है। अतः वह सवेरे का घूमना जैसा सरल कार्य भी अपने स्वास्थ्य के लिए अपनी चेष्टा से नहीं

कर पाता। सामाजिक परिवेश की सहज प्रेरणा से रहित होकर व्यक्ति की स्वतन्त्र चेष्टा एक क्लेशपूर्ण आयास बन जाती है। सामाजिक परिवेश की सहज प्रेरणा की निसर्ग भूमिका में ही मनुष्य का स्वतन्त्र उद्योग उल्लास के पर्व रचता है। भारतीय पर्वों का यह सन्देश हमारी उदासीन सभ्यता के लिए संजीवन मंत्र है।

भारतीय पर्व जीवन के अमृत-उत्सव हैं। यद्यपि वे निश्चित दिनों में ही मनाये जाते हैं, फिर भी उनमें एक कालातीत तत्व है। विशेष दिनों में मनाये जाने पर भी वे अपने असाधारण उत्सव से जीवन और उसके उपकरणों की साधारणता को एक अद्भुत नवीनता देकर अपने अमृत-रूप का प्रकाशन करते हैं। उनका अमृत उल्लास काल पर जीवन की विजय की पताका बन जाता है। काल के इस अनिवार्य निमित्त के अतिरिक्त काल से इन अमृत पर्वों का कोई प्रसंग नहीं है। यह निमित्त मात्र का प्रसंग भी काल की गति और उसके क्रम का पालन करके, उसे अमृत रूप से अंचित करता है। इसके अतिरिक्त काल का और कोई विशेष बन्धन इन पर्वों में नहीं है। एक अनादि परम्परा में इन पर्वों का उद्गम है। इनका कोई ऐतिहासिक आरम्भ नहीं है। वर्ष के प्रमुख और महान् पर्व किसी ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित नहीं हैं और न वे अतीत के किसी क्षण की स्मृति के रूप में मनाये जाते हैं। पर्वों के साथ कुछ पौराणिक कथाएँ कही जाती है, किन्तु एक तो प्राचीन होते हुए भी ये कथायें चिरन्तन हैं। किसी विशेष काल के साथ इनका स्मरणीय सम्बन्ध नहीं है। दूसरे वे कथाएँ उन्हीं पर्वों के साथ मिलती हैं, जो व्रतों के अधिक निकट हैं। इन कथाओं का उद्देश्य व्रतों के महत्व को बढ़ाना है। दीपावली, होली जैसे मुख्य और महान् पर्वों के सम्बन्ध में कोई मौलिक कथाएँ नहीं हैं। होली के सम्बन्ध में प्रह्लाद की कथा एक पौराणिक प्रक्षेप प्रतीत होती है। होली का उत्सव वैदिक यज्ञ और अत्यन्त प्राचीन रंग-क्रीड़ा के लोकोत्सव का समन्वय है। इस प्रक्षेप का प्रमाण यह है कि अन्य व्रतों की कथाओं के समान होली की कथा पर्व के अवसर पर कहीं और सुनी नहीं जाती। दीपावली की कोई कथा

नहीं है। इसी प्रकार रक्षा-बन्धन के प्रसंग में बलि की कथा भी दान-प्रिय ब्राह्मणों का प्रक्षेप है।

ये कथाएं भी एक प्रकार से सनातन हैं। इनमें अतीत का कोई ऐतिहासिक स्मरण नहीं है। अतीत के स्मरण से वर्त्तमान का महत्व घटता है। वर्त्तमान का आनन्द ही काल-विजय का अमृत मंत्र है। वर्त्तमान को आनन्दमय बनाना ही जीवन का परम रहस्य है। भारतीय पर्व संस्कृति में जीवन का यही रहस्य सूत्र निहित है। प्राचीन भारतीय अमृत-जीवन के साधक थे। पर्व संस्कृति की योजना के द्वारा वर्त्तमान के प्रतिदिन को नवीन उल्लास का उत्सव बनाकर उन्होंने इस अमृत-जीवन की साधना को सफल बनाया था। आलोचना की दृष्टि से यह कहा जाता है कि प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक वृत्ति न थी। यह आलोचना सत्य है किन्तु इस आलोचना का मन्तव्य ठीक नहीं है। ऐतिहासिक वृत्ति को महत्व देकर आलोचक यह सिद्ध करना चाहते हैं कि प्राचीन भारतीयों में सभ्य मनुष्य के इस प्रमुख गुण का अभाव था। समस्त आलोचना इस धारणा पर आश्रित है कि ऐतिहासिक वृत्ति मनुष्य का एक इतना महत्वपूर्ण गुण है कि उसका अभाव शोचनीय है। इस ऐतिहासिकता का वैज्ञानिक रूप तिथि, काल, स्थान, व्यक्त आदि का यथार्थ स्मरण है। स्मृति मनुष्य का एक विशेष और महत्वपूर्ण गुण है, इसमें सन्देह नहीं। जो स्थान व्यक्ति के जीवन में स्मरण का है, वही स्थान जाति के जीवन में इतिहास का है। अतीत का गौरव इतिहास में ही सचित रहता है। वर्त्तमान और भविष्य के लिए इतिहास से प्रेरणा और प्रकाश भी मिलता है। फिर भी इतिहास अतीत ही है और जीवन का महत्व वर्त्तमान में है। इतिहास की उपेक्षा शोचनीय है, किन्तु इतिहास को अधिक महत्व देना भी जीवन के लिए हितकर नहीं है। जीवन का आनन्द वर्त्तमान में ही है। भविष्य भी वर्त्तमान बनकर ही साधनाओं को सफल बनाकर आनन्दप्रद होता है। वर्त्तमान के आनन्द में जीवन अमृत बनकर काल पर विजय पाता है। भारतीय पर्वों की निरन्तर परम्परा जीवन को अकाल और अमृत बनाती है। प्राय: सभी पर्वों का स्रोत एक अनादि परम्परायें हैं। इन पर्वों का समारोह क्रिसमस

अथवा मुहर्रम आदि की भाँति किसी ऐतिहासिक घटना के स्मरण के रूप में नहीं होता। अनन्त काल से प्रतिवर्ष मनाये जाने पर भी ये पर्व प्रतिवर्ष एक नवीन उल्लास का ज्वार लाते हैं। जीवन के चिरन्तन मूल्यों को साकार बनाने वाले ये पर्व जीवन के अमृत मंत्र हैं। वर्तमान जीवन को सनातन सांस्कृतिक मूल्यों से अंचित करके वे अमृत और आनन्दमय बनाते हैं।

पर्वों का यह अमृत और सनातन रूप अनैतिहासिक होने के कारण अधिक आनन्दमय है। अतीत की किसी घटना से सम्बद्ध न होने के कारण वह वर्त्तमान को अपना समस्त आनन्द प्रदान करता है। इसके साथ-साथ पर्वों की अनैतिहासिकता उन्हें वर्त्तमान पीढ़ी के पूर्ण गौरव के अनुकूल बनाती है। इतिहास का स्मरण अतीत के प्रति वर्त्तमान की अंजलि है। अतीत की घटनाओं और व्यक्तियों के गौरव की पूजा ही इतिहास में होती है। अकाल और अमृत जीवन की कल्पना के साथ-साथ भारतीय पर्व-संस्कृति में समता और स्वतन्त्रता का भी समाधान है। समता और स्वतन्त्रता में सबका समान गौरव है। व्यक्ति-पूजा इस समता और स्वतन्त्रता के विपरीत है। प्राचीन भारत की संस्कृति समता पर आश्रित थी। अतः उसमें व्यक्ति-पूजा के लिए कोई स्थान न था। कोई भी पर्व किसी ऐतिहासिक महापुरुष के स्मरण में नहीं मनाये जाते। व्यक्ति-पूजा दूसरे व्यक्तियों के गौरव के विपरीत है। प्राचीन भारत में उसकी प्रथा नहीं थी। बुद्ध के पूर्व कोई भी महापुरुष ऐसी ऐतिहासिक कीर्ति का भागी नहीं हुआ कि संसार में उसकी पूजा होती। गुणों में श्रेष्ठ महापुरुषों ने भी अपने को पूज्य और स्मरणीय बनाने का मार्ग नहीं अपनाया। बुद्ध के पूर्व वेदों के प्रणेता ऋषियों और उपनिषदों के मुनियों में अनेक पूजनीय और असाधारण प्रतिभायें थीं। किन्तु उनमें से कोई भी ऐसी असाधारणता को अपनाकर नहीं चला, जिससे समस्त जाति युग-युग तक उसकी पूजा करती। श्री कृष्ण के समान सर्वगुण सम्पन्न महापुरुष कदाचित ही संसार में दूसरा हुआ हो। वे बुद्ध के पूर्व हुए थे। किन्तु बुद्ध के पूर्व उनके लोक-प्रसिद्ध होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। गीता, भागवत आदि जिन शास्त्रों के द्वारा वे लोक में

विख्यात हुए हैं, वे सब बुद्ध के बाद की रचनाएँ हैं। बुद्ध के पूर्व के शास्त्रों में अन्य ऋषियों, मुनियों और आचार्यों की भाँति उनके भी केवल नाम का उल्लेख मिलता है।

अस्तु महापुरुषो की व्यक्तिवादी परम्परा भारतवर्ष में बुद्ध से ही प्रारम्भ होती है। बुद्ध के पूर्व वेदों और उपनिषदों की रचना करने वाले दिव्यदर्शी ऋषि भी लोक-पूजा के अधिकारी नहीं बने। उन्होंने शिष्यों को ज्ञान देकर धर्म का दीपक जलाया, किन्तु देश में अपने धर्म की दुन्दुभी नहीं बजायी। बुद्ध के पूर्व समानता भारतीय संस्कृति की आत्मा थी। व्यक्ति-पूजा मनुष्य की समानता का खण्डन करती है। अतः वह दूसरे मनुष्यों का अपमान है। कोई भी मनुष्य जो अपने को श्रेष्ठ मानकर अपने को दूसरों से पृथक करके उन्हें धर्म का उपदेश देता है और उनके उद्धार का दंभ भरता है, वह समानता को खण्डित करके धर्म को तो खण्डित करता ही है, साथ ही वह अपने दंभ के द्वारा दूसरों को प्रवंचित और अपमानित करता है। बुद्ध के बाद प्रवर्तित होने वाले प्राय: सभी धर्म सम्प्रदाय विषमता के इस अधर्म से दूषित हैं। बुद्ध के बाद भारतवर्ष में भी सन्तों और महात्माओं की परम्परा चल पड़ी। किन्तु बुद्ध के पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था, उसमें व्यक्ति-पूजा के रूप में व्यक्तिवाद नही था। मनुष्यों की समानता उस संस्कृति का मूल मर्म थी। 'समानी वः आकूति समाना हृदयानि वः' के अनुरूप मन और भाव की समानता उस संस्कृति का मूल सूत्र थी। गुरु और शिष्य समता के भाव से सहयोगपूर्वक तत्व का अनुसंधान करते थे। यही समता का भाव भारतीय पर्व परम्परा में साकार हुआ है, जो बुद्ध के बहुत पूर्व से भारतवर्ष में प्रचलित थी और आज तक बहुत कुछ रूप में चली आ रही है। इस पर्व परम्परा में समता का मूल सत्य सिद्धान्त के रूप में ही साकार नहीं हुआ है, वरन् व्यवहार में चरितार्थ हुआ है। मुख्य पर्वों में कोई भी ऐसा पर्व नहीं है, जिनमें किसी व्यक्ति की पूजा होती हो। मुख्य और महान पर्व जीवन के कुछ महान मूल्यों को चरितार्थ करने वाले उत्सव हैं। रक्षा-बन्धन, दीपावली, होली आदि के समान महान पर्व किसी व्यक्ति के स्मारक नहीं हैं। जन्माष्टमी और रामनवमी

के दो ही पर्व ऐसे हैं, जिनका उन महापुरुषों से सम्बन्ध हैं, जो भगवान के अवतार माने जाते हैं। किन्तु वस्तुत: ये मौलिक रूप में सांस्कृतिक पर्व नहीं है। ये अन्य पर्वों की भाँति समस्त भारतवर्ष की जीवन-परम्परा में व्याप्त नहीं हैं। इनको पर्व न कहकर व्रत कहना अधिक उचित है। *व्रतों के रूप में ही इनका अनुष्ठान होता है, प्राचीन पर्वों के दो सामान्य* लक्षण अग्नि-पूजा और पारिवारिक उत्सव हैं। पर्वों का मूल प्राचीन सभ्यता के पारिवारिक उत्सव हैं। पर्वों का मूल प्राचीन सभ्यता के पारिवारिक और सामाजिक उत्सव में है। अग्नि पूजा के रूप में वैदिक-यज्ञ इन उत्सवों में समन्वित हो गये हैं। जन्माष्टमी और रामनवमी में रक्षा-बन्धन, दीपावली, होली आदि के समान परिवार के जनों का आमंत्रण और सत्कार नहीं होता। अत: ये सांस्कृतिक पर्व की अपेक्षा धार्मिक व्रत के अधिक निकट हैं। संभवत: बुद्ध के बाद जब वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ, तो बुद्ध-पूजा के व्यक्तिवाद के प्रत्युत्तर में राम और कृष्ण की पूजा प्रचलित हुई। राम और कृष्ण के सुन्दर और सशक्त व्यक्तित्व के कारण इनकी पूजा समस्त भारतवर्ष में लोक धर्म बन गई। किन्तु भगवान के अवतार होने के कारण राम और कृष्ण की पूजा व्यक्तिवाद की प्रेरणा न होकर एक धार्मिक आस्था का विषय बनी। भारतीय लोक-पर्वों की परम्परा उसी समानता की समतल भूमि पर प्रवाहित होती रही, जिस पर कि बुद्ध के हजारों वर्ष पूर्व उसके अनादि स्रोत खुले थे। इन पर्वों की परम्परा में समता और समात्मभाव का ऐसा सुदृढ़ सूत्र है कि इनकी प्रतिमा के समक्ष व्यक्ति-पूजा और विषमता मूलक व्यक्तिवाद कभी पनप नहीं सकता। इसीलिए आज तक ये पर्व पूर्ण समता और स्वतन्त्रता के वातावरण में सम्पन्न होते आये हैं। इस समता और स्वतन्त्रता के कारण ये पर्व भारतीय संस्कृति के अमृत मंत्र हैं।

भारतीय पर्वों की व्यवस्था में जीवन और कला का अद्भुत संगम है। पर्वों के उत्सव में साधारण जीवन में एक असाधारण सौन्दर्य खिल उठता है। जीवन के साथ कला के इस संगम में ही पर्वों के अवसर पर सबके मन में अपूर्व आह्लाद के स्रोत फूटते हैं। भारतीय पर्वों में

कला का यह समन्वय सामान्य और विशेष दोनों रूपों में है। कला का सामान्य रूप एक व्यापक भाव है, जो कला के सभी रूपों में साकार होता है। कला के इस सामान्य रूप को हम सृजनात्मक समात्मभाव कह सकते हैं। यह आत्मा का सम्भाव है जो भावों और वस्तुओं के सृजनशील रूप में सौन्दर्य को आकार देता है। इस सम भाव में दो या अधिक मन समान अथवा सम्वादी भावों से स्पन्दित होते हैं। शरीर, मन, क्रिया आदि के पृथक होते हुए भी मनुष्य-जीवन में एक अद्भुत आत्मीयता की संभावना है, जो इनके धर्मों की संगति में उदित होती है। इस आत्मीयता को एकता न कहकर समता कहना अधिक उचित है, क्योंकि एकता प्राकृतिक इकाई के उस क्षेत्र की संज्ञा है, जिसमें इकाइयां उदासीन अथवा विरोध के सम्बन्ध में पृथक-पृथक रहती हैं। यदि इन इकाइयों की सत्ता अथवा क्रिया में संगति उत्पन्न होती है, तो उसे भी प्रायः वस्तुगत सौन्दर्य के अन्तर्गत मानते हैं। यह वस्तुगत सौन्दर्य, सौन्दर्य का एक उदासीन रूप है। सौन्दर्य का जो भाव मन में उदित होता है, वह सदा इस पर आश्रित नहीं होता। इस वस्तुगत संगति के बिना भी सौन्दर्य का भाव जागरित होता है। एक प्रकार से यह वस्तुगत संगति प्रकृति और जीवन का व्यापक रूप है और इस व्यापक रूप में यह सौन्दर्य का उद्गम नहीं है। यदि ऐसा होता तो समस्त जीवन ही सहज और सामान्य रूप में सुन्दर होता। वह वस्तुगत संगति मनुष्य के एकान्त में भी तथावत् रहती है। किन्तु उस उदासीन एकान्त में यह संगति सौन्दर्य के भाव का निमित्त नहीं बनती। अतः यह स्पष्ट है कि यह वस्तुगत संगति अपने आप में सौन्दर्य का रूप नहीं। यह संगति बहुत कुछ अदृश्य है। दृश्य रूपों में यह सम्वेदना की प्रियता का अवलम्ब बन सकती है।

किन्तु भाव के सौन्दर्य का उदय एकान्त में नहीं होता। अकेला मनुष्य सुन्दर कही जाने वाली वस्तुओं से घिरा होने पर भी मन में उदासीनता का अनुभव करता है। दो या अधिक मनुष्य पारस्परिक भाव और क्रिया में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। संगति से भाव का सौन्दर्य उनके मन में उदित होता है। इस संगति की स्थिति से साधारण

अथवा असुन्दर कहे जाने वाले पदार्थ भी सौन्दर्य के निमित्त बन जाते हैं। यह समात्मभाव ही सौन्दर्य का मूल उद्गम और कला का स्वरूप है। जिन मनुष्यों के बीच संगति होती है, उनमें अनेक प्रकार की भिन्नताएँ होते हुए भी विरोध अथवा विषमता नहीं होती। मनुष्यता की दृष्टि से समान होना इस समता का प्रथम तत्व है। इस मौलिक समता के होने पर अन्य भिन्नताएँ विषमता उत्पन्न नहीं करतीं। इसके विपरीत वे सौन्दर्य की वृद्धि में सहयोग देती हैं। वस्तुतः इन भिन्नताओं में ही सौन्दर्य सम्पन्न होता है। अतः समात्मभाव के लिए भाव की समता के अतिरिक्त अन्य कोई समानता आवश्यक नहीं है। किन्तु दूसरी ओर विरोध अथवा विषमता भी मौलिक समभाव को भंग करके सौन्दर्य के रूप को खण्डित करती है। अनेक व्यक्तियों के आत्मीय समभाव में ही कला का सौन्दर्य मूल रूप में उदित होता है। इस समत्व में एक अद्भूत भाव की सृष्टि होती है। अतः यह समभाव स्वरूप से ही सृजनात्मक है। इस सृजनात्मक भाव में ही सौन्दर्य स्फुटित होता है। नितान्त निष्क्रिय स्थिति में भी सौन्दर्य के इस भाव की कल्पना की जा सकती है और यह सत्य है कि प्रकट क्रियाओं का प्रसंग न होने पर भी मनुष्यों के मन में समभाव होने पर सौन्दर्य के अन्तःस्रोत फूटते रहते हैं। यह सौन्दर्य का निभृत और निगूढ़ मर्म है। किन्तु सामान्यतः क्रियाओं के प्रसंग में ही सौन्दर्य जीवन में प्रकट होता है। क्रियाएँ स्वरूप से ही सृजनात्मक होती हैं। वे भावों अथवा वस्तुओं की रचना करती हैं। इन रचनात्मक क्रियाओं के प्रसंग में मनुष्यों के भाव की समता और संगति सौन्दर्य को सजीव रूप देती है।

पर्वों की व्यवस्था में इस सृजनात्मक समात्मभाव में ही कला का सौन्दर्य जीवन में साकार होता है। यह समात्मभाव क्रियाओं की संगति में केवल प्रकट होता है। वस्तुतः इस समात्मभाव के व्यापक रूप को जीवन का स्थायी भाव मानकर उसकी भूमि पर पर्वों की व्यवस्था की गयी है और इसी भूमि पर पर्वों का सौन्दर्य साकार होता है। जीवन के स्थायी भाव के रूप में वर्त्तमान न होने पर केवल क्रियाओं की बाह्य

संगति से समात्मभाव उत्पन्न नहीं होता। इस स्थायी भाव के अभाव के कारण ही वर्त्तमान जीवन में पर्वो तथा अन्य सामाजिक कर्मों में वाह्य संगति होते हुए भी सौन्दर्य अधिक दिखाई नहीं दे रहा है। सत्य यह है कि समात्मता का स्थायीभाव होने पर ही वाह्य क्रियाओं की संगति सौन्दर्य का अवसर बनती है। इतना अवश्य है कि सामान्य जीवन में वाह्य संगति के निमित्तों में ही सौन्दर्य साकार होता है। भावों और वस्तुओं की रचना में यह संगति व्यक्त होती है। जीवन के इस सृजनात्मक रूप में प्रकट होकर समात्मभाव का सौन्दर्य जीवन की विभूति वनता है। समात्मभाव के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर्वो की व्यवस्था में एक व्यापक रूप में होती है। पर्वों का सामाजिक रूप सौन्दर्य के भाव को समाज में व्यापक वनाता है। एक अलक्ष्य प्रेरणा से वाह्य निमित्तों के संकेत द्वारा पर्व समाज में एक व्यापक समभाव का संचार करते हैं। इसके साथ-साथ जीवन के समस्त साधारण धर्मों को व्याप्त करके वे समस्त जीवन को ही सौन्दर्य से अंचित करके कलामय वना देते हैं। भोजन, स्नान, वस्त्र, सज्जा, शृंगार, पूजा, व्यापार आदि के सभी साधारण धर्म सृजनात्मक समात्मभाव से अभिषिक्त होकर सुन्दर और कलामय वन जाते हैं। कलात्मक सौन्दर्य से युक्त होकर जीवन के इन साधारण धर्मों में असाधारण आह्लाद के स्रोत फूटते हैं। नवीन निमित्तों में स्फुरित होकर चिरन्तन समात्मभाव परिचित सम्बन्धों को नवीन सौन्दर्य से मण्डित करता है।

इस प्रकार सृजनात्मक समात्मभाव के रूप में कलात्मक सौन्दर्य पर्वों की सामान्य विभूति है। किन्तु इसके साथ-साथ कला के विशेष रूप भी पर्वों को अलंकृत करते हैं। नृत्य, संगीत, चित्रकारी आदि के कुछ साधारण तत्व पर्वो की व्यवस्था में महत्व का स्थान रखते हैं। संगीत तो भारतीय जीवन का प्राण है। भारतीय लोक-जीवन में वह इतने व्यापक रूप में रमा हुआ है कि पर्वों के अवसर पर ही नहीं, जीवन के अन्य साधारण कर्मों के अवसर पर भी गायन का क्रम चलता है। गीत की लय श्रम के भार को हल्का और मधुर वनाती है। किसान गीत गा-गाकर खेतों को बोते, रखाते और काटते हैं। ग्वाले और चरवाहे

गीत गा-गाकर पशुओं को चराते हैं। स्त्रियां घर में हर छोटे-छोटे काम को संगीत का पर्व बना लेती हैं। कर्म में संगीत का यह संयोग कर्म को मधुर और आनन्दमय बनाता है। संगीत की एक विशेषता यह है कि वह अन्य कर्मों में बाधा नहीं डालता, बल्कि उन्हें मधुर बनाता है। संगीत का माध्यम वाणी है, जिसका जीवन की क्रियाओं में कोई मुख्य उपयोग नहीं है। वाणी को कर्मेन्द्रिय अवश्य कहा जाता है, किन्तु जीवन की अधिकांश क्रियायें हाथ-पैरों के द्वारा ही होती हैं। ये ही मुख्य कर्मेन्द्रियाँ हैं। वाणी का क्रियाओं में उपयोग न होने के कारण अन्य कर्मों के साथ-साथ संगीत का क्रम संभव है। इसीलिए भारतीय लोक-संस्कृति में जीवन के छोटे-छोटे कर्म भी संगीत के संयोग से आनन्द के पर्व बन जाते हैं। संगीत का माधुर्य कर्म में बाधक नहीं बनता, बल्कि कर्म को मधुर बनाकर जीवन में क्रियाओं के प्रति उत्साह भरता है। नृत्य और चित्रकला के माध्यम वे इन्द्रियां हैं, जिनके द्वारा हम काम करते हैं। अतः जीवन के दूसरे कर्मों के साथ इन कलाओं का क्रम संभव नहीं है। जीवन कर्म प्रधान है। संगीत के साथ उसका समन्वय संभव है। किन्तु नृत्य और चित्रकला क्रियाओं से अवकाश मिलने पर ही संभव हो सकती है। इसीलिए कुछ अवकाश के क्षणों में ही लोक-संस्कृति की परम्परा में नृत्य के पर्व मनाये जाते हैं। नृत्य और चित्र-कला दोनों ही सांस्कृतिक पर्वों में अपना स्थान अवश्य रखते हैं। किन्तु संगीत के समान वे समस्त कर्मों के सहयोग नहीं बन सकते। अनेक पर्वों के अवसर पर आलेखन, खिलौने, चौक, राँगोली आदि के रूप में चित्र-कला पर्वों की भूमिका को सुन्दर बनाती है। कुछ पर्वों के अवसर पर नृत्य का समारोह भी होता है। चित्ररंजना अधिक स्वतन्त्र और व्यक्तिगत है। अतः उसका योग तो सभी पर्वों में चला आता है किन्तु लोक-नृत्य एक सामूहिक कर्म है। ग्रामीण समाजों में तो अब भी नृत्य के समारोह बहुत होते हैं। नागरिक सभ्यता में सामूहिकता कम हो जाने के कारण नृत्य की प्रथा कम हो गई है। किन्तु चित्रकला का थोड़ा स्थान सभी पर्वों में वर्त्तमान है। नागरिक-सभ्यता में भी स्त्रियों में सहयोग अधिक है। अतः वे पर्वों का अवसर सहज बना लेती है।

होली के समान कुछ अवसरों पर नृत्य और संगीत का प्रवल ज्वार उठता है। स्वर और गति की लय में जीवन का उल्लास तरंगित हो उठता है। चित्रकला की वर्ण-विभूति अबीर और रंगो में जीवन के हर्ष पर न्यौछावर होती है। कला का सामान्य समात्मभाव भी होली के प्रेम पर्व में सबसे अधिक होता है। इस दृष्टि से वर्ष के अन्त और ऋतुराज वसन्त में मनाया जाने वाला होली का पर्व जीवन और कला के पूर्ण समन्वय का चरम उत्कर्ष है। किन्तु अन्य पर्वों में भी यथेष्ट मात्रा में कला के सामान्य समात्मभाव के साथ साथ उनके विशेष रूपों का भी पर्याप्त संयोग है। इतना अवश्य है कि अन्य कर्मों के साथ संगति तथा उत्साह और उल्लास का वर्धक होने के कारण संगीत की कला का लोक-पर्वों में अधिक योग है। विशेष अवकाश की अपेक्षा रखने के कारण तथा अन्य क्रियाओं के साथ संगति न होने के कारण नृत्य और चित्रकला का पर्वों में योग कम है। चित्रकला वस्तुओं के रूपों को सुन्दर बनाती है, अत: आलेखनों आदि के अतिरिक्त पर्वों के उपकरणों आदि में भी चित्र-कला का संयोग करके उन्हें सुन्दर बनाया जाता है। वाणी और वर्ण के सौन्दर्य से पर्वों के अवसर कला के उत्सव बन जाते हैं तथा जीवन और कला के संगम को साकार बनाते हैं।

मनुष्य-जीवन प्रकृति और कृति का संगम है। ये दोनों ही क्रिया-रूप हैं। प्रकृति क्रिया का वह रूप है जो मनुष्य की इच्छा और उसके अधिकार से स्वतन्त्र हैं। प्रकृति की गति में मनुष्य का अधिकार बहुत कम है। मनुष्य की इच्छा प्रकृति की गति-विधि को कुछ प्रभावित अवश्य कर सकती है; फिर भी अन्तत: प्रकृति की क्रियायें अपने ही नियमों के अनुसार चलती हैं। मनुष्य जिन रूपों और विधियों में प्रकृति की गति का परिवर्तन करता है, वे भी प्रकृति के नियमों से निर्धारित होते हैं। वैज्ञानिक बनकर मनुष्य प्रकृति को जीतने की आकांक्षा करने लगा है। प्रकृति की कुछ शक्तियों को वह अपनी इच्छा से शासित करने में सफल भी हुआ है। किन्तु अन्तत: प्रकृति की क्रियायें इस परिवर्तन और शासन में भी अपने नियमों के अनुसार ही चल रही हैं। विज्ञान केवल प्रकृति की शक्तियों का अनुसंधान और उनका उपयोग है। यह

अनुसंधान और उपयोग दोनों मनुष्य के कृतित्व हैं। किन्तु दोनों में मनुष्य की स्वतन्त्रता प्रकृति के रूप और नियमों से सीमित है। अनुसंधान कोई नवीन रचना नहीं है, वह केवल प्रकृति के रूपों और उसकी व्यवस्था में अन्तर्निहित शक्तियों का उद्घाटन है। उपयोग प्रकृति के रूपों की नयी व्यवस्था है, किन्तु इस व्यवस्था का संचालन भी प्रकृति की उन स्वतन्त्र शक्तियों के द्वारा होता है, जिनमें मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। प्रकृति के अनुसंधान और उपयोग में भी मनुष्य ने असाधारण चमत्कार का परिचय दिया है। इस चमत्कार के द्वारा ही मनुष्य की सभ्यता का अद्भुत विकास हुआ है।

कृति मनुष्य की वह क्रिया है, जिसे हम प्रकृति की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र मान सकते हैं। प्रकृति का अनुसंधान और उपयोग भी मनुष्य के कृतित्व का उत्तम उदाहरण है। मनुष्य के इस कृतित्व का मूल शक्ति का स्वतन्त्र रूप है, जो मनुष्य में विशेष रूप से स्फुटित हुआ है क्योंकि मनुष्य रूप में यह शक्ति बहुत कुछ सचेतन है। शैवागमों में इसे 'चित्-शक्ति' कहते हैं। चेतना से प्रायः सचेतन ज्ञान का संकेत होता है। वेदान्त दर्शन चेतना और ज्ञान को समानार्थक मानते हैं। उनका चिन्मय ब्रह्म 'प्रज्ञानघन' है। किन्तु वेदान्त भी यह मानते हैं कि इस पराचेतना का रूप हमारे सचेतन और सविकल्पक ज्ञान से नितान्त भिन्न है। 'ज्ञान' निष्क्रिय प्रकाश है। किन्तु चेतना निष्क्रिय नहीं है। वेदान्त दर्शन भी चिन्मय ब्रह्म को शक्तिमान मानते हैं, किन्तु शैव-दर्शनों में चेतना का यह शक्ति-रूप अधिक स्पष्ट है। चेतना के स्थान पर उनमें 'चित्-शक्ति' का प्रयोग किया जाता है। शैवागमों के अनुसार समस्त विश्व इस 'चित्-शक्ति' का विलास है। इस अद्भुत अध्यात्म को समझने और स्वीकार करने में हमें कुछ कठिनाई हो, तो भी मनुष्य-जीवन में प्राप्त इस सत्य के अंश को हम सरलता से समझ सकते हैं। शैवागमों में इस आदि शक्ति को 'इच्छा' अथवा 'काम-कला' का नाम दिया गया है। 'इच्छा' चेष्टा की स्फूर्ति है। ज्ञान की निष्क्रियता से भेद करके इसका स्वरूप स्पष्ट हो सकता है। 'काम' इच्छा का ही अपर नाम है। 'कला' काम अथवा इच्छा की शक्ति रूपता और चित् रूपता की सूचक है। 'कला का अर्थ

'गति' और संख्यान दोनों है। संख्यान का अर्थ 'ज्ञान' है। गति की प्राथमिकता शक्ति की क्रियात्मकता की सूचक है। यह क्रियात्मक काम-शक्ति ही सृष्टि और जीवन का मूल रहस्य है। चेतना अथवा ज्ञान उस शक्ति का वह प्रकाश है, जिसमें क्रिया की रचना के रूप प्रकट होते हैं। वस्तुतः सृजन और ज्ञान दोनों उस मूल शक्ति के समान रूप हैं। इसीलिए उसे 'चित् शक्ति' कहा है।

शक्ति का क्रिया रूप जीवन में आरम्भ से ही प्रकट होता है। नवजात शिशु भी सचेष्ट होता है। गर्भ में ही चेष्टा आरम्भ हो जाती है। किन्तु उसकी संवेदनाओं का रूप जन्म के बाद धीरे-धीरे विकसित होता है। अहंकार एवं सचेतन ज्ञान और भी विलम्ब से प्रकट होते हैं। बालक के जीवन में एक अस्फुट इच्छा-शक्ति आरम्भ से निहित होती है। उसमें एक प्रयोजन भी अन्तर्निहित होता है, चाहे वह अचेतन हो। प्रयोजन का रूप चेतना पर अवलंबित नहीं, वरन् प्रवृत्ति की विकल्पात्मकता पर आश्रित है। जीवन में सचेतन संकल्प बहुत कम होते हैं। संकल्प अनेक विकल्पों में से एक का वरण है। समस्त प्रकृति की गति में यह प्रयोजन और संकल्प व्याप्त है, क्योंकि प्रकृति की प्रवृत्तियों में यह वरण स्पष्ट है। जीवन के क्षेत्र में यह प्रयोजन और संकल्प अधिक स्पष्ट है। वरण की प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर अधिक स्वतन्त्रता और सामर्थ्य प्रकट होती है। मनुष्य के जीवन में आगे चलकर ये प्रयोजन और संकल्प सचेतन भी हो जाते हैं। किन्तु मनुष्य जीवन में भी इनका रूप सर्वदा सचेतन नहीं होता। सचेतन ज्ञान के रूप में प्रकट होने के पूर्व भी इच्छा और क्रिया के रूप में दिखाई देते हैं। स्वतन्त्र होने के कारण यह इच्छा संकल्पात्मक कही जा सकती है।

इच्छा शक्ति की क्रिया के रूप में 'कृति' जीवन में स्फुटित होती है। शैवागम की दृष्टि से हम प्रकृति में भी इस कृति को व्याप्त मान सकते हैं। किन्तु मनुष्य के जीवन में इस कृति का रूप अधिक प्रकट है। साधारण रूप से बाह्य प्रकृति और शारीरिक प्रकृति की क्रियायें अपने आप संचालित होती हैं और मनुष्य के जीवन के अधिकार के बाहर जान पड़ती हैं। विज्ञान की प्रकृति-विजय भी प्रकृति के नियमों के ही

अनुकूल है। प्रकृति के नियमों में मनुष्य का आधार नहीं है। वह उसकी व्यवस्था में अवश्य हस्तक्षेप कर सकता है। मनुष्य के शरीर में आकारप्रकृति उसके अस्तित्व का आधार तथा जीवन का आन्तरिक अंग बन गयी है। अपनी सत्ता के स्वरूप में समवेत होने के कारण मनुष्य इस शारीरिक प्रकृति की गति में उतना भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता, जितना कि वह बाह्य प्रकृति में कर सकता है। शरीर की व्यवस्था भी उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है और न वह बाह्य प्रकृति की भांति इस व्यवस्था में कोई परिवर्तन कर सकता है। सत्य यह है कि जहाँ बाह्य व्यवस्था किसी सीमा तक मनुष्य के शासन को स्वीकार करती है, वहाँ शारीरिक व्यवस्था का शासन मनुष्य को स्वीकार करना पड़ता है। इस शासन को स्वीकार कर लेने में ही मनुष्य का कल्याण है। इस शासन को सुचारु रूप से संचालित करने में ही मनुष्य का कृतित्व सफल है। बाह्य प्रकृति के शासन में अधिक सफल होने के कारण मनुष्य शारीरिक प्रकृति के इस शासन की उपेक्षा कर रहा है। इस उपेक्षा का बहुत मंहगा मूल्य मनुष्य को चुकाना होगा। बाह्य व्यवस्था के रूप में सभ्यता का जो उत्तरोत्तर विकास हुआ है उसमें मनुष्य के कृतित्व का चमत्कार कितना ही हो, किन्तु उसके जीवन का सुख और आह्लाद कम होता है।

अस्तु, जहाँ तक प्रकृति का सम्बन्ध है; मनुष्य के कृतित्व का अधिकार इतना ही है कि वह प्रकृति के नियमों के अनुसार ही बाह्य व्यवस्था में कुछ परिवर्त्तन कर सकता है। शारीरिक प्रकृति में उसका इतना अधिकार भी नहीं है। इसीलिए बाह्य व्यवस्था के परिवर्त्तन में ही मनुष्य अपना कृतित्व अधिक दिखाता रहा है। उसका यही कृतित्व विज्ञान और सभ्यता का इतिहास है। प्रकृति अपने नियमों में इतनी अधिक स्वतन्त्र है कि वह मनुष्य के इस अधिकार और शासन को मानने में संकोच नहीं करती। प्रकृति की इस उदारता अथवा उदासीनता के कारण ही सभ्य मनुष्य को अपने कृतित्व का दंभ इतना बढ़ गया है कि उसकी सभ्यता का विकास उसके अस्तित्व को ही चुनौती दे रहा है। मनुष्य का यह कृतित्व प्रकृति के नियमों पर अवलम्बित है और प्रकृति

के उपकरणों के उपादान से ही सफल होता है। अतः इसकी कुछ प्राकृतिक सीमाएँ हैं, जिन्हें समझने में मनुष्य का कल्याण है। मनुष्य के इस कृतित्व में इच्छा शक्ति की प्रेरणा और ज्ञान का प्रकाश है। क्रिया के अतिरिक्त यह शक्ति एक दूसरे रूप में प्रकट होती है, जिसे हम 'भाव' कह सकते हैं। 'भाव' स्वयं अपना ही उपकरण है। उसमें मानों चेतना अथवा शक्ति अपने स्वरूप के उपादानों से ही अनेक रूपों का विधान करती है। अतः भाव के क्षेत्र में मनुष्य प्रकृति का पराधीन नहीं। भाव लोक में मनुष्य का कृतित्व अधिक स्वतन्त्र रूप में प्रकट होता है।

'भाव' चेतना का सक्रिय और सुन्दर रूप है। भाव की तुलना में ज्ञान उदासीन है। उसमें आलोक तो है, परन्तु कान्ति की वह स्फूर्ति नहीं, जो सौन्दर्य की विधायक है। भाव के मूल में उस 'इच्छा' का बीज रहता है जो तंत्रों के 'काम' की पर्याय है। 'कम्' से लक्षित कान्ति की स्फूर्ति ही सौन्दर्य में साकार होती है। जीवन की इच्छायें काम अथवा इच्छा मूलक भाव से ही प्रेरित होती हैं। प्राकृतिक प्रवृत्तियों में यह काम स्वाभाविक और स्वार्थमय क्रियाओं में व्यक्त होता है। किन्तु चेतना के भावों में प्रकृति और स्वार्थ की सीमाये भाव की अन्तिम मर्यादायें नहीं रहती। प्रकृति के साथ चेतना के भाव का कोई आवश्यक विरोध नहीं है। प्रकृति और भाव के स्वरूप में भिन्नता अवश्य है, किन्तु प्रकृति के उपकरणों का अवलम्ब लेकर चेतना के भाव साकार होते हैं। प्रकृति के उपकरण भावों के निमित्त बन सकते हैं। किन्तु प्राकृतिक उपकरणों के आधारों में चेतना के भाव विलक्षण रूपों में साकार होते हैं।

प्रकृति एक सहज और नियमित व्यवस्था है। वह अपने नियमों के अनुसार चलती है। मनुष्य उसमें जो हस्तक्षेप और परिवर्तन करता है, वह भी प्रकृति के नियमों के अनुसार होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति उदासीन अथवा स्वार्थमय है। भौतिक व्यवस्था में वह उदासीन है। प्राणियों की सजीव व्यवस्था में वह स्वार्थमय हो गई है। सम्वेदना और अहंकार के रूप में यह स्वार्थ सचेतन हो गया है। प्रकृति के रूप में इच्छा की प्रेरणा स्वार्थमय भी होती है। किन्तु प्राकृतिक और मिथुन

काम के रूप में प्राकृतिक इच्छा में भी पारस्परिक भाव उदित हुआ है। पारस्परिकता स्वार्थ की कठोर मर्यादाओं का अतिक्रमण है। पारस्परिकता में स्वार्थ के संकोच के विपरीत भाव का संक्रमण होता है। भाव के अतिरिक्त इस संक्रमण में व्यक्तित्व की इकाई और स्वार्थ के कठोर नियम भंग हो जाते हैं। स्वार्थ के साथ-साथ उसमें परार्थ के भाव का भी संचार होता है। प्राकृतिक और मिथुन काम में दोनों का संगम और सामंजस्य है। जीव-लोक में यह काम ही सृष्टि की परम्परा का सूत्र है। सृजनात्मक होने के कारण 'काम' को विश्व का बीज माना जाता है। वेदों के अनुसार भी काम सबसे पहले था। उसी से सृष्टि का विस्तार हुआ है। उपनिषदों में भी आदि पुरुष की इच्छा अथवा कामना से ही बहुरूप सृष्टि का उदय हुआ है। प्रजापति ने कामना की कि मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ। इस कामना से अनेक रूप सृष्टि उदित हुई।

वेद और उपनिषदों में जो काम सृष्टि का बीज माना गया है, वह प्राकृतिक और मिथुन काम नहीं है। यह आदि शक्ति का इच्छा रूप है, जिसके स्फुरण से सृष्टि का उद्भव होता है। प्रकृति और प्राकृतिक काम सृष्टि के उद्भव के बाद सृष्टि के भीतर प्रवृत्त होते हैं। प्राकृतिक रूप में काम सृष्टि का आदि सूत्र नहीं हो सकता। किन्तु सृष्टि में वह उस आदि इच्छा शाश्वत शक्ति का प्रतिनिधि है, जिसकी प्रेरणा से सृष्टि का उदय होता है। इस प्राकृतिक काम में भी उस सृजनात्मक इच्छा-शक्ति की स्फूर्ति है। अतः भिन्न होते हुए भी आदि और प्राकृतिक काम के स्वरूप और धर्म में कुछ समानता है। प्राकृतिक होते हुए भी मिथुन काम प्रकृति के अन्य धर्मों की भाँति पूर्णतः स्वार्थमय नहीं है। स्वार्थ के साथ-साथ उसमें परार्थ-भाव भी स्फुरित हुआ है। मिथुन काम की पारस्परिकता में स्वार्थ और परार्थ का संगम है; फिर भी प्राकृतिक होने के कारण मिथुन काम में स्वार्थ की सुखमय सम्वेदना अत्यन्त तीव्र और स्फुट होती है। जो काम आदि शक्ति की इच्छा का रूप है, उसमें स्वार्थ और परार्थ का भेद नहीं होता। उसका भाव 'सम' होता है। इसीलिए सांख्य-दर्शन और शैव-तंत्रों में सृष्टि के पूर्व प्रलय

की अवस्था को 'सम' मानते हैं। सांख्य दर्शन में उसे 'साम्य' कहते हैं। शैव-तंत्रों में उसकी 'सामरस्य' संज्ञा है। 'रस' का अर्थ 'आनन्द' है। शक्ति को चित् रूप मानने के कारण समता का भाव आनन्दमय है।

चिन्मय-जीवन में समत्व का यह मूल भाव अपने मौलिक रूप में व्यक्त होता है। प्रकृति की उदासीन अथवा स्वार्थमय इकाई से ऊपर उठकर एक अपूर्व भाव में यह साकार होता है। यह भाव कामना, इच्छा अथवा चेतना की क्रिया से युक्त होने पर भी प्रकृति के स्वार्थ का अतिक्रमण करता है। वस्तुत: इस अतिक्रमण में ही इस भाव का स्वरूप प्रकट होता है। स्वार्थ की सीमाएँ स्पष्ट होने पर यह भाव भंग हो जाता है। किन्तु स्वार्थ की सीमा के इस अतिक्रमण में स्वार्थ और इकाई के अस्तित्व अथवा भाव का निलय आवश्यक नहीं है। मूलत: समता के भाव के दो लक्षण हैं। एक तो यह है कि भाव व्यक्तियों की अनेकता में सम्पन्न होता है। मिथुन काम की सीमा इकाइयों का युग्म है। समता का भाव युग्म में भी सम्पन्न हो सकता है, किन्तु मिथुन काम की भाँति युग्म उसकी अन्तिम सीमा नहीं है। युग्म इसकी न्यूनतम सीमा है। यह भाव एकान्त मे संभव नहीं होता। किन्तु इकाइयों की अनेकता में यह भाव अपने को समृद्ध बनाता है। मिथुन काम की सृजनात्मकता इस भाव की गति का संकेत करती है। मिथुन काम एक तीसरी इकाई को जन्म देता है। इस तीसरी इकाई में मिथुन काम के भागी युग्म समभाव प्राप्त करते हैं। चेतना का समभाव व्यक्तियों की जिस अनेकता में सम्पन्न होता है, उसका सूत्र प्राकृतिक काम की सृजनात्मक वृत्ति में भी है। किन्तु प्रकृति और काम ही इसके एक मात्र आधार और सूत्र नहीं है। ये चेतना के अवलम्ब भले ही हों, किन्तु ये उसकी सीमा नहीं है। अत: चेतना के भाव इन आधारों से स्वतन्त्र रूपों में भी साकार होते हैं। किन्तु सर्वत्र उनका माध्यम व्यक्तित्व की इकाइयों की अनेकरूपता है। इस अनेकता में एक अपूर्व आत्मीय भाव स्थापित होता है। यही समता का सूत्र है।

इस भाव का दूसरा लक्षण यह है कि यह सक्रिय, सृजनात्मक और समृद्धिशील होता है। इच्छा शक्ति इसका बीज है। इसी का स्फुरण

इसमें क्रिया की प्रेरणा बनता है। यह क्रिया आन्तरिक और बाह्य दोनों ही हैं। बाह्य रूप में प्रकट होने पर इसका क्रियात्मक रूप अधिक स्फुट होता है। प्रकृति के उपकरणों का अविलम्ब बाह्य क्रिया को स्थूल आकार देता है। चिन्मय होते हुए भी यह भाव ज्ञान के समान उदासीन नहीं है। ज्ञान एक निर्वैयक्तिक भाव है। व्यक्तित्व और स्वार्थ की सीमाओं से अतीत होते हुए भी इच्छा का सक्रिय भाव उदासीन और निर्वैयक्तिक नहीं है। वह व्यक्तित्वों की अनेकता में ही सम्पन्न होता है। चेतना का भाव होने के कारण यह प्रकृति से पराधीन नहीं, वरन् स्वतन्त्र है। चेतना की स्वच्छन्द विभूति इच्छा के सजीव और स्वतन्त्र भावों में साकार होती है। प्रकृति के उपकरणों का अवलम्ब होते हुए भी यह प्रकृति के नियमों से स्वतन्त्र है। चेतना की इच्छा शक्ति प्रकृति काम की भाँति सृजनात्मक है, किन्तु उसकी सृजनात्मिकता मिथुन वृत्ति में सीमित नहीं है। प्रकृति काम के क्षेत्र में एक मिथुन की अनेक सतति हो सकती है, किन्तु एक ही सन्तति अनेकों की ओर से नहीं हो सकती। सृजन के मानस-क्षेत्र में ऐसा नियम नहीं है। एक ही व्यक्ति अनेकों के प्रेम और सौहार्द का भाजन हो सकता है। 'भाव' भाव को भी जन्म देता है। प्रकृति की भाँति चेतना की इच्छा सृष्टाओं का सृजन भी करती है। किन्तु चेतना की भाव सृष्टि प्रकृति के नियमों से स्वतन्त्र है। प्रकृति के क्षेत्र में नियमों के अतिरिक्त परिमाण और व्यक्तित्व का भी निबन्धन है। आहार का उपादान करके जीवों की इकाइयों बढ़ती है। एक का उपादान दूसरी ओर क्षय है, क्योंकि अन्ततः प्रकृति के परिमाण निश्चित और स्थिर हैं। अतः यह समृद्धि आहार के आधार पर एक व्यक्तित्व अथवा इकाई की समृद्धि है। भाव-लोक की समृद्धि इससे विलक्षण है। वह आहार पर नहीं, स्वतन्त्र आत्म-दान पर अवलम्बित है। किन्तु यह आत्मदान दाता के कोप का क्षय नहीं करता। सरस्वती के कोष के समान दान से उसकी वृद्धि होती है। अनेक व्यक्तियों के पात्रों में यह दान अधिकाधिक समृद्धि का कारण होता है। यह विलक्षण समृद्धि भाव की महिमा का अद्भुत लक्षण है।

इस विलक्षण भाव की समृद्धि में ही मानवीय कृतित्व की सर्वोत्तम कृतार्थता है। दर्शनों में उदासीन ज्ञान का महत्व अधिक है। विज्ञान उदासीन सत्ता के स्वरूप और उसकी प्रक्रियाओं का अनुसंधान करते हैं। दोनों स्वार्थ और व्यक्तित्व से उदासीन होने के कारण निर्वैयक्तिक कहे जा सकते हैं। यदि किसी भी रूप में दोनों ने व्यक्तित्वों के क्षितिजों का स्पर्श किया है, तो वह व्यक्तित्व प्राकृतिक इकाई का स्वार्थमय रूप ही है। विज्ञान तो स्पष्ट रूप से प्राकृतिक है। दर्शन के मार्ग प्रकृति से अतीत अध्यात्म-लोक में भी खुले हैं। यह अध्यात्म व्यक्तित्व और स्वार्थ से अतीत होते हुए भी एकान्त साधना के रूप में होने के कारण स्वार्थमय ही रहा। सक्रिय और सामाजिक समात्मभाव पर अवलम्बित न होने के कारण सिद्धान्ततः स्वार्थ का खण्डन करते हुए भी यह स्वार्थ का मण्डन करता रहा। इसका कारण यह है कि जीवन के प्राकृतिक आधार के कारण साधन का स्वार्थ अनिवार्य रहा। किन्तु अध्यात्म की निर्वैयक्तिकता में परार्थ का कोई आवश्यक महत्व न रहा। जीवन में अध्यात्म की असफलता का यही रहस्य है। इसके विपरीत प्राचीन लोक-संस्कृति में प्रकृति और अध्यात्म दोनों का संगम और सामंजस्य है। प्रकृति के उपकरणों में वह अध्यात्म की प्रतिष्ठा है। अतः लोक-संस्कृति के भाव न प्रकृति के स्वार्थ में सीमित हैं और न अध्यात्म की भाँति निरपेक्ष और उदासीन है। इसमें अध्यात्म के भाव प्रकृति के उपकरणों में साकार हुए हैं। अनेक व्यक्तियों के सक्रिय और समृद्धशील समात्मभाव में यह सामंजस्य सम्पन्न हुआ।

भारतीय पर्व-संस्कृति की परम्परा इसी सामंजस्य का अत्यन्त सजीव और साकार रूप है। इस पर्व संस्कृति में प्रकृति और अध्यात्म का सहज एवं सुन्दर समन्वय है। प्रकृति चेतन और अचेतन दोनों रूपों में स्वार्थमयी है। जीवों में इसकी प्रक्रियायें और सचेतनों में इसकी सम्वेदनायें अपने आप तक ही सीमित हैं और वे अपना ही हित सम्पादन करती हैं। इन प्राकृतिक धर्मों में इकाई और स्वार्थ का नियम कठोरता से लागू होता है। एक का प्राकृतिक हित दूसरे का हित नहीं बन सकता। हम जो भोजन करते हैं, वह हमारे ही शरीर का पोषण करता

है। व्यक्तित्व और अहंकार की इकाई प्रकृति की सीमा है। दूसरी ओर अध्यात्म पूर्णतः निर्वैयक्तिक है। वह एक ऐसे सत्य की प्रतिष्ठा करता है, जो हमारे अपने और दूसरों के व्यक्तित्व से समान रूप से अतीत है। सिद्धान्त की दृष्टि से वह सभी व्यक्तित्वों में व्याप्त भी माना जाता है। किन्तु व्यक्तित्व से अतीत होने के कारण उसकी व्याप्ति एक सजीव अनुभव नहीं बन पाती, वह एक उदासीन आस्था ही रहती है। सिद्धान्त रूप से सभी जीवों में एक ही आत्मा की व्याप्ति मानते हुए भी अध्यात्म दर्शनों में दूसरे के साथ एकात्मभाव में उस सत्य के साक्षात्कार की कोई सक्रिय प्रेरणा नहीं है। उस व्यापक सत्य को स्वतंत्र और स्वरूप में प्रतिष्ठित माना जाता है। यह ठीक भी हो, किन्तु उसकी साधना एकान्तभाव से अपने व्यक्तित्व में ही की जाती है। अपने व्यक्तिगत अनुभव में ही उस सत्य के साक्षात्कार को साधना का लक्ष्य समझा जाता है। व्यक्ति ही उस साधना और साक्षात्कार का अधिष्ठान रहता है। अध्यात्म के क्षेत्र में एकान्त साधना ही अधिक रही है। दूसरों के साथ एकात्मभाव के अनुभव में व्यापक आध्यात्मिक सत्य के साक्षात्कार की चर्चा अध्यात्म दर्शनों में बहुत कम मिलती है। अतः अध्यात्म का सत्य एक उदासीन सत्य रह जाता है। इस उदासीनता में दूसरों के व्यक्तित्व की उपेक्षा पलती है। व्यक्तिगत होने के कारण अध्यात्म की साधना में एक सूक्ष्म अहंकार रहता है। धर्म और अध्यात्म का बड़ी निष्ठा के साथ अनुशीलन करने वालों में भी यह सूक्ष्म अहंकार मिलता है। इस अहंकार की छाया में उदात्त अध्यात्म की साधना भी स्वार्थमय बन जाती है। प्रकृति का स्वार्थ तो अनिवार्य है। वह जीवन का ही नहीं, आध्यात्मिक साधना का भी आधार है। अतः प्रकृति और अध्यात्म दोनों में ही एक अद्भुत संगति के साथ स्वार्थ का पोषण और परार्थ अथवा दूसरों के हित की उपेक्षा होती रही है।

किन्तु केवल स्वार्थ में मनुष्य को संतोष नहीं हो सकता। स्वार्थ प्रकृति का लक्षण है। वह मनुष्य की शारीरिक प्रक्रियाओं और सम्वेदनाओं तक सीमित है। मनुष्य का मन एकान्त और स्वार्थ में प्रसन्न नहीं रहता। प्रजापति को भी अकेले में भय लगा उन्हें आनन्द

नहीं आया, तब उन्होंने अनेक रूप सृष्टि की। मनुष्य की चेतना में अहंकार का भी बीज है, किन्तु दूसरी ओर उसमें अद्‌भूत शक्ति है, जिसके द्वारा वह दूसरों के साथ एकात्मभाव स्थापित करता है। यह एकात्म-भाव प्रकृति के स्वार्थ और अध्यात्म के उदासीन परार्थ दोनों से भिन्न है। यह न दूसरों की उपेक्षा करने वाला स्वार्थ है और न अपने व्यक्तित्व से असंगत परार्थ है। इसे 'समात्मभाव' कहना अधिक उचित होगा। यह आत्मा का समतापूर्ण भाव है, जो शरीर और इन्द्रियों के स्वार्थ, मन के अहंकार और बुद्धि की उदासीनता एवं निर्वैयक्तिकता इन सबसे विलक्षण है। इसमें एक समभाव के अन्तर्गत व्यक्तियों का समाहार होता है। इस समभाव में न व्यक्तियों के स्वार्थ का कठोर आग्रह होता है और न व्यक्तियों का विलय आवश्यक होता है। एक विलक्षण भाव में व्यक्तित्वों का सामंजस्य और सन्तुलन होता है। आकाश के ग्रहों की भांति अपनी-अपनी धुरी पर और अपनी-अपनी कक्षाओं में घूमते हुए भी उनमें एक परस्पर सन्तुलन रहता है। इतना ही नहीं उनके व्यक्तित्वों की भिन्नता में एक अद्वैत-भाव और इनकी अनेकता में एकता का भाव रहता है। प्रकृति, मन, बुद्धि आदि के सभी उपादान और धर्म इस समात्मभाव के निमित्त, अवलम्ब और माध्यम बन सकते हैं। व्यक्तित्वों के सहयोग में एक अपूर्व सरसता उत्पन्न होती है। इस सरसता में प्रकृति की वासनायें पवित्र और अध्यात्म की उदासीनताएं आह्लादमय बनती हैं। अल्प प्राकृतिक उपकरणों के अवलम्ब से व्यक्तित्वों का यह समात्मभाव संस्कृति के सुन्दर पर्वों की रचना करता है। ये पर्व ही भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। इन्हीं पर्वों की परम्परा में भारतीय संस्कृति की आत्मा प्रतिदिन एक नया जन्म धारण करती है।

प्रकृति और अध्यात्म का अद्‌भुत समन्वय होने के साथ-साथ पर्व परम्परा में सजीव और सुन्दर मानवीय संस्कृति के अनेक मूल्यवान तत्वों का समाहार है। पर्व परम्परा में जीवन का सौन्दर्य और आनन्द अत्यन्त सजीव रूप में साकार होता है। सजीवता इन पर्वों की सबसे पहली विशेषता है। यह सजीवता जीवन के अनेक प्रमुख लक्षणों को समाहित करके सम्पन्न होती है। समृद्धि और नवीनता जीवन के ऐसे लक्षण हैं,

जो वनस्पति जगत में भी मिलते हैं। काल की गति के साथ जीवन आगे बढ़ता है। विकास पूर्ण होने के बाद भी वृक्षों में पल्लव, फूल और फल खिलते रहते हैं। ऋतु-ऋतु के अनुसार प्रकृति के क्षेत्र में नये-नये पौधे, फल और फूल आते हैं। इस प्रकार नवीन विकासों से प्रकृति का अंचल सदा भरा रहता है और उसका सौभाग्य समृद्ध होता है। इतना ही नहीं नये सृजन की परम्परा भी जीवन के क्षेत्र में इस समृद्धि को और समृद्ध बनाती है। मनुष्य जगत में भी विकास और सृजन की परम्परा जीवन को समृद्ध बनाती है। वृक्षों में संभवतः चेतना नहीं है। इसलिये वनस्पति जगत की नवीनता और समृद्धि प्रकृति के साथ आत्मीय सम्बन्ध से मनुष्य के लिए ही उल्लास का कारण बनती है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में प्रकृति की समृद्धि से प्राप्त होने वाले उल्लास का बहुत महत्व था। वाल्मीकि और कालिदास की वाणी में यह उल्लास मुखरित हुआ है। प्रकृति की इस समृद्धि में यदि मनुष्य का रचनात्मक योग होता है, तो यह उल्लास और भी बढ़ जाता है। मनुष्य जीवन की समृद्धि में मनुष्य का सृजनात्मक योग अधिक आन्तरिक होने के कारण उसमें मनुष्य को अपूर्व उल्लास प्राप्त होता है। सृजन के इस उल्लास के कारण ही पुत्र जन्म को 'उत्सव' की संज्ञा मिली है। मनुष्य जीवन की सृजनात्मक समृद्धि समाज की परम्परा के प्रवाह में उल्लास की नवीन तरंगों के स्रोत खोलती है। समृद्धि और नवीनता के कारण जीवन की परम्परा स्वयं एक उल्लास का पर्व बन जाती है।

जीवन की इस समृद्धि और नवीनता के उल्लास के पीछे एक स्फूर्ति है। वनस्पतियों के पल्लव और पुष्प मानों इसी स्फूर्ति से विकसित होते हैं। वस्तुतः वनस्पतियों के बीज भी इसी स्फूर्ति से अंकुरित होते हैं। पशुओं और मनुष्यों के जीवन में यह स्फूर्ति मानों चंचल और मुखरित हो उठी है। मनुष्य-जीवन में यह स्फूर्ति अधिक सचेतन होकर आत्मा का उल्लास बन गयी है। इस स्फूर्ति से ही जीवन के स्थिर धरातलों में उल्लास के उत्स प्रवाहित होते हैं। बालकों, किशोरों और युवकों के जीवन में स्फूर्ति का यह उल्लास अधिक चंचल, मुखर और मनोहर रूप में दिखाई देता है। यौवन तक ही जीवन अपने विकास

और उत्कर्ष की ओर अभिमुख रहता है। उसके बाद जीवन की दिशा ह्रास और अवसान की ओर रहती है। अतः जीवन के मौलिक लक्षण यौवन तक प्राप्त होने वाली स्फूर्ति के उल्लास में ही मिलते हैं। स्फूर्ति का यह उल्लास उष्ण रक्त के प्रवाह में नवीन वय की धमनियों में उमड़ता है, तरुण देह की तीव्र और विमुग्ध संवेदनाओं में उसके स्रोत तरंगित होते हैं। किशोर चेतना के अकूल सागरों में इस उल्लास के ज्वार उमड़ते हैं।

सांस्कृतिक पर्वों में जीवन की समृद्धि और स्फूर्ति के लक्षण उन्हें सजीवता के उल्लास से भरते हैं। 'जीवन' काल की गति है। केवल क्षणों की गति के रूप में यह अत्यन्त नीरस और उदासीन बन जाती है। क्षणों की गति एकरस और उदासीन बन जाती है। क्षणों की गति एकरस और उदासीन है। जीवन की कृतियाँ और अनुभूतियाँ इन क्षणों को अर्थ-पूर्ण बनाती हैं। आखेट के युग में मनुष्य के यायावर जीवन में कदाचित् इन कृतियों और अनुभूतियों में अनिश्चय के कारण नित्य नवीनता रहती होगी। किन्तु सभ्यता के साथ-साथ ज्यों-ज्यों जीवन स्थिर होता गया, त्यों-त्यों दैनिक जीवन की कृतियों और अनुभूतियों की नवीनता मिटती गई। व्यवस्था और अभ्यास ने उन्हें एकसम और एकरस बना दिया। अभ्यास और एकरसता में अनुभूति की चेतना मन्द हो जाती है। उसके साथ जीवन की स्फूर्ति और उसका आनन्द भी मन्द हो जाता है। इससे जीवन में नीरसता आती है। जीवन की गति उदासीन हो जाती है। जीवन के साधारण रूप में कोई नवीनता नहीं रहती। व्यवस्था की एकरूपता और अभ्यास की एकरसता सभ्यता की एक बड़ी विडम्बना है। स्थिरता और सुविधा देने के साथ-साथ इसने मनुष्य के उल्लास और आनन्द का अपहरण भी किया है। स्थिर जीवन की एक रूपता में समृद्धि के अवसर बहुत कम आते हैं। कुछ काल के बाद यह समृद्धि उदासीन और एकरस बन जाती है। प्रायः यह समृद्धि बाहरी उपकरणों की वृद्धि होती है। जिनका आकर्षण और आनन्द प्रतिदिन क्षीण होता जाता है। अभ्यास की एकरसता के कारण इसकी सुविधा का सुख भी धीरे-धीरे मन्द होता जाता है। बाह्य

उपकरणों में प्रतिदिन नवीनता नहीं हो सकती। यह सभ्यता की एक आर्थिक मर्यादा है। यदि संभव भी हो तो केवल बाहरी समृद्धि और नवीनता से आन्तरिक उल्लास और आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। उल्लास और आनन्द न केवल व्यक्तिगत है और न केवल बाहरी उपकरणों से प्राप्त हो सकता है। व्यक्ति के अधिष्ठान में होते हुए भी वे व्यक्तित्व के एकान्त में सभव नहीं होते। एकान्तभाव में मनुष्य का मन उदासीन रहता है। उपनिषदों के प्रजापति को भी अकेले में आनन्द नहीं आया। अतः उसने बहुरूप प्रजा की सृष्टि की। सामाजिक समात्मभाव में ही जीवन का आनन्द स्फुरित होता है। व्यक्ति ही इस आनन्द का अधिष्ठान है। परिवार का आत्मीय संबन्ध इसके लिए आवश्यक है। किन्तु अपरिचितों के साथ आत्म-भाव भी अपेक्षित है। इन तीनों ही विभाओं में उल्लास और आनन्द साकार होते हैं। इनमें से एक का भी अभाव आनन्द की सजीवता को खण्डित करता है। इन सम्बन्धों के आत्मीय भाव में ही जीवन के उल्लास और आनन्द के अक्षय स्रोत हैं। इन सम्बन्धों की भूमिका में पुरातन और परिचित भौतिक उपकरण भी नवीन उल्लास के निमित्त बन जाते हैं। नवीन उपकरण अल्प होते हुए भी अपरिमित आनन्द के कारण बनते हैं। इस आन्तरिक और आत्मीय भाव में ही जीवन की स्फूर्ति और समृद्धि का स्रोत है। यह आन्तरिक भाव ही जीवन की एक ऐसी विभूति है, जिसमें नित्य नवीन समृद्धि संभव है। चेतना की भाव-विभूति अपनी समृद्धि के लिए अधिक उपकरणों की अपेक्षा नहीं रखती। वह स्वरूप से स्वतन्त्र है और स्वरूप की स्वतन्त्रता में ही उसकी अनन्त समृद्धि संभव है। अल्प निमित्तों से भी उसमें नवीन समृद्धि और पुराने उपकरणों से भी नवीनता का उद्भव हो सकता है।

आन्तरिक भाव-विभूति की यही-समृद्धि शीलता और नवीनता पर्वों के आनन्द का रहस्य है। वे ही परिचित गृह और पुराने पदार्थ एक नवीन कान्ति से खिल उठते हैं। उन्हीं परिचित मनुष्यों में नये भावों के स्रोत उमड़ते हैं। वे ही परिचित मार्ग नगर और तीर्थ नये जीवन से जगमगा उठते हैं। आन्तरिक भाव की नवीनता और समृद्धि में आर्थिक

उपकरणों का केवल अल्प निमित्त के रूप में योग होता है। इन अल्प निमित्तों की भूमि पर अपरिमित उल्लास के क्षितिज खुलते हैं। नवीन उपकरणों का अल्प उपादान भी अपार आनन्द का कारण बनता है। मेले में दो-चार खिलौने खरीदने से बच्चों को जितनी खुशी होती है, उतनी खुशी दैनिक जीवन में अधिक खिलौने खरीदने पर भी उन्हें नहीं मिल सकती। धन तेरस के दिन एक बर्तन खरीदने से जो खुशी होती है, वह खुशी दैनिक जीवन में अधिक बर्तन खरीदकर भी नहीं मिल सकती। पर्वों की महिमा का सबसे प्रमुख मर्म यही है कि इनमें जीवन के निगूढ़ रस का प्रवाह समाज की एक सहज परम्परा बन गया है। पर्वों की परम्परा में आन्तरिक भाव की अनन्त समृद्धि और निरन्तर नवीनता का रहस्य उद्‌घाटित हुआ है। बाह्य उपकरणों के स्थान पर उनके अल्प निमित्त से भाव-लोक में समृद्धि और नवीनता की खोज संस्कृति की सही दिशा है। आधुनिक सभ्यता उपकरणों की नवीनता और वृद्धि में उल्लास की खोज करके मरीचिका के पीछे दौड़ते हुए मृग की भाँति भटक रही है। उपकरणों की वृद्धि के साथ आनन्द क्षीण होता जा रहा है। भारतीय पर्व-संस्कृति सभ्यता की इस विडम्बना का सर्वोत्तम समाधान है। नवीन उपकरण भी शीघ्र पुराने और परिचित हो जाते हैं। शीघ्र ही मन उनके प्रति उदासीन हो जाता है। उपकरणों का वैभव चाहे गर्व का कारण हो, किन्तु वह उल्लास का स्रोत नहीं बनता। इसीलिए नवीन सभ्यता वैभव के आडम्बर से असन्तुष्ट होकर वैभव की छाया में ही क्लबों, नृत्य-गृहों आदि के रूप में उल्लास के साधन खोज रही है। वासना और विलास पर आश्रित होने के कारण ये साधन प्राकृतिक हैं। इनमें सामाजिक समात्मभाव का सांस्कृतिक आनन्द नहीं है। सभ्यता की व्यवस्था के नियमित अंग बनकर ये भी परिचित और नीरस बन जाते हैं। विलास और वासना का सुख एक नशे का आकर्षण बन जाता है। इसी नशे पर आधुनिक सभ्यता जी रही है। किन्तु इसके विपरीत भारतीय पर्व परम्परा आन्तरिक भाव की समृद्धि और नवीनता पर आश्रित एक नित्य नवीन भूमिका में निरन्तर विकसित होने वाली अखण्ड सांस्कृतिक योजना है।

पर्व का अर्थ एक विशेष अवसर अथवा घटना है। महाभारत का प्रत्येक युद्ध एक पर्व कहलाता है। जिन सेनापतियों के नेतृत्व में ये युद्ध हुए, उनके नाम से ये पर्व प्रसिद्ध हैं। युद्ध एक असाधारण घटना है। इसी प्रकार उत्सव और आनन्द के अवसर भी असाधारण होते हैं। जीवन की नवीनता और समृद्धि का रहस्य इस असाधारणता में ही है। जीवन के साधारण रूप और गति में नवीनता नहीं दिखाई देती। साधारण गति में काल के क्षण निरपेक्ष भाव से बहते हुए लगते हैं। उनमें कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। इस नवीनता और असाधारणता की खोज में ही सभ्यता के विकास में जीवन के उपकरणों के रूप बदलते रहते हैं। नवीनता और असाधारणता के लिए सभ्यता ने कभी-कभी अद्भुत और विचित्र रूपों को भी अपनाया है। जीवन में नवीनता की इस खोज को 'कला' भी कह सकते हैं। कला जीवन के बाह्य और आन्तरिक दोनों ही रूपों में नवीन सौन्दर्य का विधान करती रहती है। किन्तु साधारण जीवन में यह नवीनता और असाधारणता बहुत दुर्लभ है। व्यवस्थित होकर जीवन नियमित और एक रूप हो गया है। उसके दैनिक कार्य-क्रम में कोई नवीनता नहीं है। नियमित और एक रूप बनकर जीवन एकरस बन जाता है। एकरस जीवन नीरस होता है। विविधता और नवीनता में ही रस की स्फूर्ति होती है। एकरस जीवन में काल की गति एक निरीह और निर्वेदपूर्ण व्यापार बन जाती है। अपने स्वरूप में काल की गति एकरूप है। इसीलिए काल का प्रभाव प्रत्येक वस्तु और भाव को अपने स्वरूप से अभिभूत करना चाहता है। नवीन होने पर जो वस्तु हमें आनन्दित करती है, परिचित होने पर हम उसकी ओर से उदासीन हो जाते हैं। काल की एकरूप गति उसकी असाधारणता को नष्ट कर उसे साधारण बना देती है। साधारण वस्तु में, साधारण प्राकृतिक सुख तो हो सकता है, किन्तु अतिशय आनन्द और उल्लास संभव नहीं है। आनन्द और उल्लास के अभाव में साधारण सुख भी नीरस हो जाता है। उपकरणों की नवीनता और असाधारणता साधारणतः संभव नहीं है। उन्हें रोज बदलने में आर्थिक बुद्धिमानी भी नहीं है और न केवल उनके बदलने से उल्लास मिल सकता है। उल्लास

और आनन्द मन के भाव हैं। वाह्य उपकरण इनके अवलम्ब और इनके निमित्त हो सकते हैं, किन्तु वे आवश्यक कारण नहीं हैं। वाह्य उपकरण प्राकृतिक होते हैं और वे अधिक से अधिक प्राकृतिक सम्वेदना का सुख दे सकते हैं। उपकरणों की नवीनता भी मानसिक सम्बन्धों के भाव की भूमिका में ही उल्लास का कारण बनती है। इसीलिए हम इन उपकरणों को प्राप्त करके ही सन्तुष्ट नहीं होते। उनके प्रदर्शन में ही हमें आनन्द मिलता है। अधिकांश उपकरणों में उपभोग की अपेक्षा प्रदर्शन का ही सुख अधिक है। उपकरणों के इस प्रदर्शन में हमें दूसरों के साथ एक आत्मीय भाव का अनुभव होता है। इस आत्मीय भाव में ही वस्तुत हमें आनन्द मिलता है। नवीन उपकरण केवल इसके निमित्त हैं। इसीलिए यद्यपि हम अपरिचितों के सामने भी अपने वैभव का प्रदर्शन करते हैं, किन्तु आत्मीयों की सच्ची प्रशसा में ही हमें वास्तविक प्रसन्नता मिलती है।

अस्तु, जीवन की प्रसन्नता का रहस्य आत्मीय जनों के परस्पर समात्मभाव में है, यद्यपि इसके लिए कुछ वाह्य अवसर और उपकरण अपेक्षित हैं। केवल उपकरणों की नवीनता प्रसन्नता नहीं दे सकतीं। इसीलिए आधुनिक सभ्यता में उपकरणों का अपार वैभव वढ़ जाने पर भी लोगों का मन प्रसन्न नहीं, किन्तु आत्मीय भाव की कमी के कारण आन्तरिक प्रसन्नता और उल्लास कम है। उपकरणों की नवीनता नीरस क्षणों की साधारणता को असाधारणता का एक वाह्य अवलम्ब देती है। किन्तु आत्मीय भाव की असाधारणता का अभाव होने के कारण यह अवलम्ब उदासीन और निष्फल रहता है। भारतीय पर्व-संस्कृति में उपकरणों की नवीनता के आर्थिक अपव्यय और निष्फल मरीचिका का मार्ग न अपनाकर आत्मिक और आन्तरिक भाव की असाधारणता का स्वस्थ, सुलभ और सुन्दर मार्ग अपनाया है। इस पर्व संस्कृति का सबसे वड़ा चमत्कार यह है कि इसमें साधारण परिस्थितियों और सम्बन्धों में ही जीवन में असाधारण सौन्दर्य और आलोक के लोक उदय होते हैं। इस असाधारणता का रहस्य भाव में है। भाव जीवन की सबसे अधिक सहज, सुलभ और अमूल्य विभूति है। अर्थ की दृष्टि

से भी वह अमूल्य है। एकाकीपन में यह भाव उदासीन और मन्द हो जाता है। आत्मीय सम्बन्धों में ही इसका स्वरूप अपनी मौलिक प्रभा में खिलता है। आत्मीय भाव की समता में ही चेतना के रस-स्रोत खुलते हैं। आत्मा का भाव प्राकृतिक उपकरणों से विलक्षण है। काल की गति से वे उदासीन नहीं होते। इनमें सदा यौवन की स्फूर्ति रहती है। इस दृष्टि से उन्हें 'अजर' और 'दिव्य' कहा जा सकता है। भौतिक उपकरणों से विलक्षण होने के कारण उनमें नित्य नया चमत्कार उदित होता है। इस चमत्कार के कारण भाव में सदा यौवन का-सा लावण्य और सौन्दर्य बना रहता है। चिरन्तन भाव स्रोत में भी क्षण-क्षण नवीनता की वे लहरें उठती रहती हैं, जिनको कवि माघ ने सौन्दर्य का रूप माना है। यह सत्य है कि कुछ क्रियाओं, सम्बन्धों और उपकरणों के निमित्तों में ही आत्मा के ये भाव साकार होते हैं। किन्तु ये सब भाव के निमित्त मात्र हैं। भाव के चमत्कार और उसकी नवीनता का सौन्दर्य भाव के अपने स्वरूप से ही उदित होता है। इसीलिए भाव के सौन्दर्य और आनन्द का परिमाण (यदि इसका परिमाण किया जा सकता है) उपकरणों आदि के परिमाण पर निर्भर नहीं करता। अल्प उपकरण भी अपार सौन्दर्य और आनन्द के निमित्त बनते हैं। साधारण उपकरण भी भाव से अंचित होकर असाधारण सौन्दर्य के साधन बन जाते हैं। साधारण क्रियाओं और पुराने सम्बन्धों में भी नवीन-रस के निर्झर उमड़ते हैं।

पर्वों की इस भाव-भूमिका की महिमा पर्व-संस्कृति में निहित एक दूसरे महान् सत्य की ओर संकेत करती है। वह सत्य यह है कि बाह्य उपकरणों और व्यवस्थाओं की असाधारणता पर आश्रित होने वाला असाधारण सौन्दर्य और आनन्द जीवन का अंग नहीं बन सकता। ऐसी व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकती। अल्पकाल के लिए इन व्यवस्थाओं को बनाने में जितना अधिक श्रम होता है, उसके अनुपात में इनसे आनन्द कम प्राप्त होता है। भौतिक उपकरण और व्यवस्थायें अपने आप में आनन्द की कारण नहीं है। आनन्द का एक मात्र स्रोत आत्मीय सम्बन्धों का भाव है। इन बाहरी व्यवस्थाओं की ओर अधिक ध्यान

लग जाने से हमारी दृष्टि बहिर्मुखी हो जाती है और हम आनन्द के भाव में रहस्य को भूल जाते हैं। यही कारण है कि आधुनिक सभ्यता के नवीन उत्सवों के लिए व्यवस्थाओं का जितना आडम्बर रचा जाता है, वे उतने आनन्दप्रद नहीं होते। इन साधारण व्यवस्थाओं की संगति साधारण जीवन की स्थिति के साथ नहीं होती। अतः उनके उत्सव का बाहरी उल्लास भी जीवन में कोई स्थायी आनन्द नहीं देता। साधारण जीवन की स्थितियों के साथ संगति की अवस्था में होने वाली व्यवस्थायें अधिक आनन्द का कारण बन सकती है। इस संगति का माप साधारण जीवन के साथ असाधारण व्यवस्थाओं की निकटता है। इस निकटता के कारण ही हमारे पर्वों की व्यवस्थायें आनन्दकर होती हैं। विशेष रूप से असाधारण योजनायें इनमें बहुत कम होती हैं। थोड़े से उपचार से जीवन की साधारण और परिचित व्यवस्थाओं को ही असाधारणता और नवीनता का वैभव मिल जाता है। लीप-पोतकर पुराने मकान भी नये बन जाते हैं। दीपावली के प्रकाश में मानों स्वर्ग की छवि उसी पुराने और परिचित नगर के सौन्दर्य को संवारती है। चौक, आलेखन, रांगोली आदि के अल्प उपचार से साधारण घर भी कलात्मक सौन्दर्य का प्रासाद बन जाता है। पुराने बर्तन नई कान्ति से चमक उठते हैं। साधारण अच्छे कपड़ों में बच्चे मन के राजकुमार बने फिरते हैं। भाव और वातावरण के प्रभाव से जीवन की साधारण व्यवस्था ही एक असाधारण सौन्दर्य धारण कर लेती है। साधारणता में ही असाधारणता की योजना पर्व-संस्कृति का एक अत्यन्त मर्मपूर्ण सत्य है। उपकरणों को उचित महत्व देकर यह दृष्टिकोण भाव को अधिक महत्व देता है। नित्य नये पर्वों में अल्प और साधारण उपकरणों की भूमि में असाधारण और अपार आनन्द के लोकों की सृष्टि होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यथार्थवादी होने के साथ-साथ पर्वों की यह भूमिका लोकवादी भी है। जीवन की साधारण व्यवस्थाओं में सम्पन्न होने के कारण इन पर्वों का आनन्द सबके लिए सुलभ है। भारतीय संस्कृति के पर्व सभ्यता के सबसे अधिक सरल और समृद्ध लोकोत्सव हैं।

भौतिक उपकरण जीवन के आधार हैं। पर्व साधारण उपकरणों को असाधारण सौन्दर्य से अंचित कर जीवन को अपूर्व आनन्द से भर देते हैं। मनुष्यों के लौकिक सम्बन्ध जीवन के अवलम्ब हैं। परिचय और अभ्यास के कारण ये उपकरणों के समान ही साधारण हो जाते हैं। साधारण हो जाने के कारण इनमें भी उदासीनता आ जाती है। नवीन सम्बन्धों में जो उत्साह और उल्लास रहता है, वह धीरे-धीरे मन्द हो जाता है। प्रेम से उन्मत्त होकर विवाह करने वाले दम्पत्ति एक दूसरे की ओर से धीरे-धीरे उदासीन हो जाते हैं। यह उदासीनता अनेक सम्बन्धों में भेद के बीज बोकर उन्हें भंग भी कर देती है। भंग न होने पर भी उदासीन सम्बन्धों में आनन्द नहीं रहता। इसीलिए आनन्द की चाह में हम नये सम्बन्ध खोजते हैं। नवीनता में आकर्षण अवश्य है। किन्तु आनन्द का स्रोत आत्मीयता में ही है। यह आत्मीयता सरलता से सुलभ नहीं होती। इसीलिए नये सम्बन्धों में आरम्भ में ही आकर्षण रहता है। शीघ्र ही वे पुराने सम्बन्धों से अधिक उदासीन हो जाते हैं। फिर नये सम्बन्धों की एक सीमा है। नये मित्र तो अनेक बनाये जा सकते हैं, किन्तु माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहिन आदि तो नित्य नये नहीं मिल सकते। मित्रता का सम्बन्ध अत्यन्त सुन्दर किन्तु अत्यन्त दुर्लभ है। कुछ निकट के अधिक परिचित जनों से बन्धु-भाव ही मनुष्य के सामान्य सम्बन्ध की सीमा है। प्रायः लोग पुराने धन्धों में ही जीवन बिताते हैं। अधिक निकट और घनिष्ठ सम्बन्ध सबसे अधिक पुराने और परिचित होते हैं। अतः इन सम्बन्धों में उल्लास का भाव सबसे अधिक मन्द होता जाता है। पर्वों की परम्परा में इन सम्बन्धों की उदासीनता में नये उल्लास की स्फूर्ति का संचार करने की अद्भुत शक्ति है। प्रत्येक 'भ्रातृ द्वितीया' में भाई-बहिन का पुराना और परिचित सम्बन्ध मानों एक नवीन उल्लास और आलोक से भर जाता है। गुरु-पूर्णिमा की श्रद्धामयी पूजा में गुरु-शिष्य का पुराना और परिचित सम्बन्ध एक नये आलोक से खिल उठता है। होली के उदार रस-पर्व में मानों सारे ही सम्बन्ध नवीन वर्णों से रंजित होकर नये हो जाते हैं। पुराने और परिचित सम्बन्धों में नये आलोक और आह्लाद की छटा का विस्तार पर्व-संस्कृति का अत्यन्त

महिमामय रहस्य है। वस्तुओं और सम्बन्धों की भाँति क्रियाओं में भी कालान्तर में एकरसता आ जाती है। जिन कामों को हम रोज करते रहते हैं, वे अभ्यास के कारण नीरस बन जाते हैं। इसीलिए वस्तुओं, व्यवस्थाओं और सम्बन्धों की भाँति जीवन की क्रियाओं में भी नवीनता के द्वारा ही आह्लाद मिल सकता है। किन्तु इस आह्लाद के लिए नयी-नयी क्रियाओं का आविष्कार नहीं हो सकता। जीवन की अनेक दैनिक क्रियायें निश्चित और नियमित हैं। स्नान, भोजन आदि की भाँति कुछ क्रियायें ऐसी हैं, जिन्हें नित्य कर्म कहा जा सकता है। कभी-कभी विशेष व्यवस्था के द्वारा भ्रमण, यात्रा, भोज, मेला आदि नवीन क्रियाओं का आयोजन भी किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति में इसकी व्यवस्था है। किन्तु ऐसा कुछ अवसरों पर ही हो सकता है। नवीनता जीवन का आकर्षण अवश्य है। किन्तु नवीन उपकरणों, सम्बन्धों और क्रियाओं के आयोजन की व्यावहारिक तथा आर्थिक सीमाएं हैं। ये अल्प मात्रा में ही संभव हो सकती है। अधिकांश जीवन परिचित और पुराने ही रूपों में चलता है। किन्तु इन रूपों में जीवन बहुत शीघ्र नीरस हो जाता है। न जाने क्यों निकटता और अभ्यास से वस्तुओं और क्रियाओं का आकर्षण मन्द हो जाता है। नवीन रूपों की खोज इसी नीरसता का एक उपचार अवश्य है। किन्तु इस उपचार की एक सीमा है। दूसरे वस्तुओं के समान क्रियाओं के रूपों की नवीनता भी अल्पकालीन है। निरन्तर नई क्रियाओं की खोज संभव नहीं है। फिर जिस प्रकार केवल नवीन वस्तुओं में आकर्षण होते हुए भी आह्लाद आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार नवीन क्रियाओं में भी आह्लाद आवश्यक नहीं है। उपकरण और क्रियायें आह्लाद के अवलम्ब अवश्य है, किन्तु वे अपने आप में आह्लाद के स्रोत नहीं है। आह्लाद एक आन्तरिक भाव है। मनुष्य के मन में इन भावों का अखण्ड स्रोत है। मन की आन्तरिक स्फूर्ति से इन भावों के नये-नये उत्स उमड़ते हैं। इन भावों के विलास में परिचित वस्तुएँ भी नये सौन्दर्य से खिल उठती हैं और अभ्यस्त क्रियाओं में भी नये उल्लास का स्फुरण होता है। उल्लास और आह्लाद का यह आन्तरिक स्फुरण ही जीवन का अन्ततम रहस्य है।

वस्तुओं और सम्बन्धों की भाँति साधारण क्रियाओं में भी जीवन के इस रहस्य का अन्वय भारतीय संस्कृति में हुआ है। जीवन की नीरसता का कारण काल की एक-रस गति में है, मानों काल का क्रम अपने अवलम्बों को ही अपनी एकरसता प्रदान कर देता है। अतः एकरसता की नीरसता को मिटाने के लिए भारतीय संस्कृति के विधायकों ने काल के ही सूत्र को ग्रहण किया है। विशेष अवसरों का रूप देकर काल के एकरस क्षणों को ही नवीनता के आकर्षण से अनुप्राणित किया गया है। विशेष अवसरों का रूप देकर काल के एकरस क्षणों को ही नवीनता के आकर्षण से अनुप्राणित किया गया है। काल के इस भाव सूत्र का ग्रहण जीवन का एक निगूढ़ मर्म है। जिसे भारतीय संस्कृति के विधायकों ने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा से प्रकाशित किया है। विशेष अवसर बनकर वे ही नित्य आने वाले एकरस दिन नवीन सौन्दर्य से निखर उठते हैं। काल के इस रहस्य में भाव का संपुट देकर जीवन की आह्लादमयी व्यवस्था को पूर्ण किया गया है। भाव की स्फूर्ति से ही काल के विशेष अवसर उल्लास के पर्व बनते हैं। पर्व के सौन्दर्य और भाव के रस से अंचित होकर वे ही परिचित और अभ्यस्त क्रियायें नवीन आह्लाद का स्रोत बन जाती है। पर्व की भावना और भाव की स्फूर्ति के द्वारा पुराने उपकरणों और सम्बन्धों, अभ्यस्त क्रियाओं और एकरस दिनों को नवीनता के सौन्दर्य और अपूर्वता के आह्लाद से अंचित करके भारतीय संस्कृति के विधायकों ने जीवन और संस्कृति को सौन्दर्य और आनन्द के अमृत पीठ पर प्रतिष्ठित किया है।

काल की गति निरन्तर है। काल की इस निरन्तर गति में एक-रसता है। काल के सभी क्षण स्वरूप से समान होते हैं। 'काल' सत्ता और गति का सामान्य रूप है। सभी वस्तुओं और क्रियाओं की गति एवं स्थित काल में ही है। अपनी एकरसता का आरोपण करके काल सब वस्तुओं और क्रियाओं के सौन्दर्य और आकर्षण को मन्द बना देता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के विधायकों में काल के इस सूत्र को ग्रहण कर उसके प्रत्येक दिन को एक विशेष अवसर का सौन्दर्य प्रदान किया है। जिसमें पुरानी वस्तुएँ और अभ्यस्त क्रियायें एक नवीन भाव

से अंचित होकर एक नवीन सौन्दर्य और अपूर्व आह्लाद का स्रोत बन जाती है। सभी संस्कृतियों में कुछ ऐसे प्रयत्न किये गये हैं। किन्तु वे प्रयत्न बहुत अल्प हैं। वर्ष में दो-चार ही उल्लास के पर्व आते हैं। विलम्ब से आने के कारण वे विशेष आनन्द प्रदान करते हैं। किन्तु उनके अन्तराल का शेष समय काल की नीरस और उदासीन गति में बीतता है। भारतीय संस्कृति में पर्वों की संख्या बहुत अधिक है। प्रतिदिन ही कोई न कोई पर्व होता है। बड़े पर्वों की संख्या भी बहुत अधिक है। इन पर्वों में कई श्रेणियाँ हैं। यों तो सभी पर्व सामाजिक है। किन्तु कुछ का सामूहिक रूप अधिक स्फुट है। कुछ पर्व पारिवारिक अधिक हैं। उनका उत्सव घर की सीमा में ही रहता है, यद्यपि सभी घरों में होने के कारण उनसे भी एक सामाजिक वातावरण बन जाता है। कुछ पर्वों का आकार इतना विशाल है कि उनमें एक नगर ही नहीं, अनेक नगरों के लोग अपार संख्या में तीर्थों और मेलों में सम्मिलित होते हैं। इन पर्वों में विविधता भी बहुत है। इनमें सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार के पर्व हैं। इस विविधता के कारण प्रतिदिन आने वाले पर्वों में भी एकरसता नहीं आती। पर्वों के विविध रूपों की निरन्तर गति से मानों सम्पूर्ण वर्ष और जीवन ही एक पर्व-परम्परा बन जाता है। प्रत्येक दिन अपना एक अपूर्व उल्लास लेकर आता है। समुद्र के दैनिक ज्वार की तरह भारतीय जीवन के समुद्र में प्रतिदिन ही तरंगे उठती हैं। अमावस्या और पूर्णिमा के ज्वारों की भाँति अन्तराल से आने वाले विशेष अवसरों पर उल्लास के ये ज्वार विशेष रूप से ऊर्जित होते है। पर्वों के उल्लास का यह आरोह और अवरोह जीवन की गति को एक संगीत की लय प्रदान करता है। पर्वों की इस रागिनी के क्रम में काल की एकरस गति की उदासीनता विलीन हो जाती है। पर्वों की यह मधुमयी रागिनी के क्रम में काल की एकरस गति की उदासीनता विलीन हो जाती है। पर्वों की यह मधुमयी रागिनी प्रतिदिन नवीन उल्लासों का उत्सव रचती है।

अस्तु भारतीय पर्व संस्कृति में मनुष्य-जीवन का एक अत्यन्त गभीर रहस्य निहित है। उस रहस्य में ही उल्लास का वह अनन्त स्रोत है,

जो भारतीय जीवन-धारा की उच्छल तरंगों में प्रवाहित होता रहा है। वह रहस्य जीवन में परिचय और काल का उदासीन प्रभाव है। मनुष्य का मन सदा नवीनता से उल्लसित होता है। किन्तु जीवन के उपकरणों में नवीनता का निर्वाह कठिन है। परिचित वातावरण में पुराने उपकरणों के साथ ही प्रायः जीवन व्यतीत होता है। नये उपकरण भी शीघ्र पुराने हो जाते हैं। उल्लास के लिए नवीनता और असाधारणता का आयोजन नित्य संभव नहीं है। सम्बन्धों और क्रियाओं में वह और भी कठिन है। जीवन की साधारण परिस्थितियों में पुराने उपकरणों और सम्बन्धों तथा साधारण कर्मों के प्रसंग में ही नवीनता और असाधारणता के सौन्दर्य का सर्जन पर्व-संस्कृति का एक अद्भुत चमत्कार है। भाव मन की असीम विभूति है। उसमें नवीनता की अनन्त संभावना है। नवीनता के सौन्दर्य के लिए भाव का आश्रय लेकर पर्व-संस्कृति ने सौन्दर्य के एक अनन्त भाण्डार का द्वार खोला है। नये-नये भावों की भूमिका में पुराने उपकरण और सम्बन्ध तथा परिचित क्रियायें अपूर्व सौन्दर्य से खिल उठती हैं। ये तीन जीवन के प्रमुख अवलम्ब भी है। पर्व संस्कृति में इन तीनों का ही समन्वय है। उपकरणों में जीवन और संस्कृति का प्राकृतिक आधार है। सम्बन्ध उनके सामाजिक अवलम्ब हैं। क्रिया जीवन का रूप और मनुष्य का धर्म है। इनके परिचित और साधारण रूपों में ही भावों की नवीन विभूति के सौन्दर्य का समागम करके पर्व-संस्कृति आनन्द के नित्य नये उत्सव रचती है।

बाह्य जगत में मनुष्य के द्वारा सम्पादित भौतिक व्यवस्था की अपेक्षा निसर्ग प्रकृति में अधिक नवीनता है। ऋतु-ऋतु में वह नया वेष धारण करती है। प्रभात से लेकर संध्या तक और शरद से लेकर वर्षा तक दिन और वर्ष में आकाश में कितने दृश्य बदलते हैं। वर्षा ऋतु में बादलों और बिजलियों की छटा दर्शनीय होती है। ग्रीष्म के बाद मनुष्य और पशु हर्ष पूर्वक वर्षा का स्वागत करते हैं। वर्षा कृषि के लिए ही लाभकारी नहीं है, वरन् मनुष्य के लिए एक सुन्दर आकर्षण भी है। वर्षा के बाद शरद की निर्मल छटा का स्वच्छ सौन्दर्य बड़ा मनोहर लगता है। वर्षा में प्रकृति की हरियाली छवि मन को मोहती है,

तो शरद में नये-नये फूलों में प्रकृति का सौन्दर्य खिलता है। शिशिर में वर्षा के बोये खेत पकते हैं। शीत के कारण सूर्य का आतप सुहावना लगता है। वसन्त में शीत और उष्ण की समता समय को मधुर बनाती है। नये-नये खेत लहराते हैं। पुष्पों और मंजरियों से प्रकृति का अचल भर जाता है। नये-नये फल फलने लगते हैं। सौन्दर्य और समृद्धि के कारण वसन्त को ऋतुराज मानते हैं। ग्रीष्म में अनेक नये फल पकते हैं। पके हुए खेत कटते हैं। अन्नपूर्णा के वरदानों से मनुष्य के भाण्डार भर जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक ऋतु का अपना-अपना सौन्दर्य है। प्रत्येक ऋतु में प्रकृति की शोभा रमणीय होती है। नये अन्न, नये फल और नये फूल आते हैं। भारतीय कवियों ने इन ऋतुओं के सौन्दर्य का वर्णन किया है। कवियों के वर्णनों में शृंगार की प्रधानता के कारण ऋतुओं में भारतीय लोक-जीवन का सौन्दर्य समाहित नहीं हो सका है। किन्तु भारतीय पर्व-परम्परा का बहुरंगी चित्र प्रकृति के सुन्दर पट पर ही अंकित हुआ है। पर्वों की परम्परा में ऋतुओं के अनुसार प्रकृति की भूमिका का प्राय: अवलम्ब लिया गया है। सभी पर्वों की न हो; किन्तु अनेक पर्वों की योजना प्रकृति की अनुकूल पीठिका में की गई है। श्रावणी के पर्व पर हरियाली और बादलों की भूमिका में झूला जितना मनोहर लगता हैं, उतना कभी नहीं लगता। शरद की स्तब्ध अमावस्या में दीपावली संभव ही नहीं अत्यन्त मनोहर लगती है। वसन्त के बहुरंगी पुष्पों से रंजित और सम ऋतु के मधुर काल में होली का रंगीन पर्व जीवन के सौन्दर्य और माधुर्य को और बढ़ाता है। पर्वों के अवसरों पर भोजन की व्यवस्था भी ऋतुओं के अनुरूप होती है। ऋतु-ऋतु में नये-नये अन्न, फल और शाक आते हैं। और भी ऋतुओं के अनुसार अनेक प्रकार के भोजन बनाये जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति की नयी-नयी भूमिका में भोजन, वस्त्र, क्रिया आदि के नये-नये उपकरणों के साथ पर्व जीवन में नये-नये उल्लास और हर्ष के अवसर बनते हैं। नवीनता जीवन में उल्लास का मूल मंत्र है। उपकरणों की नवीनता जीवन के उल्लास को सजीव बनाती है। भारतीय पर्वों के विधान में दोनों का उपयोग एक

सहज समन्वय के साथ किया गया है। भारतवर्ष का ऋतु-क्रम बहुत परिवर्त्तनशील है। भारत की सम्पन्न प्रकृति में यह परिवर्त्तन का निरन्तर क्रम एक नवीन सौन्दर्य का संचार करता है। प्रकृति की बदलती हुई भूमिका में सम्पन्न होने वाले पर्व नित्य नवीन उल्लास के अवसर बनते हैं। प्रकृति और भोजन आदि के प्राकृतिक उपकरणों के संयोग से पर्वों की व्यवस्था भारतीय-जीवन में अत्यन्त स्वाभाविक बन गयी है। स्वाभाविक होने के कारण ही इसकी नवीनता में ऐसी असाधारणता नहीं है, जो उत्सव को साधारण जीवन से विच्छिन्न बनाकर एक अनोखे आनन्द का अवसर बना दे, किन्तु उसकी असाधारणता के प्रभाव से साधारण जीवन नीरस प्रतीत हो। भारतीय पर्वों के उत्सव और उल्लास की सबसे बड़ी महिमा यही है कि वे साधारण जीवन की परिस्थितियों में ही नित्य नये सौन्दर्य और आह्लाद की रचना करते हैं। स्वाभाविक होने के साथ-साथ असाधारण न होने के कारण पर्वों की व्यवस्था विशेष आयास से रहित है। दैनिक जीवन के साधारण उपकरणों में ही ऋतु के अनुसार नवीनता का विधान करके जीवन के साधारण कर्मों में ही नवीन सौन्दर्य की व्यवस्था कर दी गई है। अतः उनमें किसी विशेष आयास की अपेक्षा नहीं है। कर्म जीवन का धर्म है। किन्तु विशेष आयास उत्सव के आनन्द को मन्द कर देता है। विशेष आयास से रहित उत्सव सहज आनन्द के पर्व बन जाते हैं। प्रकृति की भूमिका में अनुष्ठित होने के साथ-साथ जीवन के साथ सहज सामंजस्य भारतीय पर्वों की एक विलक्षणता है। प्रकृति की भूमिका का समन्वय उन्हें स्वस्थ बनाता हैं। जीवन के साथ सहज सामंजस्य के कारण वे निसर्ग आनन्द के स्रोत बन जाते हैं।

प्रकृति की भूमिका भारतीय पर्वों में निरन्तर नवीनता का विधान करती हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति के साथ मनुष्य का सम्पर्क स्थापित करके जीवन को एक स्वस्थ और स्वाभाविक रूप भी देती है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य प्रकृति के अंचल से विलग होता जा रहा है। जीवन की कृत्रिमता विज्ञान की एक विशेष देन है। सभ्यता के कृत्रिम रूपों को अपनाकर मनुष्य प्रकृति से दूर होता जा रहा है।

स्वच्छ वायु से प्रफुल्लित होने वाला आज औषधियों पर जी रहा है। विज्ञान ने सभ्यता को जो उपकरण प्रदान किये हैं, वे देखने में भव्य और व्यवहार में सुविधामय अवश्य हैं। किन्तु उन्होंने मनुष्य के जीवन को अस्वाभाविक और अस्वस्थ बना दिया है। विज्ञान की सुविधायें ऐसी भी हैं, जो किसी भी रूप में मनुष्य के लिये हानिकारक नहीं हैं। अनेक सुविधायें ऐसी हैं, जो निश्चित रूप से लाभदायक हैं। किन्तु उनमें अनेक सुविधायें ऐसी भी हैं, जिन्होंने मनुष्य को शरीर के आवश्यक व्यायाम से वंचित कर दिया है। प्रकृति के वातावरण में मनुष्य का जीवन अधिक सक्रिय रहता है। मूलतः मनुष्य प्रकृति का पुत्र है और वह प्रकृति के अंचल में उसी प्रकार प्रसन्न रहता है, जिस प्रकार बालक माँ की गोद में। प्रकृति के साथ सम्पर्क में मनुष्य को स्वास्थ्य का भी लाभ होता है। किन्तु इसके अतिरिक्त प्रकृति के साथ सम्पर्क से उसे एक सहज उल्लास भी मिलता है। प्रभात का सूर्योदय और संध्या का चन्द्रोदय हमें आज भी प्रफुल्लित करता है। नदी, पर्वत, वन आदि को देखकर हम आज भी आह्लादित होते हैं। पुष्पों के प्रति आज भी हमारा अनुराग है। इसका कारण केवल इतना ही नहीं है कि हम प्रकृति से दूर हो गये हैं, अतः इस सम्पर्क में हमें नवीनता का अनुभव होता है। जो ग्रामवासी और वनवासी वन और ग्राम में रहते हैं, उनके लिये प्रकृति चिर-परिचित होती है, फिर भी प्रकृति के सम्पर्क में वे सहज आनन्द प्राप्त करते हैं। प्रकृति के स्वरूप में नवीनता भी है। अतः नवीनता का भी उन्हें आनन्द मिलता है। किन्तु इस नवीनता से भी बढ़कर प्रकृति के साथ एक सहज आत्मीयता मनुष्य को एक सहज आह्लाद प्रदान करती है। इसका कारण संभवतः प्रकृति के साथ मनुष्य का औरस सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण ही प्रकृति के साथ मनुष्य आत्मीयता का अनुभव करता है। प्रकृति में वनस्पतियाँ सजीव हैं। उनका विकास भी होता है। वे मनुष्य के ही समान सृजनात्मक हैं। उनके उद्भव और विकास में मनुष्य योग भी दे सकता है। प्रकृति के इस विकास में मनुष्य का योग उसकी सृजनात्मक वृत्ति का प्रकाशन है। इस सृजन में नवीनता का भी

संगम है। जीवन की आत्मीयता, सृजनात्मकता और नवीनता के कारण प्रकृति का सम्बन्ध मनुष्य के लिए अपार आनन्द का स्रोत है। प्रकृति का सृजनात्मक सम्बन्ध सक्रिय भी है। सक्रियता इस आनन्द को और बढ़ाती है। इन्हीं कारणों से प्रकृति का सम्पर्क मनुष्य के लिए एक उत्सव का अवसर बनता है। कण्व के आश्रम में रहने वाली शकुन्तला वृक्षों के पुष्पोद्गम के समय उत्सव मनाती है। वृक्षों और लताओं से विदा लेते समय उसे ऐसा ही दुःख होता है, जैसा कि सखियों के बिछुड़ने के कारण हो रहा था। आश्रमों और ग्रामों के निवासियों को प्रकृति के स्वस्थ और आनन्दमय सम्पर्क का अवसर सदा रहता है। पर्वों की योजना में नागरिकों के लिए भी प्रकृति के इस सम्पर्क का विपुल अवकाश मिलता है। सभी पर्वों का क्षेत्र घर और नगर में नहीं है। बहुत से पर्व नगर के बाहर प्रकृति के वातावरण में भी सम्पन्न होते हैं। स्नान भारतीय शिष्टाचार में एक प्रारम्भिक कर्म है। जहां नदियाँ हैं, वहाँ पर्व के दिन नदियों में स्नान धार्मिक कृत्य माना जाता है। अनेक पर्वों में वृक्षों का पूजन होता है। पत्रों और पुष्पों का उपयोग तो प्रायः सभी पर्वों में होता है। सूर्य और चन्द्रमा की वन्दना होती है। श्रावण में बागों में झूले डाले जाते हैं। इस प्रकार अनेक पर्वों के अवसर पर प्रकृति का सजीव सम्पर्क प्राप्त होता है, जो स्वस्थ होने के साथ-साथ एक सहज आत्मीयता का आनन्द देता है। पर्वों का उत्सवपूर्ण वातावरण प्रकृति के इस आत्मीय सम्बन्ध को और भी अधिक आनन्दमय बना देता है। नागरिक जीवन में भी अनेक पर्व प्रकृति की महिमा और उसके सौन्दर्य का संकेत करते हैं। इसके साथ-साथ वे यथा सम्भव प्रकृति के साथ आत्मीयता स्थापित करने के लिए प्रेरणा देते हैं। श्रावणी के यव-वपन के साथ समान कुछ पर्वों में प्रकृति के साथ सृजनात्मक सम्बन्ध का सूत्र भी अवशेष रह गया है। किसी भी रूप और परिमाण में प्रकृति के साथ इस सृजनात्मक सम्बन्ध को प्राप्त करके मनुष्य का हृदय आह्लाद होता है। प्रकृति के साथ निकटता और आत्मीयता तथा कुछ रूपों में सृजनात्मक सम्बन्ध का संकेत करके भारतीय पर्व जीवन की स्वस्थ और आनन्दमयी दिशा का निर्देश करते हैं।

प्रकृति के साथ सजीव सम्पर्क के द्वारा पर्व एक स्वस्थ और स्वाभाविक जीवन की कलापूर्ण विधि को जीवन में चरितार्थ करते हैं। साधारण जीवन की परिस्थितियों और स्वस्थ जीवन की अपेक्षाओं के अनुरूप होने के साथ-साथ पर्वों की समस्त योजना सक्रिय है। क्रिया जीवन का रूप है। अतः पर्वों की परम्परा जीवन का ही एक सुन्दर संस्करण है। पर्वों का कलात्मक सौन्दर्य जीवन के संस्करण को आनन्दमय बनाता है। सभी पर्वों में जीवन के साधारण कर्मों को कुछ असाधारण और नवीनता का सौन्दर्य मिल जाता है। पर्वों के प्रसंग में कुछ नवीन कर्म भी बढ़ जाते हैं। किन्तु वे जीवन के साधारण कर्मों में ही मिले रहते हैं और उनको कुछ नवीनता का सौन्दर्य प्रदान करते हैं। काल की निरन्तर गति से जीवन के साधारण कर्म एकरस होकर उदासीन बन जाते हैं। किन्तु कर्म के बिना जीवन में आनन्द को कुछ लोग स्थिर और भाव-रूप मानते हैं। अध्यात्म का आनन्द कदाचित ऐसा ही है, किन्तु जीवन का आनन्द सक्रिय है। भाव-रूप होते हुए भी आनन्द का भाव क्रियाओं में ही प्रकट होता है। क्रियाओं के माध्यम से आनन्द सजीव हो उठता है। जीवन के सक्रिय रूप होने के कारण पर्व एक सजीव आनन्द से परिपूर्ण होते हैं। कुछ असाधारण और नवीन कर्मों का योग एक नवीन उत्साह का अवसर बन जाता है। नवीनता का आकर्षण इन कर्मों के प्रति बालक, वृद्ध, स्त्री और पुरुष सबके मन में एक नवीन उत्साह भर देता है। थोड़ी सी नवीनता और उससे प्रसूत उत्साह के द्वारा जीवन के साधारण कर्म भी नवीन सौन्दर्य में रंग जाते हैं। इस प्रकार पर्व के अवसर पर जीवन की समस्त विधि एक अपूर्व सौन्दर्य से रंजित दिखाई देती है। सबके सहयोग से सम्पन्न होने के कारण पर्वों का सक्रिय रूप एक व्यापक आनन्द का अवसर बनता है।

सक्रिय होते हुए भी इन पर्वों में क्रिया का अन्वय एक अत्यन्त सहज रूप में हुआ है। पर्वों की अधिकांश क्रियायें दैनिक जीवन के साधारण कर्म हैं। पर्वों के प्रसंग में जिन नवीन कर्मों का आगम होता है, वे भी असाधारण नहीं हैं। साधारण कर्मों के निकट और उनसे सम्बन्ध होने के कारण नवीन होते हुए भी वे किसी विशेष आयास के

कारण नहीं बनते। अनेक नवीन कर्म साधारण कर्मों के सहयोगी ही होते हैं। नवीनता का उत्साह इन कर्मों के साधारण आयास को भी उल्लास से ओत-प्रोत करके और भी अनायास एवं सहज बना देता है। अधिकांश पर्वों के स्थान और उपकरण हमारे जीवन के परिचित स्थान और उपकरण ही होते हैं। अधिकांश पर्व तो घरों में ही मनाये जाते हैं। अतः उनके प्रसंग की क्रियायें हमारे दैनिक जीवन की साधारण क्रियाओं की भाँति ही सहज होती हैं। कुछ पर्वों में मन्दिरों और तीर्थों में पूजा की जाती है। इस पूजा में कुछ असाधारण का आनन्द अवश्य है, किन्तु कोई विशेष आयास का श्रम नहीं होता। अनेक मन्दिर और तीर्थ घर के निकट ही होते हैं। मिल-जुलकर जाने के कारण इन क्रियाओं का श्रम भी आयास नहीं बनता। इस प्रकार जिन पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा कुछ पर्व सम्पन्न होते हैं, इनमें भी कोई आयास-पूर्ण असाधारणता नहीं मानी जाती। पारिवारिक सम्बन्धों में एक आत्मीय भाव रहने के कारण वे विशेष सुश्रूषा के रूप में किसी आयास की अपेक्षा नहीं रखते। इसी प्रकार इन पर्वों के लिए जो नवीन उपकरण आवश्यक होते हैं, वे भी कुछ दैनिक उपयोग की ही वस्तुएँ हैं और कुछ असाधारण होते हुए भी अत्यन्त सुविधा से उपलब्ध होते हैं।

तात्पर्य यह है कि किसी भी रूप में हमारे पर्व किसी ऐसे असाधारण आयास की अपेक्षा नहीं रखते, जो इन पर्वों के आनन्द और उल्लास को मन्द करदे। सक्रियता जीवन का रूप अवश्य है, किन्तु अधिक आयास से जीवन की क्रियाओं का आनन्द मन्द हो जाता है। प्रकृति ने देह के धर्मों को कितना सजग और अनायास बनाया है। श्रम मनुष्य का धर्म है। वह स्वास्थ्य और आनन्द का भी मूल है। निष्क्रिय जीवन रोगी और नीरस बन जाता है। किन्तु दूसरी ओर जब यह श्रम विशेष आयास की अपेक्षा रखता है, तो आयास की बहुलता के कारण क्रिया के फल का आनन्द मन्द हो जाता है। आयास केवल श्रम का आधिक्य नहीं है। श्रम के आधिक्य न होने पर भी कर्म से आयास हो सकता है। व्यवस्था की असुविधा अधिक चिन्ता की अपेक्षा

अथवा अधिक प्रयत्न की आकांक्षा कर्म को आयास बनाती है। जो कर्म हमारे साधारण जीवन की व्यवस्था में अन्वित रहते हैं, उनमें किसी विशेष अवसर पर श्रम अधिक हो जाने पर भी अधिक चिन्ता और प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। अतः वे आयास नहीं बनते। आयास रहित होने के कारण ही हमारे पर्व आनन्द के स्रोत हैं। पर्वों की सक्रियता एक अत्यन्त सहज रूप में जीवन में अन्वित हुई है। यह सहज भाव ही पर्वों के आनन्द का सूत्र है। पर्वों की प्राकृतिक भूमिका इस सहज भाव के कारण और भी अधिक स्वाभाविक बन जाती है। आयास की अपेक्षा के कारण अनेक हितकारी कर्म आज हमारे लिए दुष्कर हो रहे हैं। प्रातः भ्रमण इसका एक साधारण उदाहरण है। भारतीय पर्वों की व्यवस्था में जिस सहज और सुकर रूप में क्रिया का अन्वय किया गया है, उसमें जीवन के उल्लास का रहस्य निहित है। सहज-भाव से युक्त सक्रियता पर्वों को अपूर्व आनन्द का अवसर बनाती है।

सहज-भाव के साथ-साथ स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता भी पर्वों के आनन्द और उल्लास का मर्म है। स्वतन्त्रता का अर्थ क्रिया को प्रेरित करने वाले संकल्प की स्वाधीनता है। इच्छा अथवा संकल्प की स्वाधीनता क्रिया में उल्लास बनती है। बालकों के खेल में उल्लास का यही रहस्य है। स्वच्छन्दता क्रिया की गति का अपनी इच्छा से निर्मित मार्ग है। यदि क्रिया किसी दूसरे के शासन, आदेश अथवा इच्छा से प्रेरित नहीं होती, तो वह स्वतन्त्र कहलाती है। यदि क्रिया की गति दूसरे की इच्छा से निर्धारित नहीं होती, तो वह स्वच्छन्द कहलाती है। प्रेरणा में स्वतन्त्र और गति में स्वच्छन्द होने पर ही क्रिया में आनन्द का उल्लास होता है। दूसरे के शासन के अतिरिक्त अपना अभ्यास भी पराधीनता का रूप है। रूढ़ होकर हमारी आदतें भी अभ्यास के कारण हमारी शासक बन जाती है। स्वभाव का यह शासन भी प्रेरणा की स्वतन्त्रता और गति की स्वच्छन्दता का घातक है। अतः यह भी जीवन के उल्लास को मन्द करता है। सभ्य जीवन की साधारण चर्या में समाज और शासन की व्यवस्था के साथ-साथ आदत भी जीवन के उल्लास को मन्द बनाने का एक प्रबल कारण है। समाज और शासन

के बन्धनों का प्रभाव दूर का, परोक्ष और नैमित्तिक है। किन्तु आदत का प्रभाव निकट का, अपरोक्ष और प्रतिक्षण का है। भारतीय पर्वों की व्यवस्था में दोनों ही रूपों में स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता को यथेष्ट अवकाश मिलता है। पर्वों के सम्बन्ध में जो क्रियायें होती हैं, उनकी प्रेरणा और गति प्रत्येक मनुष्य का अपना अधिकार है। भारतीय पर्वों के पीछे शासन समाज का आदेश नहीं है। धार्मिक व्यवस्थायें समाज की स्वतंत्र परम्परा से ही गुंफित हो गई हैं। भारवि के शब्दों में कम से कम पर्वों के सम्बन्ध में शास्त्र केवल अर्थ का प्रकाशन करता है। वे पर्व परम्परा के सूत्र और संकेत मात्र हैं। पर्वों की प्रेरणा समाज की उन सांस्कृतिक परम्पराओं में है, जो प्रत्येक मनुष्य की विभूति है। इन परम्पराओं के पालन में मनुष्य किसी पराधीनता का अनुभव नहीं करता। पर्वों के सम्बन्ध में जो क्रियायें होती हैं, उनके रूप और गति का निर्धारण प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार करता है। यह स्वच्छन्दता ही पर्वों के समारोह को उल्लास से भरती है। स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता के अभाव के कारण ही आज के राष्ट्रीय और राजनीतिक उत्सव नीरस रहते हैं। शासन का आदेश और उनकी गतिविधि का निर्धारित रूप उल्लास के मूल पर ही आघात करता है। इसके अतिरिक्त जीवन के साधारण कर्मों और सम्बन्धों में एक सहज नवीनता का संचार करके पर्व आदत की पराधीनता से भी हमें मुक्त करते रहते हैं। जीवन के रूढ़ रूपों में नये सौन्दर्य के अंकुर फूटते हैं और जीवन के साधारण धर्म भी नवीन उल्लासों से खिल उठते हैं। इस प्रकार नवीनता के उल्लास के द्वारा स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता पर्वों के सक्रिय विधान को अनन्त आनन्द का स्रोत बनाती है। पर्वों की एकरूपता में भी बहुरूपता के लिये पूरा स्थान है। अपनी रुचि और अपने साधनों के अनुरूप अपनी प्रेरणा और अपनी इच्छा से सम्पन्न करके सभी इन पर्वों के अवसर पर अपने जीवन में नवीन आनन्दों की सृष्टि करते हैं।

स्वतन्त्रता का मर्म समता है। विषमता में स्वतन्त्रता भंग हो जाती है। बाह्य रूपों की समता चाहे संभव न हो, किन्तु आन्तरिक भाव की समता स्वतन्त्रता का आधार है। सभ्यता और संस्कृति के वृक्ष

और लतायें भी समता के मार्ग में ही शोभित होती हैं। समता का मूल तत्व यही है कि बाह्य विषमताओं के होते हुए भी मनुष्य की दृष्टि से सब समान हैं। मनुष्यता के भावों का सम्बन्ध बाह्य विषमताओं से संकुचित नहीं होता। मनुष्य की दृष्टि से कोई भी मनुष्य दूसरे मनुष्य से श्रेष्ठ नहीं है। मानवीय और नैतिक गुणों का उत्कर्ष भी इस मानवीय समता को खण्डित नहीं करता। नवीनता, सक्रियता, स्वतन्त्रता आदि के अतिरिक्त समता मानवीय उल्लास का मूल स्रोत है। विषमता की स्थिति में स्वतन्त्रता तो खण्डित हो जाती है, किन्तु नवीनता और सक्रियता संभव होते हुए भी, वे आह्लाद उत्पन्न नहीं करती। मानवीय समता की भूमि पर ही जीवन के उल्लास की तरंगें लहराती हैं। समता का भाव भारतीय पर्वों के उल्लास और आनन्द का मूल रहस्य है। भारतीय पर्वों की व्यवस्था में समता का अन्वय इतने पूर्ण रूप में है कि इनमें पहले तो अधिक बड़े जन-समूह एकत्र नहीं होते, यदि मेला, तीर्थ आदि के स्थानों पर होते भी हैं, तो उन जन-समूहों में किसी नेता का शासन नहीं होता। ये समूह मनुष्यता के धरातल पर समता के भाव से पारस्परिक प्रेम और आनन्द के लिए अनायास एकत्र होने वाले मनुष्यों के दल होते हैं। इन समूहों के संगठन का कोई निश्चित रूप और इनकी गति-विधि का कोई निश्चित नियम नही होता। इन समूहों में कोई भी एक दूसरे से श्रेष्ठ नहीं होता। अतः पर्वों के अवसर पर सबको अपने जीवन के गौरव का अनुभव होता है। किसी का नेतृत्व, शासन अथवा प्रभुत्व नहीं होता, जिससे दूसरों को हीनता का अनुभव हो। सभी पर्वों के अवसर पर समूह एकत्र नहीं होते, और न सभी पर्वों पर घर में अतिथियों का आमंत्रण होता है। सभी पर्वों पर मेले भी नहीं लगते। किन्तु जिन पर्वों में समूह और मेले होते हैं, वे मनुष्यों के स्वतन्त्र संगम के रूप में होते हैं। आधुनिक अर्थ में इन्हें 'सभायें' नहीं कहा जा सकता है। उनका कोई सभापति नही होता, न उनमें कोई भाषण अथवा निश्चित कार्य-क्रम होता है, न इनकी कोई योजना होती है, और न कोई उद्देश्य होता है। ये समूह और मेले ऐसे अनायास आयोजन हैं कि इनके पीछे कोई निर्देश भी दिखाई नहीं देता। न जाने कब से लोगों की

सामाजिक प्रेरणा इन समूहों और मेलों की सहज परम्परा बन गई है, जो स्वतन्त्रता और समता के बल पर युगों से चली आ रही है। वस्तुतः यही सहज प्रेरणा पर्वों की मूल शक्ति है। शास्त्रों के विधान इन पर्वों के समय संकेत मात्र हैं। विधानों से सांस्कृतिक पर्वों में स्वाभाविकता और अनायास भाव का आनन्द नहीं आ सकता। संभवतः पर्वों की परम्परा शास्त्रों के विधान से प्राचीन है। पर्व शास्त्रों के विधान का नहीं वरन् शास्त्रों के विधान पर्वों की परम्परा का अनुसरण करते हैं। विधान और योजनायें उत्सवों में कृत्रिमता ला देती हैं। इसीलिए आज के राजनीतिक पर्व नीरस रहते हैं। प्राचीन सांस्कृतिक संघों में मानों प्रत्येक जन की स्वच्छन्द प्रेरणा साकार होती है। सबकी स्वच्छन्द प्रेरणाओं का संगम एक सहज और सक्रिय उल्लास का सागर रचता है। इस उल्लास के पर्व में सभी समान भाव से और सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। इसीलिए यह सबके लिए अपार आनन्द का अवसर होता है। इन पर्वों के अवसर पर होने वाले जन-संगम राजनीतिक उत्सवों और सभाओं की भाँति नहीं होते। जिनमें कुछ प्रमुख नेता ही अभिनेता होते हैं और शेष सहस्रों जन केवल निष्क्रिय श्रोता अथवा दर्शक होते हैं। आनन्द आत्मा का सक्रिय उल्लास है। वह निष्क्रियता और विषमता में संभव नहीं है। वह सक्रियता और समानता में फलित होता है। निष्क्रियता और विषमता के कारण ही हमारे राष्ट्रीय पर्वों में जनता का उत्साह और उल्लास नहीं है। इसके विपरीत हमारे सांस्कृतिक पर्वों में सभी लोग उत्साह के समारोह में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। उसमें कोई नेता अथवा अभिनेता नहीं होता। पर्वों की अनायास योजना साधारण जीवन का ही एक नवीन और सुन्दर संस्करण है। इन पर्वों में समता की इतनी महिमा है कि साधारण जीवन में महत्वपूर्ण दिखाई देने वाली विषमताएं भी पर्वों के अवसर पर मिट जाती हैं। बड़े-छोटे, गरीब-अमीर, मूर्ख और पंडित सब मनुष्य की दृष्टि से समान हो जाते हैं। एक ही तीर्थ के यात्री बनकर एक ही जल में एक ही भाव से स्नान करते हैं। समान बनकर जुआ खेलते हैं और होली पर समानता के भाव से रंग डालते हैं और गले मिलते हैं।

सक्रियता, स्वतन्त्रता और समता की त्रिवेणी भारतीय पर्वों को संस्कृति के आनन्दमय तीर्थ बनाती है। क्रिया मनुष्य के जीवन का साक्षात् रूप है। अतः सक्रियता में ही आनन्द है। आनन्द मन का भाव अवश्य है, किन्तु जीवन के सक्रिय व्यापारों में ही वह फलित होता है। क्रियाओं में मनुष्य को जीवन की सार्थकता का अनुभव होता है। किन्तु इस सक्रियता के आनन्द का मर्म स्वतन्त्रता में है। मन की स्वच्छंद स्फूर्ति में प्रेरणा का स्रोत होने पर ही क्रिया में आह्लाद स्फुरित होता है। इस स्वच्छंदता का अनुभव मनुष्य को तभी होता है, जबकि क्रिया के पीछे कोई बाहरी दबाव या आदेश नहीं रहता। बाहरी दबाव या आदेश से पराधीनता का भाव आ जाता है और क्रिया का आनन्द मंद हो जाता है। जिस कार्य में मनुष्य का किसी प्रकार का भी सक्रिय योग नहीं होता, उसमें तो उसके लिए आनंद का बहुत कम अवकाश रहता है। आधुनिक सभाएँ और हमारे राष्ट्रीय उत्सव इसीलिए नीरस रहते हैं, कि उसमें कुछ प्रमुख लोगों का ही सक्रिय भाग रहता है, अन्य सभी लोग श्रोता और दर्शक के रूप में एक निष्क्रिय उपस्थिति की नीरसता वहन करते हैं। इन अवसरों की क्रिया भी एक पक्षीय होती है। उसमें थोड़े ही लोग भाग ले सकते हैं। अन्य लोगों की निष्क्रियता की भूमिका पर ही उनकी क्रिया सफल होती है। उस क्रिया का रूप और आयोजन ही ऐसा होता है कि थोड़े ही लोग उसमें सक्रिय रूप से भाग ले सकते हैं, और शेष जन-समूह की निष्क्रियता उनकी क्रिया को सफल बनाने के लिए आवश्यक होती है। नेताओं अथवा विद्वानों के भाषण तभी हो सकते हैं, जबकि अधिक से अधिक संख्या में लोग निष्क्रिय श्रोता के रूप में उपस्थित हों। स्वागत, विदाई, अभिनन्दन आदि के समारोह तभी संभव हो सकते हैं, जबकि एक बड़ी संख्या में निष्क्रिय दर्शक उपस्थित हों। निष्क्रियता का अर्थ यह है कि उत्सव के अवसर पर होने वाली क्रिया में श्रोताओं और दर्शकों का उपस्थिति के अतिरिक्त और कोई योग नहीं होता। समारोह की क्रिया में उनका कोई योग अथवा भाग नहीं होता। केन्द्रीयकरण के इस युग में निष्क्रिय जन समूहों की उपस्थिति में मनाये जाने वाले आधुनिक युग के अनेक उत्सव इसीलिए नीरस हो

रहे हैं। उदासीन भाव से हजारों की संख्या में लोग इनमें उपस्थित होते हैं, किन्तु वे स्वयं इसमें नीरसता का अनुभव करते हैं। कुछ मनुष्यों की क्रिया सार्थक बनाने के लिए दूसरों की निष्क्रियता आवश्यक होती है। इस निष्क्रियता की अपेक्षा के कारण उपस्थित जन-समूह के सदस्य किसी परस्पर व्यवहार का आनन्द भी नहीं ले सकते। अत: यह निष्क्रिय उपस्थिति उनके लिए और अधिक नीरस हो जाती है। इस नीरसता को कम करने के लिए सभाओं और जन समूहों में प्राय· लोग आपस में बात-चीत करते हैं। कुछ लोगों की क्रिया की सार्थकता की दृष्टि से समस्त उपस्थित समूह की निष्क्रियता को जो आवश्यक मानते हैं, वे इस बात-चीत को अशिष्टता समझते हैं। किन्तु सत्य यह है कि आनन्द की आकांक्षा मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। वह उसे परस्पर के सक्रिय और स्वतन्त्र व्यवहार में खोजता है। शासन और सभ्यता की केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियाँ मनुष्य को उसके सहज अधिकार से वंचित करके उसके जीवन को नीरस बना रही हैं। यह सभ्यता का मनुष्य के ऊपर अनधिकार अत्याचार है। विशाल जन-समूहों के ऊपर नीरस निष्क्रियता का आरोपण करने के अतिरिक्त यह केन्दीयकरण तथा केवल कुछ लोगों की सक्रियता एक विषमता का भाव उत्पन्न करती है। यह विषमता भी आनन्द की घातक है। कुछ लोगों की क्रिया को सार्थक बनाने के लिए विशाल जन समूहों की निष्क्रियता का आवश्यक होना ही विषमता का बीज है। इसके अतिरिक्त उन कुछ लोगों की सक्रियता में श्रेष्ठता की भावना भी रहती है। यह श्रेष्ठता की भावना ही निष्क्रिय श्रोताओं और दर्शकों के समक्ष कुछ लोगों के क्रिया-कौशल के प्रदर्शन की प्रेरणा होती है। यह श्रेष्ठता की भावना इन समारोहों की मौलिक परिस्थिति की विषमता को और बढ़ाती है। इस प्रकार सभा में भाग लेने वाले जन-समूहों का आनन्द एक आरोपित निष्क्रियता, पराधीनता और विषमता के कारण अत्यन्त मन्द हो जाता है।

इसके विपरीत पर्वों के उत्सव में भाग लेने वाले सभी लोगों की सक्रियता, स्वतन्त्रता और समानता उन्हें सबके लिए आनन्द का अवसर बना देती है। पर्वों के आनन्द का यह रहस्य आनन्द के आकांक्षी मनुष्य

समाज के लिए एक सनातन सन्देश है। पर्वों की सक्रियता बड़ी उदार और व्यापक होती है। पर्वों के अवसर पर जीवन की साधारण क्रियाओं को ही एक असाधारण भूमिका मिल जाती है। यद्यपि इन क्रियाओं का सामाजिक रूप कुछ सामान्य होता है फिर भी प्रत्येक मनुष्य और परिवार उसे अपनी स्वतंत्र इच्छा के द्वारा विशेष रूप देता है। पर्वों के सामाजिक रूपों की सृष्टि भी अनेक स्वतंत्र इच्छाओं के संगम से होती है। स्थान और काल के नियमों का निश्चय भी किसी वैज्ञानिक कठोरता के साथ नहीं होता। वस्तुतः स्वतंत्रता ही सक्रियता का रहस्य है। स्वच्छन्दता के बिना क्रिया पराधीन हो जाती है। विवश होकर पराधीन क्रिया उल्लास रहित बन जाती है। पर्वों की विशाल योजना के सामान्य रूपों में प्रत्येक मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा के लिए बहुत अवकाश है। पर्वों में कोई ऐसा आयोजन नहीं होता, जिसमें कि विशाल जन समूह आधुनिक सभाओं की भाँति कुछ लोगों की क्रियाओं के निष्क्रिय दर्शक मात्र हों। पर्वों के उत्सव में सभी सक्रिय और स्वतंत्र कर्त्ता होते हैं और सभी दर्शक भी होते हैं। पर्वों की योजना का यह अद्भुत रूप संस्कृति के आनन्द का रहस्यमय सूत्र है। इस अद्भुत रूप में क्रिया और दर्शन दोनो में ही यथेष्ट स्वतंत्रता रहती है। किसी प्रकार की विवशता नहीं रहती। जिन शास्त्रीय विधानों के अनुसार ये पर्व मनाये जाते हैं, वे भी लोक-जीवन की परम्परा में समाहित होकर जन-जन के स्वतंत्र संकल्प बन गये हैं। इन पर्वों की प्रेरणा जनता की स्मृति और उसके उत्साह में रहती है। शास्त्रों और पंचांगों से केवल समय का निर्देश किया जाता है। किन्तु इस निर्देश से लोक-मन की स्वच्छन्दता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आधुनिक आयोजनों की भाँति पर्वों के उत्सव में हमें किसी के शासन, अधिकार अथवा किसी की श्रेष्ठता का अनुभव नहीं होता। स्वतंत्रता और समता का यह मर्म पर्वों की सक्रियता को एक गहन उल्लास का रूप देता है। पर्वों के अवसर पर लोक जीवन में एक ऐसे अलौकिक उत्सव की सृष्टि होती है, जिसके निसर्ग आनन्द में सभी लोग सक्रियता स्वतंत्रता और समानता पूर्वक भाग लेते है। इस दृष्टि से पर्व जीवन और संस्कृति का सुन्दरतम रूप है। उसमें कला का जीवन्त रूप साक्षात्

होता है। भारतीय लोक-पर्व मानवीय कला का सबसे सुन्दर और सजीव काव्य है।

पर्वों की सक्रियता, स्वतंत्रता और समता का रूप इतना व्यापक है कि उसमें समाज के सभी सदस्यों को आनन्द का अवसर मिलता है। सभाओं की भाँति पर्वों का आयोजन किसी विशेष उद्देश्य से नहीं होता है और किसी विशेष वर्ग के लिए ही उसकी उपयोगिता नहीं होती। पर्व समस्त लोक का उत्सव है। गरीब, अमीर, बूढ़े-बच्चे, स्त्री, पुरुष आदि सभी पर्व के समारोह में समान रूप से भाग लेकर आह्लादित होते हैं। कुछ पर्व ऐसे भी होते हैं, जिनमें किसी में विशेष रूप से स्त्रियों का, तो किसी में पुरुषों का, तो किसी में बालकों का, तो किसी में वृद्धों का विशेष महत्त्व होता है। किन्तु फिर भी वे पर्व शेष सबके लिए भी उल्लास के अवसर होते हैं। प्रायः सभी पर्वों में ऐसी योजना होती है कि समाज के सभी सदस्यों के लिए उसमें अपने-अपने आनन्द के निमित्त मिल जाते हैं। सभी पर्वों के अवसर पर कुछ मेला लगता है अथवा रोज का बाजार एक नवीन सज्जा से खिलता है। बच्चों के लिए खिलौने और मिठाइयाँ प्रायः सभी पर्वों के अवसर पर विशेष रूप से मिलती हैं। बच्चों के लिये ये पर्व सबसे अधिक प्रसन्नता के अवसर होते हैं। बच्चों की प्रसन्नता बड़ों के हर्ष को भी बढ़ाती है। बच्चों की यह महिमा पर्वों के सांस्कृतिक मूल्य का एक अमूल्य रहस्य है। भारतीय वर्ष के आरम्भ के प्रथम पर्व नव-रात्र के अवसर पर कन्याओं और बालकों की पूजा की जाती है, तथा उन्हें प्रीति भोज दिया जाता है। खिलौने और मिठाई के अतिरिक्त भी मेला बालकों के लिए विशेष आनन्द का अवसर होता है। घर में भोजन तथा अन्य रूपों में जो विशेषता पर्वों के अवसर पर दिखाई देती है, वह भी बालकों के लिए विशेष हर्ष का निमित्त बन जाती है। बालकों की प्रसन्नता पर्वों की एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण महिमा है। मानवता के ये नवीन प्रतिनिधि उल्लास के ज्वारों पर ही जीवन के सागर में आगे बढ़ते हैं। बालकों के साथ-साथ और सबके लिए भी ये पर्व अनेक रूपों में विशेष उल्लास के अवसर होते हैं। पारिवारिक सम्बन्धों के अनेक रूपों में सभी को कुछ न कुछ पर्वों में विशेष मान मिलता है। एक

की महिमा के पर्व दूसरे के लिए भी हर्षप्रद होते हैं। पर्वों के अवसर पर लोक-जीवन में जिस विशेष और व्यापक उत्सव की सृष्टि होती है, उसमें सभी लोग सक्रियता, स्वतंत्रता और समतापूर्वक भाग लेते हैं। अतः हमारे लोक-पर्व सबके लिए उल्लास के निर्झर हैं।

हमारे लोक पर्व सामाजिक उत्सव हैं। उनका समारोह समान काल में और समस्त समाज में एक सामान्य रूप में होता है। अतः उनको सामाजिक कहना अत्यन्त उचित है। किन्तु पर्वों की इस सामाजिकता का रूप ऐसा है; जिसमें व्यक्ति को अधिक से अधिक मान और अधिक से अधिक स्वतंत्रता मिलती है। सक्रियता, स्वतंत्रता और समता में व्यक्ति का गौरव सम्पन्न होता है। पर्वों की योजना में व्यक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। पर्वों की सक्रिय योजना का कर्त्ता व्यक्ति ही होता है। व्यक्तियों की क्रियाओं के योग से ही पर्वों का सामाजिक उत्सव सम्पन्न होता है। व्यक्तियों के इस स्वतंत्र और सक्रिय सहयोग से पर्वों के सामाजिक उत्सव का सौन्दर्य रूप ग्रहण करता है। किन्तु पर्वों की व्यवस्था में किसी संकुचित व्यक्तिवाद का आग्रह नहीं है। व्यक्तिवाद व्यक्ति को एक विच्छिन्न इकाई मानकर चलता है। व्यक्तिवाद के इस आग्रह के दो कारण हैं, एक प्रकृतिवाद और दूसरा अध्यात्मवाद अथवा समाजवाद के उन रूपों के विरुद्ध प्रतिक्रिया, जिनमें व्यक्ति का महत्व समाज के समष्टिगत हित में विलीन हो जाता है। विलीन ही नहीं; कुछ समाजवादी रूपों में व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है और सामूहिक हित के लिये निःसंकोच उसकी बलि दी जा सकती है। प्राकृतिक दृष्टि से मनुष्य एक ऐसी इकाई है, जिसका हित उसकी व्यक्तिगत सत्ता में सीमित है। अहंकार के रूप में मनुष्य को इस व्यक्तिगत गौरव का अनुभव भी होता है। व्यक्तिगत सत्ता अथवा हित पर आघात होने पर यह अहंकार अनेक उग्र रूप धारण करता है। इस दृष्टि से व्यक्तित्व का प्राकृतिक संगठन और अहंकार के रूप में उसका मानसिक बोध दोनों ही मनुष्य की रक्षा के यंत्र हैं। मनुष्य की इस रक्षा में समाज की भी रक्षा निहित है।

व्यक्तित्व की इन इकाइयों से ही समाज का रूप संगठित होता है। किन्तु व्यक्तिवाद का आग्रह उग्र बनकर व्यक्ति और समाज दोनों का अहित करता है। व्यक्तिवाद की उग्रता समाज में संघर्ष पैदा करती है। यह संघर्ष समाज के सौन्दर्य और आनन्द दोनों को भंग करता है। इस संघर्ष में व्यक्ति के व्यक्तिगत हित भी संकटापन्न हो जाते हैं। दूसरी ओर अपने संकुचित व्यक्तित्व की सीमा में भी व्यक्ति का गौरव और आनन्द पूर्ण नहीं होता। शरीर के प्राकृतिक धर्म भी अंशतः ही व्यक्ति की सीमा में पूर्ण हैं। इन्द्रियों के धर्म व्यक्तित्वों के स्नेहमय सम्पर्कों में ही कृतार्थ होते हैं। मनुष्य का मन व्यक्तित्व में सीमित नहीं है। उसके धर्म दूसरे व्यक्तियों के साथ स्नेह और सद्भाव में ही पूर्ण होते हैं। ये स्नेह और सद्भाव इकाई और अहंकार की कठोर सीमा में संभव नहीं है। ये मनुष्यों के ऐसे सम्पर्क में सम्पन्न होते हैं, जिसमें न व्यक्तित्वों की इकाइयों का कठोर आग्रह रहता है, और न किसी निर्वैयक्तिक भाव में यह इकाई विलीन हो जाती है। मनुष्य की आत्मा और चेतना में कुछ ऐसी अद्भुत क्षमता है कि एक ओर वह अपने अस्तित्व के आधार में रहकर भी दूसरी ओर दूसरों के साथ तादात्म्य भाव में तल्लीन हो सकती है। इसे एकात्मता न कह कर समात्मभाव कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि इसमें दो व्यक्तित्व अथवा चेतनायें समान भाव से आन्दोलित होती हैं और समान लक्ष्यों की ओर अभिमुख होती हैं। यह समात्मभाव ही कला के सौन्दर्य का मर्म है। यही जीवन के मंगल का सूत्र है। यही जीवन का मूल सत्य है। इसी समात्मभाव में जीवन का आनन्द और संस्कृति का सौन्दर्य मंगल की धाराओं में प्रवाहित होता है। लोक-जीवन की रागिनी में इसी सम की लय है। यही सम जीवन के नृत्य की गति है। यही समात्मभाव हमारे लोक-पर्वों को आनन्द के उत्सव बनाता है।

लोक-पर्वों के इस समात्मभाव में व्यक्तित्व और सामाजिकता अथवा व्यष्टि और समष्टि अद्भुत का संगम है। व्यक्ति को एक कठोर इकाई मानकर समाज की कल्पना असंगत हो जाती है। कठोर इकाइयों के समूह से समाज का निर्माण नहीं होता। यदि सामाजिक भाव और सम्बन्ध व्यक्तित्व के स्वरूप का अंग नहीं होता, तो समाज निरपेक्ष इकाइयों

का समूह बन जाता है। उसके संगठन के बाह्य रूप में कोई आन्तरिक सूत्र नहीं होता। ऐसे समाज को मानवीय सम्बन्धों की व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर जिस समाज की व्यवस्था में व्यक्ति का कोई मूल नहीं और उसको कोई स्वतंत्रता नहीं; वह समाज एक निरपेक्ष समष्टि है, जिसमें मानवीयता की आत्मा स्पन्दित नहीं होती। जिस समष्टि की वेदी पर सरलता से मनुष्य की बलि दी जा सकती है, वह समष्टि एक नृशंस देवता है, जिसकी उपासना से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। वस्तुतः ऐसी नृशंस समष्टि का कहीं भी अस्तित्व नहीं है। कोई भी साक्षात् समष्टि ऐसा निरपेक्ष रूप ग्रहण नहीं कर सकती। वस्तुतः एक दो सत्ताधारी व्यक्तियों की व्यक्तिगत धारणायें ही दूसरे व्यक्तियों के बलिदान का कारण बनती हैं। समष्टिवादी देशों की गति-विधि में इस तथ्य की यथार्थता प्रमाणित होती है। अतः इस दृष्टि से कठोर व्यक्तिवाद और समष्टिवाद दोनों व्यक्तिवाद के ही दो रूप हैं। उनमें सिद्धान्त का नहीं, वरन् शक्ति की सीमा का भेद है। इसीलिए व्यक्तिवादी और समष्टिवादी दोनों ही व्यवस्थाओं में मनुष्य की स्थिति कुछ समान है। जनतंत्रीय व्यवस्था व्यक्ति की स्वतंत्रता को महत्व देती है; दूसरी ओर समष्टिवादी व्यवस्था में व्यक्ति समष्टि के कल्याण का साधन है। इसमें सन्देह नहीं कि जनतन्त्र की व्यक्तिवादी व्यवस्था में मनुष्य का जीवन इतना आशंका पूर्ण नहीं है, जितना कि समष्टिवादी व्यवस्था में होता है। किन्तु दोनों ही व्यवस्थाओं में मनुष्य अकेला और असहाय रहता है। दोनों ही व्यवस्थाओं में व्यक्ति इकाई बनकर अकेला और असहाय हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसका जीवन नीरस बन जाता है और प्राकृतिक विलासवाद के अतिरिक्त उसके लिए और कोई मार्ग नहीं रह जाता। अतः दोनों ही व्यवस्थाओं में मनुष्य इसी मार्ग पर बढ़ रहा है। दोनों व्यवस्थाओं में केवल इतना अन्तर है कि एक में मनुष्य उदासीन अधिक है, तो दूसरे में वह अधिक आशंकित। यह स्पष्ट है कि उदासीनता की स्थिति नीरस होते हुए भी आशंकामय जीवन से अधिक स्पृहणीय है। उदासीन को एकान्त में भी अनेक आशंकायें रहती हैं। उपनिषदों के प्रजापति की भांति साधारण मनुष्य भी एकान्त में

डरता है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ समष्टिवादी व्यवस्था में मनुष्य को कुछ व्यक्तियों के अधिकार से संचालित होने वाली संगठित शासन-शक्ति से आशंका रहती है, वहाँ जनतन्त्र के उदासीन एकान्त में शासन-सत्ता की ओर से अधिक आशंका नहीं रहती। बिखरे हुए समाज में कुछ व्यक्तियों के संगठन दूसरों के लिए आन्तंक बन सकते हैं। यह भी तब होता है, जब कि व्यक्ति को महत्व देने वाली जनवादी शासन व्यवस्था व्यक्ति की सुरक्षा की ओर से उदासीन होती है। शासन व्यवस्था इस आतंक को पूर्णतः नहीं रोक सकती; फिर भी शासन के अधिक सजग होने पर यह आशंका बहुत कम हो जाती है। अस्तु व्यक्तिवादी जनतन्त्र में व्यक्तित्व के एकान्त की उदासीनता ही मनुष्य की विडम्बना है' जिसे मनुष्य प्राकृतिक विलासवाद से ही भुला सकता है, अथवा व्यक्तित्व की इकाई को न मानकर दूसरों के साथ आत्मीय भाव के आनन्द में एकान्त की उदासीनता को भंग कर सकता है। किन्तु ऐसा करने पर व्यक्तिवाद का सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा और समात्मभाव की ही पुष्टि होगी।

राजनीति और शासन के सिद्धान्तों के अतिरिक्त वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता के विस्तार ने भी मनुष्य को अकेला बनाने में ही योग दिया है। घरेलू उद्योगों में मनुष्य का कर्म इतना एकाकी नहीं था, जितना कि यांत्रिक उद्योग में हो गया है। लोग मिल जुलकर काम करते थे। इसमें समात्मभाव का आह्लाद उद्योग के श्रम का भार हल्का करता था। कर्म में कला के सौन्दर्य का भाव समन्वित होता था। यांत्रिक उद्योगों में यद्यपि सहस्रों की संख्या में लोग एक ही स्थान पर काम करते हैं। किन्तु यंत्र की निरन्तर गति कार्य में पूर्ण मनोयोग चाहती है। वह अन्य किसी भाव के लिए अवकाश नहीं देती। सहस्रों की संख्या में काम करने पर भी यांत्रिक उद्योगों में प्रत्येक मनुष्य अलग-अलग अपने स्थान पर काम करता है। उनके कर्मों में कोई मानवीय सहयोग नहीं होता। यांत्रिक योजना के कारण उनके पृथक-पृथक कर्मों से एक संयुक्त फल उत्पन्न होता है। एकाकी कर्म के कारण याँत्रिक उद्योगों का श्रम एक कठोर तप है। इस तप का उद्देश्य आत्मिक साधना नहीं, केवल शारीरिक निर्वाह है। इसीलिए इस तप से चित्त के प्रसाद

के स्थान पर मन का क्लेश उत्पन्न होता है। इस क्लेश को दूर करने के लिए ही आधुनिक सभ्यता में अनेक प्रकार के व्यसन और विलास बढ़ रहे हैं।

उद्योगों के अतिरिक्त सभ्यता की नागरिक व्यवस्था में भी व्यवसाय की प्रधानता के कारण मनुष्य का एकान्त बढ़ रहा है। नगर के घरों की भाँति ही नागरिक मनुष्य भी अलग-अलग हो गये हैं। जिस प्रकार घरों के बीच में दीवारें हैं, उसी प्रकार मनुष्यों के बीच में भी उदासीनता की दीवारें खड़ी हो गई हैं। नगरों के लोग अपने व्यवसाय में व्यस्त रहते हैं, उसे दूसरों की ओर ध्यान देने का अवकाश नही है। वह अपने जीवन और कर्म में लीन है। पड़ोसी एक दूसरे को नहीं जानते और न एक दूसरे से कोई सम्बन्ध रखते हैं। पड़ोसियों में ही नहीं एक ही घर के कई हिस्सों में रहने वालों में भी ऐसा ही सम्बन्ध है। सब अकेले-अकेले अपने-अपने जीवन और कर्म में व्यस्त रहते हैं। नगरों की जन-संख्या बढ़ रही है, किन्तु इन विशाल जन समूहों में सब एक दूसरे से अपरिचित और एक दूसरे के प्रति उदासीन हैं। विशाल जनसमूहों में रहते हुए भी नगर का मनुष्य अकेला है। अपरिचित होने के कारण उसका दूसरों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो परिचय और सम्बन्ध है भी, वे बहुत ऊपरी और कृत्रिम हैं। साधारण बात-चीत और शिष्टाचार में ही उनका अन्त है। उनके मूल में कोई आन्तरिक और आत्मीय भाव नहीं है। विशाल जन-समूह के इस एकान्त में मनुष्य प्रसन्न नहीं है। उसका हृदय आत्मीय भाव का भूखा है। किन्तु वह नागरिक सभ्यता के वातावरण से विवश है। व्यवसाय की व्यस्तता और उद्योगों की आन्तरिकता से जीवन कुछ स्वार्थमय, एकान्त और उदासीन बन गया है। प्रत्येक मनुष्य कुछ परिचितों के साथ आत्मीय भाव बनाकर नागरिक-जीवन की नीरसता को सरस बनाना चाहता है। किन्तु इसमें कठिनाई यह है कि नागरिक जीवन की व्यस्तता और उदासीनता ने लोगों को आत्मीय भाव प्रदान करने में असमर्थ बना दिया है। सभी उसे प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु दूसरों को आत्मीय भाव देने में कोई समर्थ नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि नागरिक जीवन की उदासीनता ने लोगों

को आत्मीय भाव ग्रहण करने में भी असमर्थ बना दिया है। अकेलेपन में मुरझाते हुए नागरिकों की दशा उस जर्जर रोगी की भाँति है, जो निर्बलता के कारण कुछ भी पचाने की शक्ति नहीं रखता, किन्तु बहुत सुन्दर भोजन प्राप्त करने की कामना करता है। नागरिकों की आत्मा जर्जर होकर आत्मीय भाव देने और लेने दोनों में असमर्थ है। नगरों की बड़ी आबादी अथवा नागरिक सभाओं के विशाल समूह खारी महा-सागर के समान हैं, जिसके जल से प्यास नहीं बुझ सकती है अथवा जिसका जल पीने योग्य नहीं है। इन विशाल जन-समूहों में भी मनुष्य अकेलेपन को मिटाने के लिए सभा, क्लब, उद्यान, बाजार आदि अनेक स्थलों पर भटकता है, किन्तु उसका यह भटकना मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने के समान है। वह कहीं भी अपने एकान्त का उपचार नहीं पाता। नागरिकता के इस उदासीन एकान्त में मनुष्य का जीवन भी नीरस बन रहा है। किन्तु मन में असन्तुष्ट होते हुए भी मनुष्य सभ्यता की गति-विधि से विवश है।

मनुष्य-विज्ञानों में मनुष्य को सामाजिक प्राणी बताया जाता है। सामाजिकता का अर्थ यही है कि मनुष्य का जीवन उसके व्यक्तित्व की इकाई में ही पूर्ण नहीं है। जीवन की पूर्णता के लिए दूसरे मनुष्यों के साथ उसका आन्तरिक और आत्मीय सम्बन्ध अपेक्षित है। इस सामाजिकता को केवल व्यक्ति का समाज पर निर्भर समझना उचित नहीं है। सामाजिकता का अर्थ केवल इतना ही नहीं है, कि मनुष्य समाज में रहता है अथवा मनुष्यों के जीवन परोक्ष रूप से एक दूसरे पर निर्भर हैं। ये दोनों बातें भी सत्य हैं, किन्तु ये ही सामाजिकता का सम्पूर्ण अर्थ नहीं हैं। सामाजिकता का मर्म मनुष्य के आन्तरिक और आत्मीय सम्बन्धों में है। मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक है। उसका जन्म और पालन ही सामाजिक परिवेश में होता है। अकेला होने पर उसे आनन्द नहीं आता। उपनिषदों के प्रजापति की भाँति वह अनेकता के एकात्मभाव में ही आनन्द खोजता है। अकेला होने पर वह उदासीन और खिन्न रहता है। अपरिचित लोगों में भी उसे अकेले की अपेक्षा अधिक अच्छा लगता है। इसीलिए वह घर में अकेला होने पर खिड़की से राहगीरों

को देखता है। एकाकी को अपरिचित नगर के उस बाजार में घूमना भी अच्छा लगता है, जिसमें उसका न कोई परिचित है और न किसी के साथ उसका सम्पर्क है। एकान्त की अपेक्षा अपरिचित समूह में उसे अधिक सन्तोष मिलता है। किन्तु इसमें उसे प्रसन्नता नहीं मिलती। दूसरों के साथ निकट सम्पर्क में जो आत्मीय भाव स्थापित होता है, उसी में मानवीय आनन्द का मर्म है। जब दो मन समान विचार से आलोकित होते हैं, जब दो मन समान भाव से स्पन्दित होते हैं, जब दो जीवन समान लक्ष्य की ओर अभिमुख होते हैं, तब दो आत्माओं का समभाव स्थापित होता है और उसमें आनन्द उदित होता है।

किन्तु यह साक्षात् सम्पर्क और आत्मीय सम्बन्ध में ही सम्भव हो सकता है। परोक्ष सम्बन्ध में कोई भाव उत्पन्न नहीं होता, चाहे परस्पर सम्बन्ध की स्थिति उसमें अन्तर्निहित रहती हो। सभ्यता में हमारा जीवन एक दूसरे पर अधिक निर्भर बन गया है। हम जितनी वस्तुओं का उपयोग करते हैं, उनके पीछे कितने लोगों के उद्योगों के अनुबन्धन हैं। किन्तु इन लोगों के साथ हमारा कोई साक्षात् सम्पर्क नहीं होता। इसीलिए सम्बन्ध के इस अन्तर्भाव का आर्थिक व्यवस्था में जो कुछ भी स्थान हो, इसका सामाजिक मूल्य कम है। समाज समूह से नहीं बनता। साक्षात् सम्बन्धों में ही सामाजिकता का मर्म प्रकट होता है। यह छोटे समूहों के अन्तर्गत ही हो सकता है। विशाल समूहों में सम्पर्क कठिन होते हैं। अन्ततः मनुष्य का साक्षात् सम्पर्क थोड़े ही मनुष्यों के साथ हो सकता है। यह जीवन की एक व्यावहारिक सीमा है। इतना अवश्य है कि विशाल समूहों की भूमिका में ये सीमित सम्पर्क सम्पन्न होते हैं, किन्तु इन सीमित सम्पर्कों के बिना अपरिचित समूहों के सागर में अकेला मनुष्य अपने को एक उदासीन स्थिति में पाता है। उसकी दशा समुद्र में बिना पतवार की नौका के समान होती है। वह निरीह भाव से जीवन तरंगों पर बहता जाता है। उसका कोई अपना लक्ष्य उसकी गति को सार्थक नहीं बनाता। परोक्ष सम्बन्धों की स्थिति भी उदासीन होती है। इसी प्रकार विश्व-बन्धुत्व, लोक-संग्रह, कर्त्तव्य आदि के सार्वभौम सिद्धान्त भी फलतः उदासीन हैं। सिद्धान्त रूप से सत्य होते

हुए भी समस्त जीवन की व्यापक परिधि में इन सिद्धान्तों के व्यवहार की कोई दिशा नहीं बन सकती। सार्वभौम परिधि की अनिश्चित दिशाओं की कल्पना ही कठिन है। ऐसे व्यापक लक्ष्य, भाषा और भाव में दार्शनिक दृष्टि से जितने सुन्दर प्रतीत होते हैं, व्यवहार में वे उतने ही दुर्ग्राह्य हैं। अपरिचित विशाल समूहों की भांति ऐसे व्यापक सिद्धान्त भी सामाजिक सम्बन्धों की भूमिका बन सकते हैं।

किन्तु सामाजिक वृत्ति का वास्तविक आनन्द निकट और साक्षात् सम्पर्क की आत्मीयता में है। छोटी परिधि में ही ये सम्पर्क सम्भव होते हैं। छोटी परिधि के अन्तर्गत कुछ मनुष्यों के आत्मीय सम्बन्ध आन्तरिक आह्लाद के पर्व बनते हैं। इन सीमित सम्बन्धों में व्यक्ति और समाज अथवा व्यष्टि और समष्टि के सत्यों का एक सुन्दर रूप में समन्वय है। इन दोनों में कोई भी एक अकेला सत्य नहीं है और न एक की उपेक्षा करके दूसरे की महिमा अखण्डित रह सकती है। जिन सिद्धान्तों में इनमें किसी एक को सत्य माना जाता है, वे एकांगी और अपूर्ण हैं। समष्टि-वादी सिद्धान्त व्यक्तित्व की उपेक्षा करके समष्टि के प्रयोजन को ही नष्ट कर देता है। जिस समष्टि में व्यक्ति स्वतंत्र और निर्भय नहीं है, उस समष्टि का प्रयोजन किसके लिए है। इसका यही उत्तर हो सकता है कि वह कुछ सत्ताधारी व्यक्तियों के लिए है। ऐसा समष्टिवाद अपने सिद्धान्त का ही खंडन करता है। अन्ततः वह एक विशेष प्रकार का व्यक्तिवाद है। दूसरी ओर व्यक्तिवाद व्यक्ति के मूल्य को मानते हुए भी उसे एकाकी बनाकर उसके जीवन को नीरस और निष्फल बना देता है। व्यक्तिवाद का आधार प्रकृतिवाद है। किन्तु केवल प्रकृति में मनुष्य-जीवन पूर्ण और सफल नहीं है। प्रकृति के अंचल में आत्मा का भाव प्रकाशित होकर जीवन को दिव्य और सुन्दर बनाता है। समात्मभाव जीवन का सम्पूर्ण सत्य है। इसमें जीवन का श्रेय और सौन्दर्य भी समाहित है। इसमें व्यक्ति और समाज अथवा व्यष्टि और समष्टि दोनों के सत्यों का समुचित समन्वय है। समष्टिवाद की भांति इसमें व्यक्ति की महिमा विलीन नहीं होती और न व्यक्तिवाद की भांति प्राकृतिक इकाई जीवन की पूर्णता है। जीवन की पूर्णता का आनन्द तभी प्रकाशित होता है, जब प्राकृतिक

व्यक्तित्व की अनिश्चित इकाई के आश्रय में अनेक इकाइयों के विचार-भाव और लक्ष्य की समता के द्वारा समात्मभाव उत्पन्न होता है। व्यक्तित्व के रहते हुए भी समात्मभाव में व्यक्तित्व के अहंकार का आग्रह नहीं होता। दूसरी ओर अनेक इकाइयों की समष्टि व्यक्तित्व के गौरव को नगण्य नहीं बनाती। यह एक ऐसा अद्‌भुत भाव है, जो व्यक्ति के आश्रय और व्यक्तित्व के पूर्ण गौरव में ही सम्पन्न होता है। दूसरी ओर व्यक्तित्वों की अनेकता इसके लिए आवश्यक है। इस अनेकता में विचार, भाव, लक्ष्य, क्रिया आदि की समता में ही यह भाव उदित होता है। यह समता उन इकाइयों को एक ऐसी समष्टि का रूप देती है, जो न व्यक्तित्वों से ऊपर कोई पृथक सत्ता है और न व्यक्तित्वों को निगल जाती है। समता के इस अद्‌भुत भाव में ही आत्मा का आनन्द स्फुरित होता है। यही जीवन के रस का अक्षय स्रोत है।

इसी साक्षात् सम्पर्क और समात्मभाव में भारतीय पर्वों के दिव्य आनन्द का रहस्य है। सामाजिक होते हुए भी इन पर्वों की सामाजिकता ऐसी समष्टि नहीं है, जिसमें व्यक्ति का गौरव विलीन हो जाए। पर्व के अवसर पर समस्त समाज नव-जीवन के ज्वार से आन्दोलित सागर के समान एक सामूहिक चेतना से तरंगित हो उठता है। किन्तु समाज की इस समष्टि में व्यक्तियों का गौरव विलीन नहीं होता, वरन् यों कहना चाहिए कि व्यक्तियों के गौरव के उत्कर्ष में ही समाज की महिमा साकार होती है। दूसरी ओर व्यक्तियों की महिमा का उत्कर्ष अहंकार की उग्रता से आत्मघाती नहीं बनता। अहंकार व्यक्तित्व की प्रकृति का चरम उत्कर्ष है। किन्तु समात्मभाव में उसका विस्तार संस्कृति का पथ-प्रशस्त करता है। समान भाव और समान लक्ष्यों की संगति में व्यक्तियों का एक अद्‌भुत सामंजस्य स्थापित होता है, जिसमें समष्टि की व्यापक भूमिका में सभी व्यक्तियों की महिमा आनन्द के उत्कर्ष में फलित होती है। पर्वों की व्यवस्था में यह समात्मभाव एक अद्‌भुत चमत्कार के साथ सम्पन्न होता है। संस्कृति के पर्व हमारे सामाजिक उत्सव हैं। समस्त समाज में वे व्यापक रूप में मनाए जाते हैं। पर्वों के अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी सीमित व्यक्तिगत चेतना की कन्दरा से निकलकर एक व्यापक

सामाजिक चेतना से आन्दोलित हो उठता है। प्रत्येक व्यक्ति को अनुभव होता है कि उसके प्राकृतिक और व्यक्तिगत जीवन के बाहर एक अधिक सम्पन्न और समृद्ध सांस्कृतिक जीवन है। इस जीवन के प्रति सजग हो कर वह इसमें भाग लेने को उत्सुक होता है। किन्तु सामाजिक जीवन की ये तरंगें उसके व्यक्तित्व की तरी को डुबा नहीं देती। वे उसके व्यक्तित्व के दीपों को नवीन भाव-विभूति के मूँगा मोतियों से अलंकृत करके उसे और अधिक सुन्दर तथा सम्पन्न बना देती हैं। व्यक्तित्व की यह समृद्धि अनेक व्यक्तियों के समात्मभाव में इसी प्रकार और अधिक बढ़ती है, जिस प्रकार निकटवर्ती द्वीप समूह परस्पर सम्पर्क के द्वारा अधिक सम्पन्न जीवन से जगमगाते हैं।

संस्कृति के पर्वों के अवसर पर व्यक्तित्व के वैभव और समाज के सौन्दर्य की यह समृद्धि, स्वतंत्रता, सक्रियता, साक्षात् सम्पर्क, आत्मीय भाव आदि के द्वारा एक अत्यन्त सहज रूप में होती है। जो समात्मभाव कला के सौन्दर्य का सूत्र है, उसी में पर्वों की योजना के पुष्प भी गुम्फित होते हैं। प्रतिदिन नवीन उत्सव के प्रभात में पर्वों के नवीन पुष्प खिलते हैं और अपने सौन्दर्य और सौरभ से लोक-जीवन को आह्लादमय बनाते हैं। भारतीय पर्वों में कला के सौन्दर्य और जीवन के उल्लास का अपूर्व संगम है। कला और जीवन के समन्वय के कारण पर्व जीवन के सुन्दरतम रूप हैं। कविता की भाषा में हम इन्हें जीवन का काव्य कह सकते हैं। साधारण लोक-पर्व जीवन के गीति-काव्य की मालाएँ हैं। अधिक विशाल और महान् पर्वों को जीवन के महाकाव्य कह सकते हैं। ये पर्व ऐसे शास्त्रीय महाकाव्य नहीं हैं, जिनमें नियमों और अलंकारों की कृत्रिमता में कला का सहज सौन्दर्य मन्द हो जाता है। ये वाल्मीकि-रामायण के समान निसर्ग सौन्दर्य और सहज गति की विपुल विभूति से युक्त जीवन के उल्लास के सहज प्रवाह हैं। इनमें छोटे समूहों के बीच समात्मभाव में व्यक्ति की महिमा और समाज के गौरव का सहज समन्वय है। इनमें न व्यक्तिवाद के समान व्यक्ति एक अलग और उदासीन इकाई बन जाता है और न वह समष्टिवाद की तरह एक अनिश्चित और अनन्त समष्टि में विलीन हो जाता है। व्यक्तिवाद जीवन का प्राकृतिक सिद्धान्त है।

प्राकृतिक दृष्टि से ही मनुष्य को एक इकाई समझा जा सकता है। निर्वैयक्तिक सामान्यवाद में इस प्राकृतिक इकाई का अस्तित्व ही विलीन हो जाता है। पर्वों के सीमित समूहों के समात्मभाव में व्यक्ति और समाज दोनों का सामंजस्य है। इस सामंजस्य में ही संस्कृति का बीज है। संस्कृति न केवल प्राकृतिक व्यक्तिवाद में सम्भव है और न निर्वैयक्तिक समष्टिवाद में उसकी सम्भावना रहती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के आधार पर व्यक्तियों के समात्मभाव में संस्कृति का सौन्दर्य उदित होता है। इस दृष्टि से इन पर्वों में प्रकृति और संस्कृति का भी समन्वय है। प्राकृतिक व्यक्तित्व के अनिश्चित आश्रय में प्रतिष्ठित होकर समात्मभाव का सौन्दर्य संस्कृति को एक भव्य रूप देता है। नव-नव पर्वों में यह सौन्दर्य नव-नव रूपों मे निखरता है।

स्वतन्त्रता और सक्रियता के आधार पर सांस्कृतिक पर्वों में सृजनात्मक सौन्दर्य और उल्लास के स्रोत प्रवाहित होते हैं। पर्वों के अवसर पर साधारण जीवन के पर्वों में ही एक नवीन कृतित्व का सौन्दर्य उदित होता है। कुछ विशेष कर्मों और उपकरणों के योग से इन साधारण कर्मों में साधारण सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। सक्रियता पर्वों के सांस्कृतिक सौन्दर्य को सजीव बनाती है। पुराने सम्बन्धों की असाधारण भूमिकायें पुराने भावो में नवीन स्फूर्ति जागरित करती हैं। स्त्रियों के नीरस गृह-चक्र में ये पर्व कुछ उल्लास के वातायन खोलते हैं। बालको के लिए ये उत्सव के अवसर बन जाते हैं। गृह-गृह से उमड़कर उत्सव और उल्लास के स्रोत ग्राम, नगर और समाज मे हर्ष का पारावार प्रवाहित करते हैं। समात्मभाव का विस्तार जीवन के सागर को वेला का स्पर्श करने वाले ज्वारों से आन्दोलित करता है। प्रकृति और उपकरणों का परिग्रहण पर्वों के दिव्य सौन्दर्य को यथार्थता का आधार और वास्तविकता की गम्भीरता प्रदान करता है। भाव का विस्तार और उसकी गहनता दोनों ही जीवन के रस को परिपूर्ण बनाते हैं। समात्मभाव के रूप में पर्वों में कला के मूल तत्व का ही समवाय नहीं है, वरन् कला के स्फुट रूपों का भी समन्वय है। नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि सभी का इन कर्मों में सम्पुट रहता है। इनके योग से सांस्कृतिक पर्व

जीवन में कलाओं के संगम के तीर्थ बनते हैं। पर्वों में कलाओं का समन्वय लोक-कला के धरातल पर है। लोक-कलाओं में सौन्दर्य का प्रदर्शन नहीं, वरन् उसका सृजन है। प्रदर्शन में प्रदर्शक और दर्शक का भेद निहित है। भेद से विषमता उत्पन्न होती है। विषमता में जीवन का मौलिक सौन्दर्य खण्डित हो जाता है। पर्वों में जीवन और कला के सामंजस्य की भूमिका में कला के सौन्दर्य का सृजन होता है। सौन्दर्य का यह सृजन अनेक आत्मीय बन्धुओं के स्वतन्त्र सहयोग और समात्मभाव का फल है। सौन्दर्य के इस सृजन में सभी समभाव से भाग लेते हैं। कला के अनेक रूपों और जीवन के अनेक उपकरणों में समाहित होकर यह सौन्दर्य समस्त जीवन को अपनी विभूति से अंचित करता है। ये सांस्कृतिक पर्व इस दृष्टि से कला के सर्वोत्तम और सजीवतम रूप हैं। बालकों, माताओं, आचार्यों, बन्धुओं आदि से लेकर देवी-देवताओं तक का समादर इन पर्वों के अवसर पर होता है। वात्सल्य, प्रेम, श्रद्धा और भक्ति के भाव मिलकर इन पर्वों को मधुर और दिव्य बनाते हैं। इनके आन्तरिक आनन्द, सामाजिक उल्लास और बाह्य सौन्दर्य में आत्मा, हृदय और जगत् तीनों की संगति जीवन के सौन्दर्य को पूर्ण रूप देती है। आन्तरिक आनन्द में शिव का आत्म-विमर्श और सृजनात्मक सौन्दर्य में शक्ति का कला-विकास है। उल्लास और कर्म के इस सामंजस्य में शिव और शक्ति की समरसता जीवन में साकार होती है। इस समरसता में अनुष्ठित होने वाले पर्व जीवन और सौन्दर्य के महान् उत्सव हैं। इन पर्वों की परम्परा में भारतीय जीवन सौन्दर्य की अखण्ड स्रोतस्विनी बन जाता है। जीवन का प्रतिदिन इस तरंगिणी के तट पर नव-नव उत्सवों का अमृत-तीर्थ है।

काल एक प्राकृतिक गति है। प्रकृति एक स्वतः प्रवर्तमान व्यवस्था है जिसकी गति में मनुष्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता। काल की गति भी निरन्तर और अनिवार्य है। मनुष्य न उसे रोक सकता है और न उसका क्रम बदल सकता है। काल के प्रवाह में एक क्षण को भी मनुष्य आगे-पीछे नहीं कर सकता। काल की यह अ-निवार्य गति मनुष्य जीवन की सबसे कठोर सीमा है। यदि मनुष्य काल की गति को बदल सकता तो

जीवन की भूलों का संशोधन और दुःखों का निवारण भी सम्भव हो तो यदि वह काल की गति को रोक सकता तो वह सदा युवा और अमर बना रहकर पृथ्वी को स्वर्ग बना लेता। किन्तु काल की गति अ-निवार्य है और काल ही जीवन है। काल जीवन का सूत्र और जीवन की अवधि है। पल, दिवस, मास और वर्ष इसी काल-सूत्र पर गुम्फित जीवन की माला के दाने अथवा पुष्प हैं। जीवन की माला के इन्हीं मनकों को गिनते हमारा जीवन बीतता है। काल जीवन की अवधि है। काल ही जीवन का अन्त भी है। इसीलिए 'काल' शब्द 'मृत्यु' का पर्याय बना।

प्राकृतिक होने के कारण काल की गति अनिवार्य है। प्रकृति का दूसरा लक्षण एकरूपता है। अन्य क्षेत्रों में यह एकरूपता सामान्य नियमों के रूप में दिखाई देती है। किन्तु काल प्रकृति का साक्षात् स्वरूप ही है। काल में यह एकरूपता स्वरूपगत है। काल का प्रत्येक क्षण स्वरूपतः अन्य क्षणों के समान होता है। पूर्वापर क्रम के अतिरिक्त उनमें कोई अन्तर नहीं होता। यह क्रम भी कदाचित् हमारे अनुभव में स्फुरित होता है। जीवन के अनुभव, उपकरण, कर्म, सम्बन्ध आदि ही काल के इन समान क्षणों को विशेष और विभिन्न रूप देते हैं। काल के क्षण एक ही आकार के खाली पात्रों के समान हैं जिन्हें हम विभिन्न प्रकार के द्रवों से भरते हैं। अपने आप में काल के ये क्षण शून्य होते हैं। जब हम इनको किसी कर्म, भाव आदि से नहीं भर पाते तब हमें इन्हें इनकी शून्यता अखरती और असह्य होती है।

काल-क्षणों की अनिवार्यता जीवन की विवशता बन कर अनेक वेदनाओं को जन्म देती है। काल के क्षणों की शून्यता और उनसे उत्पन्न उनकी एकरूपता जीवन को नीरस बनाती है। जीवन भावों से भरकर आनन्दमय तथा विविधरूपता से अलंकृत होकर सुन्दर बनता है। एक ओर मनुष्य का जीवन कालगति की विवशता में सीमित रहता है, किन्तु दूसरी ओर मनुष्य ने जीवन को कर्म, भाव और अनेकरूपता से भर कर अपार आनन्द और असीम सौन्दर्य के क्षितिज की ओर बढ़ाया है। अपने स्वरूप में काल शून्य क्षणों की एक अनिवार्य प्राकृतिक गति है। किन्तु जीवन में मनुष्य ने उसे कर्म, भाव और अनेकरूपता

के सौन्दर्य से परिपूर्ण बनाया है। प्रकृति मनुष्य की पराधीनता है। किन्तु भाव, कर्म आदि मनुष्य की स्वाधीन कृति हैं। मनुष्य की इस कृति को साम्यपूर्ण होने पर 'संस्कृति' कहा जा सकता है। इसी संस्कृति में जीवन सार्थक, सफल और सुन्दर बनता है। यही संस्कृति मनुष्य का मानवीय जीवन है जो काल के प्राकृतिक प्रवाह में संस्कृति का स्वर्ग रचता है।

भारतीय विक्रम वर्ष काल के प्राकृतिक पटल पर संस्कृति के अमृत और अकाल स्वर्ग की रचना का सर्वोत्तम उदाहरण है। विक्रम वर्ष के पूर्व के जैन और बौद्ध सम्वत् तथा बाद के ईसाई और हिजरी सन् ऐतिहासिक हैं सांस्कृतिक नहीं। इतिहास मनुष्य की कृति नहीं वरन् उसकी कालगत विवशता है। इतिहास इस विवशता की घटनाओं का लेखा है। इतिहास मौलिक रचना नहीं अनुवाद है। विक्रमेत्तर सम्वत् और सन् ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन-मरण से बँधे हुए हैं। विक्रम सम्वत् का उद्धार कदाचित् विक्रमादित्य ने किया है। किन्तु उसका आरम्भ विक्रमादित्य के जीवन अथवा मरण से नहीं होता वरन् उसका आरम्भ नवरात्र की घट-स्थापना, देवी-पूजा और बाल-पूजा से होता है। ये ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं वरन् विक्रम के पूर्व युगों से चले आने वाले धार्मिक एवं सांस्कृतिक कृत्य हैं। शक्ति-पूजा, बाल-पूजा और मातृ-पूजा जीवन के मौलिक सांस्कृतिक रहस्यों को साकार बनाने वाले पर्व हैं।

इस प्रकार आरम्भ की दृष्टि से ही जहाँ अन्य सन्-सम्वत् ऐतिहासिक होने के कारण प्राकृतिक हैं वहाँ भारतीय विक्रम वर्ष का आरम्भ ही एक महान् और रहस्यमय सांस्कृतिक पर्व से होता है। विक्रम वर्ष का यह आरम्भ किसी ऐतिहासिक घटना पर आश्रित नहीं है वरन् भारतीयों के स्वतन्त्र संकल्प से रचित एक सांस्कृतिक समारोह बन जाता है। यह विक्रम वर्ष की सांस्कृतिकता का प्रथम प्रमाण है। इसके अतिरिक्त विक्रम वर्ष के अन्य अनेक विधान उसकी सांस्कृतिकता को प्रमाणित करते हैं। ईसवी सन् की तिथि, मास आदि की व्यवस्था को नियमित होने के कारण वैज्ञानिक कहा जाता है। प्रत्येक तारीख रात के बारह बजे आरम्भ होती है। प्रत्येक मास के दिन निश्चित हैं।

फरवरी में चार वर्ष बाद नियम से एक दिन बढ़ जाता है। नियमित होने के कारण ईसवी वर्ष के अनुसार गणना में सुविधा होती है। इसके विपरीत विक्रम वर्ष की व्यवस्था अनियमित है। तिथियों का आरम्भ अनियमित रूप से होता है। मासों के दिन भी निश्चित नहीं हैं। यह अनियमितता असुविधा का कारण है।

किन्तु दूसरी ओर यही अनियमितता विक्रम वर्ष की सांस्कृतिकता का प्रमाण भी है। नियमतिता प्रकृति का लक्षण है। संस्कृति विविध रूपों की रचना है। अनेकरूपता में ही उसका सौन्दर्य है। उसमें एक-रूपता गुण नहीं वरन् दोष है। भारतीय विक्रम वर्ष के तिथि और मास यान्त्रिक रूप से नहीं गिने जा सकते। प्रत्येक तिथि और मास का आरम्भ अभिनव होता है। उसके लिए नित्य नवीन खोज करनी होती है। यही नवीनता और खोज संस्कृति का लक्षण है। तिथि के साथ योग, करण आदि भी नित्य नवीन होते हैं। प्रत्येक वर्ष अर्थात् सम्वत्सर का नाम नया होता है। वर्तमान सम्वत्सर २०२८ का नाम रक्ताक्ष है। सम्वत्सर २०२३ का नाम सिद्धार्थी सम्वत्सर था। प्रति वर्ष का यह नवीन नामकरण समय के सांस्कृतिक सौन्दर्य का एक उत्तम उदाहरण है। ऐतिहासिक और प्राकृतिक सम्वतों के मानने वाले वर्षों के नाम की कल्पना नहीं कर सकते। वे एक नियमित और प्राकृतिक क्रम का अनुसरण करते हैं। नियम सुविधाकारक है किन्तु सांस्कृतिक नहीं। संस्कृति संकल्प मूलक रचना है और असुविधाजनक है। अन्य समाज सुविधा के ग्राहक रहे हैं। भारत ही अनेक क्षेत्रों में सांस्कृतिक रचना और असुविधा का अनुरागी रहा है।

आरम्भ तथा तिथि-मास आदि के निर्णय की दृष्टि से भारतीय विक्रम वर्ष की व्यवस्था सांस्कृतिक है अर्थात् वह एकरूप नियम पर नहीं वरन् मानवीय संकल्प के नव-नव रूपों पर आश्रित है। वर्ष के अन्तर्गत प्रायः आने वाले पर्व, व्रत, उत्सव आदि भारतीय विक्रम वर्ष की अभिनव व्यवस्था को नित्य नए सांस्कृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण बनाते हैं। इन पर्वों, व्रतों और उत्सवों के सौन्दर्य का अनुक्रम वर्ष को एक मधुर रागिनी बना देता है। पर्वों की ऐसी सुन्दर व्यवस्था अन्य किसी वर्ष में नहीं

है। ईसाई और इस्लामी वर्षों में होने वाले पर्व संख्या में बहुत थोड़े हैं। वे भी ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित हैं। अतः इन वर्षों का आरम्भ और इनकी व्यवस्था के समान ही प्राकृतिक हैं। इनमें मुहर्रम के समान शोक पर्व भी हैं। विक्रम वर्ष के सभी पर्व आनन्दपूर्ण हैं। वे ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित नहीं हैं वरन् जीवन के मूल्यों पर आश्रित भारतीयों के स्वतन्त्र संकल्प की सांस्कृतिक और कलात्मक रचना है। इन पर्वों और व्रतों में संगीत के स्वरों से भी अधिक विविधता है। ये भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न रूपों में मनाए जाते हैं। इनकी विविधता वर्ष को संगीत की रागिनी से भी अधिक सुन्दर बनाती है। पर्वों और व्रतों की विपुलता तथा विविधता से पूर्ण भारतीय विक्रम वर्ष काल के शून्य और एकरूप पटल पर सांस्कृतिक जीवन के दिव्य स्वर्ग की रचना करता है। संस्कृति के इस स्वर्ग में मनुष्य का प्राकृतिक जीवन अकाल और अमृत आनन्द एवं दिव्य सौन्दर्य से परिपूर्ण होता है।

भारतीय विक्रम वर्ष की योजना में तिथियों के दैनिक निर्णय तथा पर्वों की विपुल व्यवस्था से प्रत्येक दिन एक नवीन सौन्दर्य से अलंकृत होता है। वर्ष के प्राकृतिक क्रम में सभी दिन एक प्रकार के होते हैं। दिनों की यह एकरूपता समय को नीरस बनाती है। ईसाई, इस्लामी आदि वर्षों का दिवस-क्रम पर्व-सौन्दर्य से रहित होने के कारण स्वरूपतः प्राकृतिक और नीरस है। प्राकृतिक कर्मों से तो मनुष्य अपना समय सदा भरता ही है। किन्तु सांस्कृतिक पर्वों से कालक्रम की एकरूपता में एक नया सौन्दर्य निखरता है। काल के एकरूप पटल पर ऐसे बहुरूप सौन्दर्य की रचना भारतीय वर्ष के अतिरिक्त अन्य किसी भी परम्परा में नहीं मिलती। संस्कृति मनुष्य की रचना है। वह स्वतन्त्र और आत्मिक संकल्प से प्रेरित होती है। सुन्दर रूपों की रचना में यह संकल्प फलित होता है। अन्य देशों के निवासियों का जीवन प्रकृति से अधिक शासित रहा है। अतः वे काल के प्राकृतिक पटल पर बहुरूप पर्व योजना की कल्पना नहीं कर सके। ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित अन्य देशों के अल्प संख्यक पर्व भी मूलतः प्राकृतिक हैं। केवल समारोह में वे अंशतः सांस्कृतिक बन जाते हैं। किन्तु भारतीय विक्रम

वर्ष की योजना में प्राकृतिक और ऐतिहासिक घटनाओं से आश्रय से स्वतन्त्र पूर्णतः सांस्कृतिक पर्वों की एक विपुल शृंखला मिलती है। इस पर्व शृंखला की रचना भारतीयों के स्वतन्त्र और आत्मिक संकल्प की सामर्थ्य और सम्पन्नता के द्वारा सम्भव हो सकी। सांस्कृतिक संकल्प का ऐसा समर्थ और सम्पन्न रूप अन्यत्र कहीं भी मिलना कठिन है।

विपुल सांस्कृतिक पर्वों की व्यवस्था भारतीय विक्रम वर्ष को एक प्राकृतिक काल-प्रवाह के स्थान पर एक कलात्मक एवं सांस्कृतिक रचना बना देती है। इस कला-कृति में भारतीयों की काल-विजय मर्त्य-जीवन को अमृत रूप देती है। जीवन की इस कलात्मक एवं सांस्कृतिक रचना को हम चित्रकला की रचना अथवा संगीत की रागिनी कह सकते हैं। संगीत की रागिनी में चित्र रचना की अपेक्षा सजीवता और मनुष्य का कर्तृत्व अधिक होने के कारण भारतीय विक्रम वर्ष को जीवन संगीत की रागिनी कहना अधिक उचित है। सभी कलात्मक रचनाओं में मनुष्य का स्वतन्त्र संकल्प रूपों की योजना में सौन्दर्य का समवाय करता है। सौन्दर्य रूप का अतिशय है। रूप के अतिशय की रचना मनुष्य के सांस्कृतिक संकल्प की अभिव्यक्ति है। यह रूप का अतिशय प्राकृतिक रूप की सीमा में असीम सौन्दर्य का स्फोट करता है। यही सौन्दर्य संस्कृति का प्राण और जीवन का अलंकार है। चित्रकला में प्राकृतिक रंग रचना की योजना में रूप का अतिशय उत्पन्न करते हैं। विविध रंग, आकार और रेखाएँ एक समग्रता की सृष्टि करती हैं। संगीत की रागिनी में भी प्राकृतिक ध्वनियों की परिमित मात्राओं को एक विस्तार का अतिशय मिलता है। ध्वनि के समतल भूमिखंडों पर मानो स्वर के सुमन खिलकर एक रागमालिका की रचना करते हैं। संगीत की राग रचना भी काल पर आश्रित है, अतः विक्रम वर्ष की पर्व योजना संगीत की रागिनी के अधिक अनुरूप है।

प्राकृतिक दृष्टि से एक ओर काल एक अखंड प्रवाह है तथा दूसरी ओर वह एक रूप क्षणों अथवा काल खंडों की अनन्त परम्परा है। काल के अखंड प्रवाह में बुद्धि व्यावहारिक खंडों की स्थापना करती है, जिस प्रकार वह शब्द की ध्वनियों का विधान कर भाषा का सृजन करती है।

काल और ध्वनि का यह विभाजन उपयोगी है किन्तु आनन्द-दायक नहीं। ध्वनि में संगीत के स्वरों का अतिशय उत्पन्न होने पर ही मधुर रागिनी की रचना होती है। स्वर स्वयं ध्वनि के अतिशयपूर्ण रूप हैं। उनके सन्तान और समवाय से संगीत की रागिनी का समग्र अतिशय उत्पन्न होता है। समग्र रागिनी के अंग बनकर स्वरों की सीमित ध्वनियाँ असीम वैभव प्राप्त करती हैं।

इसी प्रकार भारतीय विक्रम वर्ष में काल के एक रूप खंड (दिवस) पर्वों, उत्सवों आदि के अतिशय से युक्त होकर जीवन की सौन्दर्य-रागिनी की रचना करते हैं। काल के सीमित खंडों में संगीत के स्वरों की भाँति एक अतिशय उत्पन्न होता है जो सम्पूर्ण वर्ष को एक समग्र रागिनी का रूप देता है। वर्ष की इस रागिनी में संगीत की रागिनी के सौन्दर्य के सभी पक्ष मिलते हैं। संगीत की रागिनी के समान ही वर्ष की यह रागिनी एक समग्र विधान है। यह संगीत की रागिनी के समान ही कलात्मक रचना है। संगीत की रागिनी में प्राकृतिक आधार अधिक है। सभी देशों और समाजों में वह किसी न किसी रूप में मिलती है। किन्तु वर्ष की रागिनी भारत के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलती। वह प्राकृतिक अभिव्यक्ति की अपेक्षा सांस्कृतिक रचना अधिक है। वर्ष को यह रचनात्मक सांस्कृतिक वैभव भारत वर्ष में ही विशेष रूप से मिल सका है।

रचनात्मक होने के कारण संगीत की रागिनी का एक समग्र रूप होता है। कलात्मक रूप एक समग्र रचना है। खंड-खंड कर देखने से उस समग्र रूप का सौन्दर्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। समग्रता में ही उसका सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है। प्राकृतिक दृष्टि से वस्तुतः वर्ष एक समग्र रूप और अखण्ड प्रवाह है। खंडों में उसका विभाजन बौद्धिक और व्यावहारिक है। विक्रम वर्ष के रूप में अतिशय से युक्त होने पर ये खंड एक समग्र रूप की रचना करते हैं। वर्ष की प्राकृतिक समग्रता में समन्वित होकर वर्ष का समग्र सौन्दर्य सहज और सम्पन्न बन जाता है। संगीत की रागिनी से भी अधिक कर्तृत्व वर्ष की रागिनी में मिलता है। वर्ष के पर्वों की परम्परा का आरम्भ ही प्राचीन भारतीयों

के रचनात्मक सांस्कृतिक सृजन से हुआ है। प्रतिवर्ष भारतीय जीवन की परम्परा में जन-जन प्रतिदिन इस जीवन रागिनी की नव-नव रचना करता है। इस प्रकार प्रतिदिन एक नवीन रचना बनकर यह जीवन की रागिनी एक सामूहिक गायन बन जाती है। अभिजात संगीत की रागिनी की अपेक्षा यह लोक रागिनी के अधिक निकट है, जिसमें गायक और श्रोता अलग-अलग नहीं होते वरन् सभी जन गायक बनकर कलात्मक रचना में भाग लेते हैं। इस दृष्टि से वर्ष की रागिनी केवल कलात्मक रचना नहीं है वरन् एक सांस्कृतिक रचना है, जो सम्पूर्ण लोक-चेतना में उदित होती है।

संगीत की रागिनी की रचना विविध स्वरों से होती है। स्वरों के अनेक भेद है। विविध स्वरों के विविध क्रम और योग विभिन्न रागिनियों को जन्म देते है। स्वरों की विविधता तथा उनके प्रवाह की लय ही संगीत के सौन्दर्य का रहस्य है। स्वरों के आरोह-अवरोह और विविध रूप संयोजन से संगीत का स्वर साकार होता है। वर्ष की रागिनी की रचना भी स्वरों के समान अनेक रूप पर्वों, व्रतों, उत्सवों आदि से होती है। यह रचनात्मक विविध-रूपता काल के एक रूप प्रवाह और काल-खडों की प्राकृतिक एकरूपता के उदासीन क्रम में सौन्दर्य का विधान और रस का संचार करती है। ऋतुओं की विविधता वर्ष की रागिनी को संगीत के स्वरो के समान एक प्राकृतिक आधार प्रदान करती है। स्वरों के विविध रूप सन्धान की भांति विभिन्न ऋतुओं के विभिन्न पर्व अपने अभिनव सौन्दर्य से वर्ष की रागिनी को सम्पन्न बनाते हैं। अवसर, प्रयोजन, विधि, सम्बन्ध, उपकरण आदि अनेक प्रकार की विविधता इन पर्वो, व्रतो और उत्सवो को एक अभिनव सौन्दर्य प्रदान करती है। आत्मा का उल्लास इन विविध पर्वों में नव-नव रूपों में प्रकट होता है। एक-एक पर्व को भी हम एक-एक राग मान सकते हैं। क्षणों के स्वर अपने कलात्मक सौन्दर्य से इस राग की रचना करते है। इन रागों के क्रम से सम्पूर्ण वर्ष एक महाराग बन जाता है। वर्ष का यह महाराग महाकाल के लास्य के समान है जो काल-सीमित जीवन को अकाल सौन्दर्य और अमृत आनन्द से पूर्ण कर मंगलमय बनाता है।

शिव की साधना भूमि भारत को ही इस जीवन के इस महाराग की रचना का विशेष सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

अनेक पर्वो, उत्सवों, व्रतों आदि के उतार-चढ़ाव के हर्ष-उल्लास से भारतीय वर्ष की समय-रागिनी का निर्माण हुआ है। वर्ष की इस रागिनी के विधान में ऋतु, अवसर, प्रयोजन, विधि, सम्वन्ध, उपकरण आदि अनेक तत्वों का योग है। इनकी विविधता इस रागिनी को रूप और सौन्दर्य प्रदान करती है। वर्ष की रागिनी की सम्पन्नता जीवन को सम्पन्न बनाती है अथवा वह जीवन की सम्पन्नता का मुखर संगीत है। वर्ष की इस रागिनी की लय से जीवन की प्राकृतिक एकरूपता तथा काल के प्राकृतिक क्रम की एकरूपता की नीरसता जीवन के कलात्मक आनन्द में परिणत हो जाती है।

कला और संस्कृति मनुष्य के आत्मिक अध्यवसाय हैं, किन्तु जीवन की प्राकृतिक भूमिका में ही ये सफल होते हैं। प्रकृति के समवाय से रहित एकांगी अध्यात्म असफल हो जाता है। भारतीय विक्रम वर्ष की समय-रागिनी प्राकृतिक जीवन की सुदृढ़ और सुन्दर भूमिका में रची गई है। भारतवर्ष में कृषि की प्रधानता रही है। भारतवर्ष संसार का सर्वाधिक अन्नाहारी देश है। प्राचीन काल में संसार के अन्य किसी भी विशाल अन्नोत्पादक भूखंड में संस्कृति का विकास नहीं हुआ था। कृषि का सम्बन्ध ऋतुओं से है। ऋतुओं के अनुसार ही खेती होती है। खेती में मुख्य कार्य जोतने और बोने के समय होता है। शेष समय में खेत की रखवाली का काम रहता है। उसमें बहुत अवकाश रहता है। किन्तु खेती काटने के वाद अन्न समेट कर किसान निश्चिन्त और प्रसन्न होता है। खेती पककर तैयार होती है उस समय भी किसान का हृदय सफलता और समृद्धि के उल्लास से उमड़ता है।

भारतीय विक्रम वर्ष की समय रागिनी की लय को रचने वाला स्वर-क्रम कृषकों की हृदय-रागिनी के अनुरूप रखा गया है। वर्ष में आरम्भ की नवरात्र पूजा तथा मातृपूजा, वाल-वन्दना गेहूँ (तथा जौ और चना) की मुख्य फसल के समय सम्पन्न होती है। नवरात्र का समय खेती काटने का नहीं होता किन्तु खेती पककर तैयार होती है। अतः उसकी

उपेक्षा का भी समय नहीं है। नवरात्र की साधना एक ऐसा पर्व है जो जीवन में नई शान्ति, नई निष्ठा, नई स्फूर्ति भरता है। साथ ही इतना उल्लासपूर्ण उत्सव नहीं है कि वह तैयार खेती की उपेक्षा का कारण बन सके। साधना भारतीय जीवन का आधारपीठ है। उसी से वर्ष का आरम्भ होता है। बालकों के लिए यह साधना आधार और आनन्द का अवसर बनती है। रामनवमी का ऐतिहासिक उत्सव इस अवसर को सबके लिए आनन्दमय बना देता है।

नवरात्र के बाद वैशाख पूर्णिमा तथा जेठ दशहरा के गंगास्नान तक कोई मुख्य पर्व नहीं आता। इस बीच में खेती कट जाती है। खलिहान भर जाते हैं। किसान अपनी पसीने की कमाई पर फूल उठता है। फसल काटने के परिश्रम के बाद गंगास्नान का पुण्य उसे दिव्य आनन्द प्रदान करता है। स्त्रियों के लिए इसी बीच वट सावित्री का व्रत आकर उनके जीवन को सौभाग्य की गरिमा और सुन्दरता से भरता है। गंगास्नान को छोड़कर वर्ष के आरम्भ के ग्रीष्मकाल के ये पर्व दीपावली, होली आदि के समान अधिक व्यस्त सामाजिक उल्लास के रूप में नहीं होते। फसल काटने का समय और ग्रीष्म की ऋतु इसके अनुकूल भी नहीं होती। भारतीय जीवन और पर्वों में भोजन का विशेष महत्त्व है। कला और संस्कृति के धरातल पर भोजन का इतना उत्सव अन्य किसी देश की परम्परा में नहीं मिलता। ग्रीष्म का यह काल भोजन के वैभव के अनुकूल नहीं होता।

वर्षा का आरम्भ होते ही ऋतु बदल जाती है। ग्रीष्म की ज्वालाएँ शान्त हो जाती हैं। आकाश में मेघ मँडराते हैं और मोर शोर करते हैं। धरती की सौंधी सुगन्ध किसान की बाहुओं को आमन्त्रित करती है। वह अपना हल उठाकर जोतने चल देता है। यह उत्सव का नहीं, काम का समय है। इस समय बच्चों को ही अवकाश हो सकता है, उनके लिए गुरुपूर्णिमा और गणेश चतुर्थी के विद्या-सम्बन्धी पर्व बनाए गए हैं। किन्तु बड़ों के लिए देवता सो जाते हैं। कोई धार्मिक अथवा सामाजिक कार्य इस वर्षा ऋतु में नहीं होता। खेत बोने में स्त्रियाँ भी सहयोग देती हैं। खेत बोजाने के बाद उन्हें अपने पिता के घर जाने का तथा अपने

कौमार्य के उल्लास को पुनः जागरित करने का अवसर मिलता है। रक्षाबन्धन का उत्सव स्त्रियों के इसी आत्मकल्प का पर्व है। पिता के घर मुक्तमन से झूला-झूलकर और बचपन के गीत गाकर अपने जीवन के भार को हल्का करती हैं और मन को स्फूर्तिमय बनाती हैं। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का ऐतिहासिक व्रतोत्सव रामनवमी की भाँति ही वर्षा के अवसादमय काल को उल्लास के साथ भरता है।

शरदारम्भ में नवरात्र का द्वितीय व्रत शरद और शिशिर के उत्सवों की साधनामय भूमिका बनाता है। वर्षा की फसल शरद में पककर तैयार होती है। उसे काटकर गेहूँ, जौ, चना आदि की दूसरी फसल बो दी जाती है। इस दुगने उल्लास के अवसर पर दीपापली का आलोकमय पर्व मनाया जाता है। नवरात्र के मन्द्रस्वर से विलम्बित लय में आरम्भ होकर रक्षाबन्धन की मध्यलय के द्वारा वर्ष की रागिनी दीपावली में तार की ओर भी बढ़ती है। कार्तिक के अन्य पर्व रागिनी के इस आरोह में मीडों का काम करते हैं। वसन्त और शिव-रात्रि के पर्वों में शिशिर को विदा कर लोकजीवन सफल वसन्त का स्वागत करता है। गेहूँ, जौ और चना की पकी फसल के पहिले होली के उल्लासमय पर्व में लोकजीवन की रागिनी अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है। इसके बाद एक पक्ष में वह सम पर उतर कर नए वर्ष की नई रागिनी के आरम्भ को अवसर देती है।

रक्षाबन्धन, दीपावली, होली आदि के बड़े पर्वों के बीच में आने वाले अनेक छोटे-छोटे पर्व वर्ष की रागिनी के रूप में उतार-चढ़ाव के माध्यमिक स्वर-संस्थान बनाते हैं। ऋतु तथा ऋतु के अनुकूल वातावरण और फसल की बदलती हुई भूमिका वर्ष की रागिनी को रूप देती है। विधि, प्रयोजन, सम्बन्ध, उपकरण, तिथि आदि की विविधताएँ इस वर्ष की रागिनी में स्वरों के भेदों का सौन्दर्य समाहित करती हैं। प्रत्येक पर्व का रूप, प्रयोजन आदि अलग-अलग हैं। यह विविधता जीवन के सौन्दर्य को बढ़ाती है। रूप की विविधता ही सौन्दर्य का रहस्य है। वर्ष के आरम्भ में नवरात्र उपासना का प्रयोजन शक्ति की साधना है और प्रतिष्ठा है। रक्षाबन्धन का उद्देश्य स्त्री जीवन में कौमार्य की

पवित्रता और उनके उल्लास को आजीवन सुरक्षित रखना है। दीपावली लक्ष्मीपूजा का पर्व है। स्वच्छता, प्रकाश और शान्ति के वातावरण में सौन्दर्य, शील और समृद्धि की देवी की पूजा होती है। होली जीवन के उल्लास का पर्व है। रस और राग के निर्बन्ध ज्वार में जीवन के बन्धन टूट जाते हैं और जीवन का कायाकल्प हो जाता है।

सभी पर्वों की विधियाँ अलग-अलग है। पर्व की विधि जीवन का रूप बन जाती है और उसकी विविधता जीवन मे नव-नव सौन्दर्य भरती है। विभिन्न पर्वों में विशेष सामाजिक सम्बन्धों को महत्त्व मिलता है। मातृ-पूजा, बाल-वन्दना, रक्षा-बन्धन, भ्रातृद्वितीया, वटसावित्री, करक-चतुर्थी, अहोई अष्टमी, गुरुपूर्णिमा आदि मे जीवन के अनेक सम्बन्ध अपनी-अपनी महिमा मे आदर पाते है। प्रत्येक सम्बन्ध का महत्त्व और सौन्दर्य प्रतिष्ठा का अवसर पाता है। ऋतु और तिथि के अनुसार प्रत्येक पर्व के उपकरण भी अलग-अलग है। पर्वों को अलंकृत करने वाली चन्द्रकलाएँ और चन्द्र-तिथियाँ भी अपनी विभिन्नता का महत्त्व रखती है। स्वरो के संख्या-भेदो के समान ही ये विविधताएँ वर्ष की रागिनी को एक जटिल सौन्दर्य प्रदान करती है। इस जटिल सौन्दर्य से युक्त भारतीय विक्रम वर्ष अपनी सांस्कृतिक महिमा मे अनुलनीय है। अन्य परम्पराओ के वर्ष यत्र-तत्र काव्य के छींटो से अलंकृत गद्यमय चम्पू काव्य के समान है जबकि भारतीय विक्रम वर्ष अनेक पर्वों के विविध छन्दों के सौन्दर्य से अलंकृत एक सम्पूर्ण महाकाव्य है।

संगीत की रागिनी का निर्माण अनेक स्वरों से होता है। स्वरों के क्रम से रागिनी की लय बनती है। यह लय ही राग का रूप है। इसी मे संगीत का सौन्दर्य स्फुटित होता है। संगीत के स्वर अनेक है। सात मूल स्वरों के भी कोमल और तीव्र भेद से अधिक प्रकार हो जाते है। सात स्वरो के भी मन्द्र, मध्यम और तार तीन सप्तक होते है। इस प्रकार स्वरो की संख्या बहुत हो जाती है।

भारतीय विक्रम वर्ष की योजना भी संगीत की रागिनी के समान कलात्मक है। पर्व काल विस्तार को संगीत का रूप देते है। पर्वों का रूप और क्रम प्रतिदिन को एक विशेष सौन्दर्य प्रदान करके समान और

विच्छिन्न क्षणों अथवा दिनों को एक समग्र एवं कलात्मक रूप प्रदान करता है। वर्ष के अनेक पर्व, उत्सव, व्रत आदि वर्ष की रागिनी का निर्माण करने वाले स्वरों के समान हैं। वर्ष की रागिनी के इन स्वरों में भी मन्द्र, मध्यम, तार कोमल, तीव्र, षड्ज, गान्धार, पंचम आदि अनेक स्वर समाहित रहते हैं। वे अपने विशिष्ट सौन्दर्य और क्रम से वर्ष की रागिनी का निर्माण करते हैं।

वर्ष की इस रागिनी के स्वर संख्या में संगीत की रागिनी के स्वरों से भी अधिक हैं। वर्ष की इस रागिनी का आरम्भ नवरात्र की शक्ति-पूजा के मन्द्र स्वर से होता है। वर्ष की प्रथम प्रतिपदा को मंगलघाट की स्थापना होती है और नौ दिन तक देवी की अराधना की जाती है। नवरात्र की देवीपूजा शक्तिसाधना के प्रयोजन से की जाती है। प्रतिपदा के बाद तृतीया को राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि में गणगौर का पर्व बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है। गणगौर शिव-शक्ति के लौकिक रूप हैं और गणगौर की पूजा शिव-शक्ति के साम्य की प्रतीक है। नवमी को नवरात्र का समापन होता है, इसे मातृ-नवमी भी कहते हैं। माता शक्ति का सर्वोत्तम रूप है। इसलिए माता के रूप में शक्ति की पूजा की जाती है। इसी अवसर पर कन्या और लांगुरा के रूप में बालकों की पूजा होती है। बालकों का सम्मान शक्ति-पूजा को समाज की परम्परा बनाता है। चैत की इसी नवमी को राम का जन्म हुआ। राम-भक्ति की वैष्णव परम्परा ने शक्ति-पूजा की परम्परा में कुछ विक्षेप पैदा किया। किन्तु राम को वैष्णवी रक्षक शक्ति का अवतार मान लेने पर राम-नवमी और मातृनवमी की संगति सिद्ध हो जाती है। यह संगति दोनों परम्पराओं के संगम में सफल हुई है। नवरात्र के दिनों में रामचरित-मानस का नवाह्न पाठ इस संगति को प्रमाणित करता है।

वैशाख के शुक्ल पक्ष में अक्षय तृतीया एक ओर परशुरामजी की जयन्ती है तथा दूसरी ओर ग्रीष्मोचित घट, सत्तू, पंखा आदि के दान का अवसर है। परशुराम शक्ति के अवतार थे तथा ज्ञान और शक्ति के साम्य के प्रतीक थे। इस साम्य में नवरात्र की शक्तिपूजा अधिक विकसित रूप ग्रहण करती है। वैशाख की पूर्णिमा गंगास्नान का विशेष पर्व है।

पश्चिम भारत में वैशाख पूर्णिमा का पर्व अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। गेहूँ की फसल से इसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है। पश्चिम भारत में गेहूँ अधिक होता है। गेहूँ की अन्न लक्ष्मी का अनुग्रह पश्चिम भारत के निवासियों के लिए नृत्य गान और गंगास्नान का उल्लास बन जाता है।

ज्येष्ठ मास में वट-सावित्री का व्रत सावित्री के अमृत सतीत्व का स्मारक है। अपने अल्पायु पति सत्यवान को नवजीवन प्रदान करने वाली सावित्री युग-युग से नारी का आदर्श रही है। सावित्री की कथा में वट का ऐतिहासिक स्थान है किन्तु इसके अतिरिक्त भारत की उष्ण जलवायु में ग्रीष्म ऋतु में वट का अन्यथा भी बहुत महत्व है। वट सबसे अधिक छाया देने वाला वृक्ष है अतः भारत में वह पूजनीय है। अक्षय वट, वंशी वट आदि वट इतिहास में अमर हैं। ज्येष्ठ का गंगादशहरा उत्तर भारत में गंगास्नान का पर्व है। निर्जला एकादशी का व्रत उष्ण देश में जल के महत्व को प्रमाणित करता है।

निर्जला एकदशी के बाद ज्येष्ठ मास समाप्त होने लगता है और आषाढ मास का आगमन होता है। आषाढ के प्रथम दिन से ही वर्षा के मेघदूतों की प्रतीक्षा होती है। आषाढ की पूर्णिमा गुरु-पूर्णिमा कहलाती है। भारतीय विद्या की परम्परा में यह गुरु-शिष्य के उचित सम्बन्ध की स्थापना करती है। श्रावण की तीजें स्त्रियों के लिए पार्वती के आदर्श का स्मरण दिलाती हैं। रक्षाबन्धन एक ओर ब्राह्मणों के लिए उपाकर्म का पर्व है तथा दूसरी ओर स्त्रियों के लिए भाई के स्नेह और संरक्षण को सुदृढ़ बनाता है। लोक-परम्परा में श्रावण का महीना स्त्रियों को पिता के जाने तथा कौमार्य की स्वतन्त्रता तथा झूलों की गति-मय लीला के द्वारा कौमार्य की विभूति को अमर बनाने का अवसर देता हैं।

भादों में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी श्रीकृष्ण के दिव्य और पूर्ण आदर्श स्मरण दिलाती है। गणेश चतुर्थी गणेश पूजा के साथ-साथ विद्यार्थियों के लिए गुरु-पूजा का आनन्दमय प्रसाद देती है। गजानन गणेश बुद्धि और क्रिया के साम्य के प्रतीक हैं। यह साम्य मंगलकारक तथा ऋद्धि

और सिद्धि का दायक है। भादों की ऋषि पंचमी प्राचीन ऋषियों का का स्मरण दिखाती है तथा अनन्त चतुर्दशी संस्कृति की अनन्त परम्परा को एक धार्मिक व्रत का रूप देती है।

अनन्त चतुर्दशी के साथ वर्षाऋतु समाप्त हो जाती है और शरद ऋतु का आरम्भ हो जाता है। शरद और वसन्त की ऋतुएँ समशीतोष्ण होने के कारण सांस्कृतिक उल्लास के अनुरूप हैं। अतः दीपावली और होली के मुख्य पर्व इन्हीं ऋतुओं में मनाए जाते हैं। कृषि का क्रम भी इन दोनों पर्वों में अनुकूल योग देता है। ग्रीष्म और शिशिर में लोग गर्मी और सर्दी से पीड़ित रहते हैं। अतः ये ऋतुएँ उल्लास के अनुकूल नहीं होती हैं। वर्षाकाल में भी प्रायः गर्मी रहती है। कीचड़ के कारण आवागमन में असुविधा होती है। अतः देवता स्वयं शयन करके सांस्कृतिक कार्यों को बन्द कर देते हैं। ग्रीष्म और वर्षा में गंगास्नान और रक्षाबन्धन के अतिरिक्त कोई बड़े पर्व नहीं होते। इस कालविधि में कुछ व्रतों को ही पर्वों का रूप दे दिया है। गंगास्नान ग्रीष्म ऋतु के अनुकूल है। रक्षाबन्धन भी अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। सामान्यतः ग्रीष्म और वर्षा में वर्ष की रागिनी मन्द्रस्वर और मन्दगति से ही चलती कुछ पर्व मध्यम और तार स्वरों का योग देकर इस रागिनी की लय को सुन्दर बना देते हैं।

शरद के श्राद्ध पक्ष से वर्ष की इस रागिनी में कुछ गति आती है और यह मध्यम स्वरों तथा मध्यम गति में विहार करने लगती है। श्राद्ध, दशहरा, दीपावली आदि के पर्व वर्ष की रागिनी की इस प्रगति के माध्यमिक स्वर हैं। वसन्त ऋतु में होली के पर्व में यह रागिनी तार स्वर और तीव्रगति पर पहुँच जाती है। चैत्र के प्रथम पक्ष के अवरोह में यह सम पर पहुँचकर नवीन वर्ष की नई रागिनी को जन्म देती है।

वर्ष की रागिनी की शारदीय योंजना का आरम्भ श्राद्ध पक्ष से होता है। पूर्वजों के प्रति श्रद्धा से प्रेरित होने के कारण ही पितृ-पक्ष को श्राद्ध पक्ष कहते हैं। पितरों के प्रति श्रद्धा समाज की परम्परा को सुदृढ़ बनाती है। इस परम्परा में प्रत्येक मर्त्य को अमर स्थान प्राप्त करने की आशा रहती है। मर्त्य मनुष्य के लिए यह बहुत बड़ा आश्वासन है।

अन्त्येष्टि और श्राद्ध दोनों मिलकर मृत्यु को अत्यन्त सह्य वना देते हैं। मृत्यु का यह समाधान भारतीय अध्यात्म की अमृत आत्म-साधना का पूरक है।

श्राद्ध पक्ष के बाद प्रतिपदा से शारदीय नवरात्र का प्रारम्भ होता है। शारदीय नवरात्र वर्ष के मध्य में शक्ति साधना की आवृत्ति है। इस आवृत्ति का उद्देश्य शक्ति साधना को दृढ़ बनाना है। सामान्यत: शक्ति साधना मनुष्य का नित्य धर्म है। वर्ष के तीन सौ साठ दिन मान कर हम चालीस नवरात्र मान सकते हैं। इस प्रकार वर्ष का प्रत्येक दिन शक्ति साधना का पर्व वन जाता है। प्रतिदिन विशेष पर्व के रूप में कोई भी साधना उचित नहीं हो सकती क्योंकि फिर जीवन के उन पक्षों के लिए अवसर नहीं रहेगा जो अन्य पर्वों में साकार होते हैं। वर्ष में दो नवरात्र का विधान शक्ति साधना को सुदृढ़ बनाने के लिए पर्याप्त और उचित है। स्वास्थ्य की दृष्टि से दुर्बल ऋतुओं में सम्पन्न होने के कारण नवरात्र की शक्ति साधना शारीरिक जीवन की लौकिक भूमि पर आधारित है। प्रथम नवरात्र की भाँति इस द्वितीय नवरात्र के साथ भी रामलीला, रामनवमी और दशहरा के रूप में राम की पूजा होती है।

शरद पूर्णिमा के शरद का स्पष्ट प्रवेश होता है। वर्षा से धुले हुए और निर्मेघ आकाश में छिटकने वाली चाँदनी भारतवर्ष की सुन्दर प्राकृतिक विभूति है। शरद पूर्णिमा इसी उज्ज्वल आस्वादन का पर्व है। शान्ति की अपेक्षा के कारण रसे अधिक उल्लासमय पर्व का रूप नहीं दिया गया है। चन्द्रोदय के वाद परिवार के लोग चाँदनी में बैठ कर खीर खाते हैं। चन्द्रमा अपने अमृत करों से इस खीर में अमृत का माधुर्य मिलता है।

शरद पूर्णिमा के वाद में कार्तिक मास में शरद का यौवन संस्कृति के सुन्दरतम पर्वों में सफल होता है। कन्याएँ तारों की छाया में कार्तिक स्नान करती हैं और पार्वती की पति साधना का अनुकरण करती हैं। सोलह दिन तक चलने वाला साँझी का उत्सव भी कुमारी कन्याओं का आमोदमय पर्व है। करक चतुर्थी (करवा चौथ) स्त्रियों के सौभाग्य और मातृत्व का व्रत है। वर्ष की चार चतुर्थियों में करक चतुर्थी का विशेष

महत्व है। करक चतुर्थी से दीपावली की वह पर्व-परम्परा आरम्भ हो जाती है जो अमावस्या के दीपोत्सव में पूर्ण होती है। करक चतुर्थी में स्त्रियों के सौभाग्य को प्रमुखता मिलती है। इसके बाद अहोई अष्टमी के व्रत में उनके मातृत्व और वात्सल्य की महिमा निखरती है।

दीपावली का पर्व दीपोत्सव के द्वारा लक्ष्मी पूजा का पर्व है। कमलासना लक्ष्मी शील, सौन्दर्य और समृद्धि की देवी है। स्वास्थ्य, स्वच्छता, नियम, ज्ञान, शान्ति आदि लक्ष्मी पूजा की अपेक्षित भूमिकाएं हैं। इन्हीं के द्वारा शील, सौन्दर्य और समृद्धि का सम्पादन सम्भव होता है। अमावस्या के दीपोत्सव से पूर्व धन्वन्तरि त्रयोदशी मनुष्य जाति के प्रथम वैद्य धन्वन्तरि का जन्म है। 'धन तेरस' के रूप में उसका अपभ्रंश बन गया है। किन्तु नवीन पात्र खरीदने की प्रथा आज भी शेष है। यह पात्र समुद्र-मन्थन से निकले हुये धन्वन्तरि के अमृत कलश का प्रतीक है। यह नवीन पात्र पहले घरेलू औषधि निर्माण में काम आता रहा होगा। आयुर्वेद की औषधियों का मनुष्य के स्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये औषधियाँ चिकित्सा के लिये ही नहीं वरन् स्वास्थ्य और आयुष्य के लिये भी हितकारी है।

नरक चतुर्दशी नरकासुर के निधन का दिवस है। अस्वच्छता और मलिनता ही नरकासुर के रूप हैं। दीपावली पर होने वाली सफाई-पुताई आदि इस नरकासुर के वध के उपक्रम हैं। इसी चतुर्दशी की रात को दीपोत्सव की भूमिका के रूप में घर की देहली पर एक चौमुख दीपक रखा जाता है जिसे 'यमदीप' कहते हैं। इसका यमराज अथवा मृत्यु से कोई सम्बन्ध नहीं है। यम का अर्थ नियम है। यमदीप की अपेक्षित स्थिरता और सुरक्षा, स्वास्थ्य, शील, सौन्दर्य और समृद्धि के लिये आवश्यक नियमाचार की दृढ़ता एवं उसके विघ्न निवारण की सतर्कता का संकेत करती है। कार्तिक की सघन और शान्त अमावस्या में घर-घर में जगमगाते हुये दीपक पृथ्वी पर स्वर्ग का अभिनन्दन करते हैं। प्रकाश आत्मा का प्रतीक है। आलोकित दीपक उज्ज्वल आत्मा का द्योतक हैं। दीपकों की मालाएँ आलोकित आत्माओं की मालाओं का संकेत करती है। दीपक ज्ञान का भी प्रतीक है। स्वास्थ्य, स्वच्छता, नियम, ज्ञान, शील

आदि के द्वारा आराधना करने पर जीवन की लक्ष्मी मनुष्य के आलोकित अन्तर में पदार्पण करती है। यही दीपावली के ज्योति पर्व का दिव्य सन्देश है।

दीपावली के दूसरे दिन प्रतिपदा में दीपावली के दीपक एक बार फिर जलाये जाते हैं। यह आवृत्ति दीपोत्सव की परम्परा को जीवन में नित्य आवृत्ति के द्वारा सुरक्षित रखने का संकेत करती है। इसी प्रतिपदा में गोवर्धन की पूजा होती है। गोवर्धन की पूजा गोसेवा के द्वारा स्वास्थ्य और समृद्धि के सम्वर्धन का सन्देश देती है। इसी के बाद द्वितीया में भाई बहिन का तिलक करती है। बहिन का सम्बन्ध और स्नेह भारतीय संस्कृति की अनन्य विशेषता है। रक्षाबन्धन की पूर्णिमा में पूर्ण होकर संस्कृति का यह अनुष्ठान भ्रातृ द्वितीया में आवृत्त होकर सुदृढ़ बनता है।

मार्गशीर्ष और पौष के महीनों का शिशिर अधिक कठोर होता है। अतः यह मास पर्वों के अधिक अनुकूल नहीं है। मार्गशीर्ष की एकादशी की वराह-जयन्ती तथा उस अवसर पर शूकर क्षेत्र (सोरों) आदि में होने वाले मेले इस मास के शून्य व्यवधान को अलंकृत करते हैं। पौष के कठिन शीत में घर में बनने वाले मिष्ठान और पकवान ही पर्व के प्रसाद बन जाते हैं। माघ से कुछ शीत कम हो जाता है। मकर संक्रान्ति से सूर्य उत्तरायण हो जाता है और वसन्त की भूमिका प्रारम्भ हो जाती है। भारतीय संस्कृति में सूर्य की महिमा बहुत है। गायत्री मन्त्र सूर्य का ही मन्त्र है। अतः मकर संक्रान्ति सम्पूर्ण भारत में महान-दान का पर्व माना जाता है। दक्षिणी भारत में यह पर्व 'पोंगल' के नाम से मनाया जाता है। वसन्त पंचमी से वसन्त का आरम्भ हो जाता है। प्रकृति पुष्पों से खिलने लगती है। फसल पकने लगती है। सौन्दर्य और समृद्धि में प्रकृति का यौवन उमड़ने लगता है। मनुष्य जीवन में भी उसका उल्लास प्रतिबिम्बित होता है। इसी दिन होली की स्थापना हो जाती है। युवकों की टोलियां ढोल बजाने और गीत गाने लगती हैं। वर्ष के पर्वों की रागिनी तीव्र गति से तार पर पहुँचने लगती है। होली के पर्व में उसका चरम उत्कर्ष होती है।

राग-रंग और उल्लास का यह पर्व अपनी व्यापकता, स्वच्छन्दता और सम्पन्नता में अनुपम है। अनेक विशेषताओं से युक्त वर्ष का यह अन्तिम पर्व जीवन में संस्कृति के पूर्ण समन्वय का द्योतक है। वैदिक नवान्न यज्ञ और लोकोत्सव का अद्‌भुत संगम इसमें मिलता है। प्राचीन मदनोत्सव के कुछ इसमें संस्कार शेष हैं और होली के पूर्व आने वाला शिव-रात्रि का व्रत होली के उच्छृंखल उल्लास को साधना की भूमिका प्रदान करता है तथा धूल और रंग की प्रतिपदा के बाद आने वाली भ्रातृ द्वितीया उसे मर्यादा की अर्गला देती है। होली के पर्व में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचकर वर्ष की रागिनी एक पक्ष की क्रमिक शान्ति में अवसित होकर नये वर्ष की नई रागिनी को जन्म देती है।

अध्याय—४

संस्कारों का सौन्दर्य

अध्याय ४

संस्कारों का सौन्दर्य

संस्कार भारतीय जीवन के और संस्कृति के सहज अलंकार हैं। वे भारतीय जीवन के वृक्ष को पुष्पों के समान सौन्दर्य से विभूषित करते हैं। संस्कारों की सुषमा से मनुष्य का प्राकृतिक जीवन संस्कृति के दिव्य सौन्दर्य से खिल उठता है। यदि संस्कारों को भारतीय संस्कृति का बीज कहा जाय तो अनुचित न होगा। जिस प्रकार बीज से ही वृक्ष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार संस्कारों के केन्द्र में ही सांस्कृतिक जीवन की व्यापक सम्भावनाओं की प्रेरणा निहित है। संस्कार जीवन के वे पारिवारिक और सामाजिक उत्सव हैं, जिनका केन्द्र नवजात मनुष्य है। नवजात व्यक्ति को निमित्त बनाकर उसी के कल्याण के लिये संस्कारों का विधान किया गया है। नवजात व्यक्ति को ही केन्द्र मान कर परिवार और कुल में सस्कार सम्पन्न किये जाते हैं। परिवार और कुल के अतिरिक्त समाज के अन्य लोग भी संस्कारों के समारोह में भाग लेने के लिये आमन्त्रित होते हैं। इस प्रकार नवजात मानव के उदीयमान जीवन को सांस्कृतिक विभूति से भूषित करने के लिये धार्मिक संस्कार कुल-बन्धुओं और सामाजिकों के उत्सव एवं आशीर्वाद के पर्व बन जाते हैं। नवजात मनुष्य का जन्म और वयोविकास एक ओर व्यक्ति के वर्धमान गौरव से मंडित होता है, तथा दूसरी ओर उसके निमित्त से होने वाले संस्कारों के उत्सव परिवार और समाज को सांस्कृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण बनाते हैं। इस प्रकार एक नवजात मानव के जन्म और विकास के निमित्त से सम्पन्न होने वाले संस्कार सामाजिक जीवन में सांस्कृतिक सौन्दर्य के बीज बनते हैं। प्रत्येक नवजात मनुष्य का जन्म और विकास इन संस्कारों का निमित्त बनता है। अतः संस्कारों के ये अनन्त बीज सामाजिक जीवन के क्षेत्र में सांस्कृतिक सौन्दर्य की अनन्त वनराजियों की परम्पराओं की रचना करते हैं। सांस्कृतिक सौन्दर्य की ये वनराजियां लोक जीवन की भूमि पर स्वर्ग के आनन्द का अभिनन्दन करती हैं। इन वनराजियों में लोक-जीवन में

नन्दन का नित्य वसन्त-विहार करता है। सांस्कृतिक जीवन के स्वर्गिक वसन्तों में सौन्दर्य के पुष्प अपने रस, रूप और पराग से व्यक्ति और समाज को आल्हादित करते हैं।

इस प्रकार संस्कार भारतीय संस्कृति की सौन्दर्य-साधना के बीज-मंत्र हैं। जैसा कि उनके नाम से ही विदित होता है, 'संस्कार' के पद और उनकी योजना में संस्कृति का मूल सूत्र निहित है। सामान्य अर्थ में संस्कार वह कर्म है, जिसके द्वारा दोष-निवारण और गुणाधान के द्वारा प्रकृति का शोधन और उन्नयन होता है। यही संस्कृति का मार्ग है। इस दृष्टि से 'संस्कार' संस्कृति का द्वार है। आयुर्वेद में द्रव्यों और धातुओं का संस्कार किया जाता है। इससे इनके कुछ दोषों का निवारण और उनमें कुछ गुणों का आधान होता है। संस्कार के प्रभाव से द्रव्यों और धातुओं में अपूर्व शक्ति और हितकारी गुणों का अविर्भाव होता है। यह प्रकृति के क्षेत्र में संस्कार का अर्थ और फल है। आयुर्वेद की औषधियों के संस्कार प्रकृति को स्वस्थ बनाकर मानवीय संस्कृति की स्वस्थ भूमिका का निर्माण कर सकते हैं। किन्तु धार्मिक सस्कार सस्कृति की सम्भावनाओं को अधिक स्पष्ट रूप में प्रेरित करते हैं। यद्यपि ये संस्कार प्रकृति के आधारों में ही सम्पन्न होते हैं, तथा प्रकृति का परिष्कार और उन्नयन इनका अभीष्ट लक्ष्य है, फिर भी प्राकृतिक जीवन में श्रेष्ठतम सांस्कृतिक मूल्यों का अन्वय इनका अन्तर्निहित उद्देश्यहै। अतः ये संस्कार स्पष्ट रूप से सांस्कृतिक हैं। प्रकृति का मूल लक्षण, विशेषतः जीवों में, स्वार्थ और सम्वेदना है। आहार का स्वार्थ जीवों की सत्ता का रक्षक हैं। सम्वेदना में इस स्वार्थ में कुछ चेतना उदित होती है। प्रायः तीव्र होने पर भी यह सम्वेदना व्यक्ति में सीमित और ह्रासमुखी है। स्वस्थ प्रकृति संस्कृति की आवश्यक भूमिका है। किन्तु संस्कृति का रूप मुख्यतः इस भूमिका के आधारों में निर्मित होने वाले भवनों में ही साकार होता है। प्रकृति में आश्रित होते हुए भी संस्कृति के ये रूप कई अर्थों में प्रकृति से भिन्न हैं। प्रकृति के समान व्यक्ति के स्वार्थ और एकांत में संस्कृति के रूप सम्पन्न नहीं हो सकते, यद्यपि प्रकृति के सीमित स्वार्थ से इन रूपों का कोई आवश्यक विरोध नहीं है। व्यक्ति की सत्ता और उसकी चेतना का

विस्तार जब सामाजिक जीवन में होता है, तभी संस्कृति का आरम्भ होता है। संस्कृति मनुष्य के सामाजिक जीवन की विभूति है। सामाजिक समात्मभाव के क्षितिज पर ही सांस्कृतिक सौन्दर्य की ऊषा उदित होती है। प्रकृति की भूमि जब समात्मभाव से सरस होती है, तभी उसके गर्भ से उदित होकर सांस्कृतिक सौन्दर्य के कल्प-वृक्ष फूलते और फलते हैं। संस्कृति की ऊषाओं में जीवन के कल्प-वृक्षों के पुष्प स्वर्गीय सौन्दर्य से मण्डित होते हैं और उसके वृक्ष स्वर्गीय आनन्द के रस से निर्भर होते हैं। संस्कृति की इस दिव्य सृष्टि में मनुष्य की सत्ता और उसकी चेतना दोनों का विस्तार होता है। सांस्कृतिक सौन्दर्य की रचनाओं में मनुष्य की सत्ता और उसकी चेतना दोनों का विस्तार होता है। सांस्कृतिक सौन्दर्य की रचनाओं में मनुष्य की सत्ता उसके एकान्त व्यक्तित्व तक सीमित नहीं रहती। प्राकृतिक व्यक्तित्व की सीमाओं से उठकर मनुष्य की सत्ता सामाजिक विस्तारों के उन्नत क्षितिजों का स्पर्श करती है। सांस्कृतिक भूमिकाओं में व्यक्तिगत सत्ता को अपूर्व विस्तारों की विभूति मिलती है। इन विस्तारों से व्यक्ति की सत्ता नवीन गौरव से मंडित होती है। सत्ता के विस्तार के साथ-साथ मनुष्य की चेतना का भी विस्तार होता है। वस्तुतः चेतना के विस्तारों में ही व्यक्ति की सत्ता के विस्तार सार्थक और सफल होते हैं। चेतना ही जीवन की एक समृद्धशाली विभूति है। प्रकृति की शेष सत्ता केवल यथार्थ और अवर्धनशील है। वनस्पति और जीव-जगत की रूप-सुषमा में प्राकृतिक सत्ता की कुछ समृद्धि दिखायी देती है, किन्तु वह भी व्यक्तिगत इकाई में सीमित है। जीवों की चेतना में यह व्यक्तिगत सत्ता और उसकी सीमा सचेतन हो गयी है। किन्तु सम्वेदना की यह चेतना ह्रासमुखी है। सम्वेदना के एक विन्दु का विस्तार काल के विस्तार में मन्द होता जाता है। एक विन्दु के विलय में ही दूसरे विन्दु की सम्वेदना कुछ नवीनता की कान्ति से दीप्त होती है। उसकी यह दीप्ति भी अल्पकालिक और ह्रासमुखी होती है। सम्वेदना की व्यक्तिनिष्ठता की स्वार्थमय भूमि से ऊपर उठकर अपने स्वतन्त्र रूप के विस्तारों में ही चेतना संस्कृति के समृद्धशील क्षितिजों का स्पर्श करती है। मनुष्य जीवन में प्रकृति में आश्रित होते हुए भी चेतना की सत्ता

और पूर्ण सचेतनता इसके स्वरूप का सर्वस्व नहीं है। उसका स्वरूप स्वतंत्र है। पूर्ण और स्पष्ट सचेतनता के प्रकाश मडलों के अतिरिक्त अतिचेतन, उपचेतन आदि की कितनी नीहारकाएँ इस चेतना के आकाश में अन्तर्निहित हैं। अपने स्वतन्त्र और अनन्त स्वरूप के कारण ही दर्शनों में आत्मा की संज्ञा दी गयी है। इस संज्ञा का मूल उद्देश्य प्रकृति के लक्षणों से चेतना के स्वरूप को भिन्न करना है। इस स्वरूप की मुख्य विभूति विस्तार और समृद्धि है। सम्वेदना के विपरीत प्रकृति की सीमाओं से स्वतन्त्र होकर चेतना के विशुद्धतर विन्दु अल्पजीवी न होकर अधिक स्थायी होते हैं। ह्रासमुखी न होकर वे समृद्धिशील होते हैं, और विन्दुओं के संगम में चेतना की विभूति का उत्कर्ष होता है। स्मृति और इतिहास में चेतना के विन्दुओं की माला सम्वेदना के ह्रासमुखी विन्दुओं के विपरीत उत्तरोत्तर उत्कर्षशील सौन्दर्य से सुशोभित होती है। चेतना के इस समृद्धशाली रूप को हम 'भाव' कह सकते हैं।

चेतना के इस भाव में ही संस्कृति का सौन्दर्य प्रकाशित होता है। सामाजिक समात्मभाव इस भाव की विभूति के विस्तार का क्षितिज है। इस क्षितिज के धुंधले होने पर ही सांस्कृतिक भाव का प्रकाश और विस्तार मन्द होता है। प्रकृति के तम का प्रभाव क्षितिज को धुंधला और इस भाव को मन्द बनाता है। वेदान्त की अविद्या का यही रहस्य है। अपने स्वरूप में यह चेतना विस्तारशील और समृद्धशील है। प्रकृति का भार और उसके स्वार्थ की सीमाएँ ही अपने आग्रह से इसके विस्तार को संकुचित करती है। समात्मभाव प्रकृति की मर्यादा का वन्दनवार तथा चेतना के विस्तार का द्वार और उसके प्रकाश की समृद्धि का क्षितिज है। व्यक्तित्व के दो विन्दुओं की एकता इस वन्दनवार से अलंकृत द्वार पर दोनों व्यक्तियों को अधिक सम्पन्न बनाती है। समात्म-भाव के क्षितिज पर प्रकृति की पृथिवी आध्यात्म के स्वर्ग का अभिनन्दन करती है। दोनों लोकों के मिलन में जीवन के क्षितिज के अन्तरिक्ष में संस्कृति का अपूर्व लोक आविर्भूत होता है, जिसकी सुषमा से पृथिवी स्वर्ग के स्वप्नों की अधिकारिणी बनती है और स्वर्ग का सौन्दर्य भूमि के सत्य पर आरूढ़ होता है। संस्कृति की इस सृष्टि में व्यक्ति और समाज एक

अपूर्व सम्बन्ध की भूमिका में एक दिव्य आनन्द के विधाता और अधिकारी बनते हैं।

संस्कार व्यक्ति और समाज के सांस्कृतिक सम्बन्ध के ऐसे ज्योतिर्मय क्षितिज हैं, जिन पर जीवन की सुषमा अनेक रूपों में प्रकाशित होती है। जातकर्म संस्कार की उषाएँ अपने पवित्र और अरुणिम सौन्दर्य से लोक-जीवन को जागरित करती हैं। उपनयन के प्रभात प्राकृतिक जीवन को आध्यात्म के उज्ज्वल आलोक से भरते हैं। समावर्तन की सन्ध्याओं में विवह की गोधूलि स्वप्नों के स्वर्गिक क्षितिजों का आलिंगन करती है। संध्यालोक में दीप्त उस गोधूलि के पांशुकरण संध्या के स्वप्निल आकाश की पलकों में नक्षत्रों के स्वर्लोक रचते हैं। संस्कारों के क्षितिजों पर होने वाली यह समस्त सौन्दर्य-सृष्टि सामाजिक और पारवारिक भूमि पर नवजात मनुष्य के निमित्त से होती है। प्रत्येक नवागत मनुष्य की महिमा इन संस्कारों में प्रकाशित होती है। समस्त परिवार और समाज नवीन मानव के उदय और विकास का अभिनन्दन करते हैं। वे उस अकिंचन और असमर्थ मानव पर अपना समस्त ऐश्वर्य और स्नेह न्यौछावर कर उसे गौरवान्वित बनाते हैं। इस गौरव के प्रभाव से विकासमान मानव का जीवन अपार महिमा से मण्डित होता है। परिवार और समाज से इतनी महिमा और इतना गौरव प्राप्त करके ही मनुष्य समाज का गौरवशाली सदस्य बनकर अपने उत्तराधिकारियों को महिमा और गौरव की विभूति बाँटने के योग्य बनाता है। विवाह काल तक जब तक मनुष्य पूर्णतः समर्थ होता है, तब तक ये संस्कार उसके व्यक्तित्व को गौरव से आप्लुत कर देते हैं। इस गौरव में मनुष्य का व्यक्तित्व पूर्ण और उसका अहंकार संतुष्ट होता है। मनुष्य के सहज अहंकार का समाधान सभ्यता और संस्कृति की एक प्रमुख समस्या है। जैसा कि संन्यासवादी दर्शनों का दृष्टिकोण है, इस अहंकार का पूर्णतः उच्छेद नहीं किया जा सकता। बड़े-बड़े सन्तों और ज्ञानियों में भी यह अहंकार प्रकट और प्रच्छन्न रूप में मिलता है। हमें यह जानकर खेद होता है, कि अधिक प्रबुद्ध और ज्ञानी तथा अधिक त्यागी प्रतीत होने वाले सन्त महात्माओं में यह अहंकार साधारण जनों से भी अधिक तीव्र और रूढ़

होता है। अतः अहंकार के उच्छेद का दार्शनिक दृष्टिकोण एकांगी, असंतुलित और असफल है। अहंकार में मानो प्रकृति का स्वार्थ सचेतन और सजग हो उठा है। गीता में भगवान ने अहंकार को अपनी अष्टधा प्रकृति का अन्तिम रूप बताया है। समाज और संस्कृति का मंगल अहं-कार के उच्छेद में नहीं, वरन् उसके समुचित समाधान में है। अहंकारों का सन्तोष और सामंजस्य इस समाधान का सबसे उत्तम मार्ग है। अहं-कारों के संघर्ष का क्षेत्र प्रकृति है। उस प्रकृति को अहंकारों के सामं-जस्य का निमित्त बनाकर भारतीय संस्कृति के विधायकों ने समाज के कल्याण का दिव्य मार्ग बनाया है। प्रकृति के अल्प आधार में विपुल सांस्कृतिक क्रिया-कलापों की प्रतिष्ठा करके संघर्ष के कुरुक्षेत्र में ही सामं-जस्य और स्नेह की अमृत मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है।

नवजात और विकासशील मानव के व्यक्तित्व के गौरव को समाज का कर्त्तव्य बनाकर संस्कार की परम्परा सामंजस्य की सही दिशा का अनुसरण करती है। समाज के द्वारा इस कर्त्तव्य का निर्वाह बालकों और किशोरों के व्यक्तित्व की पूर्णता में उनके अहंकार का सन्तोष करके उनके यौवन को अकुण्ठित तथा अपने उत्तराधिकारियों के प्रति कर्तव्य निर्वाह के योग्य बनाता है। इस प्रकार संस्कारों की परम्परा में मनुष्य के बाल्य और कैशोर के अधिकारों तथा प्रौढ़वय के कर्त्तव्यों की पारस्परिक परम्परा समाज की व्यवस्था के सन्तुलन का सूत्र बन जाती है। अहंकारों के सामंजस्य का यह सांस्कृतिक मार्ग दर्शनों के त्याग मार्ग की अपेक्षा अधिक अकुण्ठित है। उच्छेद और दमन के प्रयत्नों से अहंकार अधिक संकुचित और तीव्र होता है। सन्तों और ज्ञानियों के जीवन में दमन का यह प्रतिफल प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न रूप में देखा जा सकता है। अतः संस्कारों की योजना में अहंकार का जो समाधान किया गया है, वह अधिक स्वस्थ दृष्टिकोण का सूचक है। अहंकार में ही मनुष्य के अस्तित्व और व्यक्तित्व का गौरव तथा उसके जीवन की पूर्णता और सफलता की सम्भावनाएँ निहित हैं। इसीमें सृष्टि और समाज के विकास की सार्थकता भी है। अतः सामंजस्य के साथ व्यक्तित्व का गौरव और विकास आवश्यक है।

संस्कारों की परम्परा में समाज की यह आवश्यकता एक सुन्दर, स्वस्थ और संतुलित रूप में सम्पन्न होती है। एक संतुलन का रूप यह है कि यद्यपि एक नवजात और विकासशील बालक इन संस्कारों का निमित्त और केन्द्र होता है, किन्तु ये संस्कार केवल उसी के गौरव का समा-योजन नहीं करते। उसके गौरव के साथ-साथ परिवार और समाज के सभी बालक और वृद्ध इन संस्कारों के समारोह में भाग लेकर गौरव के भागी बनते हैं। संस्कारों में अहंकारों का सामंजस्य ऐसे अद्भुत रूप में होता है कि एक का गौरव दूसरों के हर्ष का अवसर बन जाता है। गौरव और हर्ष के इस विस्तार में संस्कृति का सचेतन भाव चरितार्थ होता है। इस समृद्धिशील भाव में प्रकृति के संकोच भी संस्कृति के निमित्त बन जाते हैं। परिवार और समाज एक नवजात मानव के वयोविकास के प्रत्येक पर्व को उत्सव का अवसर बनाकर उसे अपार गौरव से मंडित करता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिये इससे अधिक सामाजिक गौरव की सम्भावना नहीं हो सकती। व्यक्ति का यह सामाजिक गौरव भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विजय है। सभ्यता के विकास में चाहे व्यक्ति की सुविधाएं और उसके वैधानिक अधिकार बढ़ते गये हों, किन्तु उसका सामाजिक गौरव दिन-दिन क्षीण ही होता गया है। सामाजिक गौरव से हीन होकर अन्य बाह्य ऐश्वर्यों से युक्त होने पर भी मनुष्य मन से दीन होता जा रहा है। यह मानसिक दीनता सभ्यता के समस्त वैभवों को निष्फल बना रही है। समस्त वैभवों से सम्पन्न होने पर भी मनुष्य का जीवन नीरस और निरानन्द है। आधुनिक समाज के निर्वैयक्तिक और उपेक्षापूर्ण वातावरण में प्रत्येक व्यक्ति अपने को अकिंचन पाता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका जीवन केवल उसके लिये है। समाज की दृष्टि में उसके अस्तित्व और वैभव का कोई महत्व नहीं है। इतने संकु-चित और उपेक्षित व्यक्तित्व में व्यक्तित्व का समस्त गौरव और जीवन का समस्त वैभव तुच्छ हो जाता है। व्यक्ति के अस्तित्व की यह अकिंचनता, उसके गौरव की यह तुच्छता और उसके वैभव की यह निष्फलता आधुनिक सभ्यता की सबसे बड़ी विडम्बना है।

भारतीय संस्कारों में व्यक्ति और समाज के पारस्परिक गौरव की समृद्धि की अद्भुत योजना सभ्यता की इन विडम्बनाओं का सर्वोत्तम प्रतिकार थी और आज उनका सर्वोत्तम उपचार है। समाज का निर्माण व्यक्तियों से ही होता है। अतः मूलतः व्यक्ति और समाज के गौरव में विरोध नही होना चाहिये। किन्तु दार्शनिक सिद्धान्तों तथा लोक व्यवस्था दोनों में व्यक्ति और समाज के गौरव का सामंजस्य प्रायः नहीं मिलता। इसका कारण यही है कि समाज को व्यक्ति से अलग मान लिया जाता है। दार्शनिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति समाज के अन्तर्गत है। वह समाज में ही पलता और बढ़ता है। सामंजस्य की अवस्था में व्यक्ति भी इस सत्य का अनुभव करता है। किन्तु जब समाज की व्यवस्था किसी व्यक्ति के गौरव के अनुकूल नहीं होती, तो वह समाज को अपने से भिन्न एक विरोधी सत्ता के रूप में पाता है। तब उसके लिए समाज का अर्थ अपने से भिन्न दूसरे व्यक्तियों के समूह से होता है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्म गौरव की भावना होती है। अतः समाज के साथ सभी को विरोध के अनुभव के अवसर आते हैं। समाज की व्यवस्था के जिस अंग से व्यक्ति लाभ उठाता है और जिसके साथ उसका सामंजस्य रहता है। उससे एक सूक्ष्म अभिन्नता का अनुभव करते हुये भी प्रत्येक व्यक्ति समाज की व्यवस्था के अन्य किसी अंग अथवा पक्ष से विरोध के अवसरों का सामना करता है। ऐसी स्थिति में उसके लिये समाज का अर्थ अपने को छोड़कर अन्य व्यक्तियों के समूह से होता है। अतः सामाजिक व्यवस्था की सबसे प्रमुख समस्या एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्तियों के साथ सामंजस्य है। इस सामंजस्य का अर्थ केवल एक उदासीन अविरोध नहीं है, जैसा कि आधुनिक सभ्यता में बढ़ता जा रहा है, वरन् इस सामंजस्य का भावपूर्ण अर्थ प्रेम और सद्भाव है। इस प्रेम और सद्भाव में व्यक्तियों के अहंकारों का परस्पर संघर्ष सबसे बड़ी बाधा है। जीवन के सांस्कृतिक सौन्दर्य की समृद्धि के लिये इस बाधा का निवारण और अहंकारों का भावात्मक सामंजस्य अपेक्षित है।

भारतीय संस्कृति, में विशेषतः धार्मिक संस्कारों की योजना में, यह अहंकारों का सामंजस्य अत्यन्त सुन्दर और स्वस्थ रूप में सम्पन्न हुआ है।

अहंकार प्रकृति का अन्तिम रूप है। किन्तु दूसरी ओर वह संस्कृति का का द्वार भी है। एक ओर प्रकृति की सत्ता और उसका स्वार्थ अहंकार में सचेतन हो गये हैं। दूसरी ओर अहंकार के द्वार से प्रकृति के विन्दु मानो विश्व के सिन्धु का आलिंगन करना चाहते हैं। अहंकार के द्वार से चेतना जब प्रकृति की ओर झाँकती है, तो संकोच होता है। अहंकार नीच होकर मद-मत्सर, ईर्ष्या-द्वेष आदि का सचेतन केन्द्र बन जाता है। दूसरी ओर प्रकृति जब अहंकार के द्वार से समृद्धिशील चेतना का दर्शन करती है, तो प्रेम और सद्भाव का विस्तार होता है। चेतना के भाव क्षेत्र में प्रकृति की इकाई और उसके स्वार्थ के नियम कठोरता से लागू नहीं होते। अतः चेतना की ओर अभिमुख होने पर अहंकार मृदुल और विस्तृत होने लगता है। प्रकृति की सीमाओं से कुछ मुक्त होकर चेतना के भाव-लोक में व्यक्ति की अनुभूति में व्यापक सौन्दर्य की समृद्धि होती है। यह दर्शनों के अध्यात्म की कोई निर्वैयक्तिक स्थिति नहीं है, वरन् सांस्कृतिक जीवन की एक साधारण स्थिति है, जिसे हम समात्म-भाव कह सकते हैं। समात्म भाव में अहंकार की इकाई और केन्द्रीकरण विगलित होने लगते है और उसका स्वार्थ उदार होता है। समात्म-भाव की स्थिति में एक व्यक्ति दूसरों के साथ आत्मीयता का अनुभव करता है, तथा 'स्व' और 'पर' के भेद की कठोरता शिथिल हो जाती है। इस दृष्टि से समात्म-भाव सांस्कृतिक सामंजस्य का उत्तम सूत्र है। निर्वैय-क्तिक अध्यात्म की स्थिति और प्रकृति की स्वार्थमय सत्ता का सामंजस्य ही इस सूत्र का वल है। प्रकृति की पूर्ण उपेक्षा जीवन में सम्भव नहीं है। कदाचित् ही कोई अध्यात्म दर्शन इसके व्यवहार में सफल हुआ है। अतः प्रकृति के आधार में ही सम्पन्न होने पर समात्मभाव सांस्कृतिक सामंजस्य को सफल वनाता है। प्रकृति के संस्कार और उन्नयन के विना संस्कृति केवल एक कल्पना है। वह जीवन का सत्य नहीं हो सकती। वस्तुतः संस्कृति प्रकृति का ही संस्कार है। इस संस्कार में प्रकृति के संकोच और उसके स्वार्थ में विस्तार और उदारता का ऐसा संचार होता है कि वह अपने से विपरीत प्रतीत होने वाली चेतना के भावों में अन्वित हो जाती है। इस अन्वय में ही संस्कृति के मूल्य साकार होते हैं।

भारतीय संस्कारों की योजना में संस्कृति की इसी दिशा के द्वार खुले हैं। उनमें भौतिक उपकरणों और अहंकार दोनों ही रूपों में प्रकृति की उपेक्षा नहीं की गयी है। इनका आग्रह संस्कृति के अनुकूल नहीं है। फिर भी, इनका स्वस्थ रूप में ग्रहण संस्कारों की व्यवस्था में अवश्य किया गया है। संस्कारों के सांस्कृतिक सामंजस्य का सबसे बड़ा चमत्कार अहंकारों के साम्य में है। इस साम्य को एक ऐसे मनोवैज्ञानिक ढंग से सम्पन्न किया गया है कि वह अध्यात्म के क्षितिजों का स्पर्श करके संस्कृति के मध्यम मार्ग को प्रशस्त करता है। अहंकार आत्मगौरव की अनुभूति है। वह जीवगत चेतना का एक सामान्य भाव है। अपने शरीर तथा उसको सुख देने वाले उपकरणों के प्रति उसका एक ही भाव हो जाता है। व्यक्ति की सत्ता की सार्थकता के लिये यह अहंकार आवश्यक है। किन्तु अहंकारों का आग्रह समाज में द्वेप और संघर्ष का कारण बनता है। संघर्ष का कारण न होने पर भी, अहंकार का स्वार्थमय रूप प्रेम और सद्भाव को मन्द बनाता है। अतः संघर्ष को दूर करने के लिये ही नहीं, सद्भाव की समृद्धि के लिये भी अहंकार के स्वार्थमय आग्रह को छोड़ना आवश्यक है। किन्तु यह तभी सम्भव है, जब कि अहंकार के सामान्य भाव को श्रेष्ठतर विषयों का अवलम्ब मिले। जब ये श्रेष्ठतर विषय दूसरों की सत्ता और उनके हित के रूप में प्रस्तुत होते हैं, तो संस्कृति की समस्या एक चमत्कारपूर्ण ढंग से सुलझ जाती है। जो प्रकृति और स्वार्थ द्वेप और संघर्ष के कारण होते हैं, वे ही अहंकारों के सामंजस्य के निमित्त बन जाते हैं। जब एक व्यक्ति की सत्ता और उसका गौरव दूसरे के गौरव का निमित्त बनता है, तो अहंकारों की सीमाएँ विलीन होने लगती है। प्रकृति अपनी निधियों की अंजलि संस्कृति की देहली पर चढ़ती है। अहंकारों का यह सामंजस्य भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य का अद्भुत रहस्य है।

भारतीय संस्कारों की योजना में यह सामंजस्य एक अत्यन्त सहज और सुन्दर ढंग से हुआ है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो अत्यन्त कठिन है, वही संस्कृति के हाथों में बड़ा कोमल हो गया है। प्रस्तर के समान कठोर प्रकृति संस्कृति के सिद्ध कलाकारों के हाथों में कोमल बन कर

जीवन की अप्रतिम सौन्दर्यमयी प्रतिमा का उपादान बन गयी है। नये मानव की उत्पत्ति और उसके विकास को संस्कारों का अवलम्ब बना कर संस्कृति के लिये ऐसे निर्दोष, पवित्र और सुन्दर आश्रय को ग्रहण किया गया है। जिसके अबोध माधुर्य और निसर्ग सौन्दर्य के सामने सबका अहंकार न्यौछावर हो जाता है और सब संस्कृति के बाल-देवता के चरणों पर अपने प्रेम की अंजलि चढ़ाने के लिये उत्सुक हो उठते हैं। अहंकारों का संघर्ष प्रौढ़ों और वयस्कों के ही बीच होता है। जब वे अपने अधिकार और अभिमान के प्रति सजग हो जाते हैं। जो अबोध और असमर्थ है, जिसे अपने अधिकारों की चेतना नहीं है और जिसे अपनी समर्थ्य का अभिमान नहीं है, उसके प्रति समर्थ जन ईर्ष्या और द्वेष के स्थान पर प्रेम और करुणा का अनुभव करते हैं। प्रच्छन्न रूप से चाहे उसकी यह असमर्थता प्रौढ़ों के अहंकार को ही पोषित करती हो, किन्तु प्रकट रूप में वह उनके प्रेम और उनकी करुणा को ही प्रेरित करती है। प्रौढ़ों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अहंकार प्रेम और करुणा के सांस्कृतिक भावों की विपुलता में निमग्न हो जाता है। सूक्ष्म रूप में वयस्कों के अहंकार को नवजात मानव के गौरव के अनुकूल बनाकर उसका सन्तोष करना संस्कृति का एक अद्भुत चमत्कार है।

मनुष्य की उत्पत्ति की प्राकृतिक व्यवस्था ने इन संस्कारों का आधार बनकर प्रकृति के पीठ में संस्कृति की प्रतिष्ठा की है। सन्तति के जन्म में काम की प्राकृतिक वृत्ति सफल ही नहीं होती, वरन् नवजात शिशु के सौन्दर्य के प्रभाव से पवित्र भी हो जाती है। सन्तति के बिन्दु में दो प्रकृतियों की रेखायें मिलकर जीवन का एक नवीन दृष्टिकोण बनाती हैं, जो प्रकृति के अनन्त क्षितिजों की ओर अभिमुख होता है। सन्तति दो अहंकारों के समागम का बिन्दु है। इस बिन्दु में दम्पत्ति के अहंकार अत्यन्त सहज रूप में समात्मभाव को प्राप्त होते हैं। माता के लिये तो सन्तति का आगम एक अद्भुत उल्लास का अवसर है। पिता के लिये भी वह गर्व का अवसर है। माता के तो शरीर की सत्ता ही मानो द्विधा होकर एक पृथक अस्तित्व ग्रहण करती है। इसीलिये सन्तति के प्रति माता का अपने शरीर के समान ही आत्मीय भाव होता

है। शारीरिक दृष्टि से सन्तति का और सम्बन्ध एक के ही साथ हो सकता है। यह प्रकृति की सीमा है। किन्तु मानसिक दृष्टि से सन्तति के साथ पिता का भी आत्मीय भाव होता है। उपनिषदों में पुत्र को भी मनुष्य की आत्मा ही माना है। सन्तान की व्यवस्था में मानों प्रकृति ने ही मनुष्य के अहंकार के विस्तार को नियोजित कर दिया है। जीव-जगत में एक व्यक्ति की सत्ता दूसरे की सत्ता को सम्पन्न करके कृतार्थ होती है। काम और सन्तति का प्राकृतिक आधार अहंकार के विस्तार को अवलम्ब देकर संस्कृति का सूत्रपात करता है। अहंकारों के साम्य के अबोध और सुन्दर बिन्दु (सन्तति) के मंगल में दम्पत्ति को अपना ही मंगल दीखता है। व्युत्पत्ती की दृष्टि से सन्तान का अर्थ प्रस्तार है। सन्तति मानो अपनी ही सत्ता का प्रस्तार है। उसके मंगल की कामना हमें अपने बन्धुओं और समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ स्नेह, सद्भाव और सामंजस्य के लिये प्रेरित करती है। नवजात शिशु का अबोध माधुर्य और निसर्ग सौन्दर्य स्वय भी सबके स्नेह को आकर्षित करता है। अपनी सन्तान में अपने जीवन के सुन्दर विस्तार की कामना सबके लिये साधारणीकरण का अवसर बनती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं की तीन धाराएँ उस त्रिवेणी का निर्माण करती हैं, जिसके संगम पर संस्कारों की योजना का सांस्कृतिक अक्षयवट स्थित है। इस त्रिवेणी का प्रवाह अत्यन्त सहज गति से होता है। इसकी अमृत भगीरथी को भूमि पर प्रवाहित करने के लिये भागीरथ के तप की अपेक्षा नहीं होती। अहंकारों का विरोध और संघर्ष होने पर संस्कृति के उदार भावों का प्रकाशन कठिन हो जाता है। जिस नवजात मानव को संस्कारों का निमित्त बनाया जाता है, उसका व्यक्तित्व इतना अविकसित होता है कि वह परिवार और समाज के वयस्क जनों के अहंकारों के साथ संघर्ष की सम्भावना पैदा नहीं करता। अहंकार ही अहंकार को जागरित करता है। बालक में ऐसा प्रबल अहंकार न होने के कारण दूसरे लोगों के अहंकार के लिये कोई अवसर नहीं होता। इसीलिये संस्कारों के अवसर पर लोगों के उदार भावों को प्रकट होने का अवसर मिलता है। अहंकारों का संघर्ष न होने के कारण सब लोग सरलता से बालक को गौरव दे सकते

हैं। ऐसी स्थिति में हमें गौरव देने में भी गौरव का अनुभव होता है। बालक को गौरव देने में सबको अपना गौरव भी प्रतीत होता है। क्योंकि दूसरे को गौरव देने में हमारा व्यक्तित्व भी ऊँचा उठकर गौरवान्वित होता है।

इस मनोवैज्ञानिक भूमिका में बालकों और किशोरों के धार्मिक संस्कार सबके लिये अपूर्व आनन्द और गौरव के अवसर बन जाते हैं। आनन्द का मूल स्रोत समात्मभाव में है। अहंकारों के विगलित और उदार होने पर ही मनोभाव का वह समत्व सम्भव होता है, जिसमें आनन्द का स्फुरण होता है। कोई समान निमित्त मिलकर इस समभाव को एक बाह्य आधार प्रदान करता है। यह अन्तर-बाह्य का साम्य आनन्द को और यथार्थ बनाता है। धार्मिक संस्कारों में बालकों और किशोरों के सम्बन्ध में होने वाली क्रियाएें तथा उनके उपकरण सबके लिये ऐसे ही समान निमित्त बन जाते हैं। ये समान निमित्त संस्कार के उत्सव में भाग लेने वाले सभी लोगों के लिये समभाव के वास्तविक अवलम्ब बनते हैं। इस समभाव के कारण संस्कारों में आनन्द की दिव्य मन्दाकिनी बहती है। इस आनन्द के पर्व में सबको आत्मगौरव का अनुभव भी होता है। यह आत्मगौरव अहंभाव का सात्विक और उदार रूप है। सामान्यत: जिस अहंकार में हम आत्मगौरव और गर्व का अनुभव करते हैं, वह गौरव की भावना से नहीं, वरन् हीनता की भावना से प्रेरित होता है। यह भावात्मक गौरव का रूप नहीं है, वरन् जब हमारे गौरव को ठेस पहुँचती है अथवा हमारा अस्तित्व किसी दूसरे के गौरव की तुलना में हीन होता है, तब हमारा अहंकार चोट खाये हुये सर्प के फन की भाँति जाग उठता है। वस्तुत: हम इस अहंकार में अपने गौरव का समर्थन नहीं करते, वरन् इसमें हमारी हीनता की प्रतिक्रिया ही रहती है। अत: ये अहंकार भावात्मक आत्मगौरव के सूचक नहीं, वरन् हीनता की निषेधात्मक प्रतिक्रिया के परिचायक हैं। भावात्मक आत्मगौरव दूसरों के साथ संघर्ष अथवा तुलना में नहीं, वरन् अपने स्वरूप में ही प्रकट होता है। विरोध और संघर्ष के स्थान पर स्नेह, उदारता और विनय इसके स्वरूप को निखारते हैं। संस्कारों के अवसर पर इन्हीं भावों के प्रकाश में दूसरों

के अस्तित्व को गौरव देकर विनय और प्रेम में भावात्मक आत्मगौरव को प्राप्त करते हैं। संस्कारों की योजना का यह अद्भुत चमत्कार है कि किसी के गौरव को आघात पहुँचाये बिना वे सबके भावात्मक गौरव का सम्पादन करते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि संस्कार अबोध और अकिंचन बालकों और किशोरों को इस आनन्दमय पर्व का निमित्त बनाते हैं, तथा मुख्य रूप से उन्हीं के गौरव को लक्षित करते हैं। बालकों के जीवन-बिन्दु में परिवार और समाज का जीवन-सिन्धु आनन्द के उज्ज्वल ज्वारों में उमड़कर जीवन की पूर्णिमाओं को संस्कृति के पर्व बनाता है। आनन्द और गौरव के इन ज्वारों की तरंगों में सभी अवगाहन कर जीवन की पूर्णिमाओं के पर्व मनाते हैं। इन पूर्णिमाओं के प्रकाश में आनन्द के फेनिल ज्वार जीवन के सिन्धु को क्षीर सागर का रूप देते हैं, जिसमें ज्ञान के शेष की कुण्डली पर विक्रम के विष्णु विराजते हैं, जिसमें कमल पीठ पर ब्रह्मा जीवन के वेद का वाचन करते हैं और जिसमें शेष के सहस्रफण पर स्थित कैलाश पीठ पर लोक मंगल के शिव यथारुचि समाधि और नृत्य में निरत होते हैं।

धार्मिक संस्कारों के निमित्त की रूप में बालकों और किशोरों का गौरव मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। सामान्य रूप से यह जीवन के उदय और विकास का महत्व है। बालकों और किशोरों के निमित्त से मानो समस्त समाज पुनः पुनः अपने जीवन के अस्तित्व, उदय और विकास का अभिनन्दन करता है। अपने स्वरूप में जीवन की महिमा संस्कारों का सामान्य लक्षण है। जीवन की यह महिमा संन्यास और वैराग्य के दार्शनिक दृष्टिकोण से कितनी भिन्न है, यह विचारणीय है। जीवन के उदय और विकास का यह सामान्य समादर विशेष रूप से बालकों और किशोरों के रूप में सम्पन्न होता है। जीवन अपने आप में महत्वपूर्ण है। जीवन की सत्ता या सत्य इतना सरल और अखण्डनीय है, कि कोई भी दर्शन खंडन करते हुये भी उसका प्रतिकार नहीं कर सकते। जीवन का महत्व इसी से विदित है कि संन्यास और वैराग्य का प्रतिपादन और प्रचार करने वाले संत और ज्ञानी भी जीवन के मोह का त्याग नहीं कर पाते। जीवन स्वयं में

इतना स्पृहणीय है कि सन्यासी और विरक्त भी इसी प्रकार जीने की कामना करते हैं, जिस प्रकार कोढ़ी और अपाहिज भी जीवन से लिपटे रहना चाहते हैं। सत्ता के अतिरिक्त जीवन में अनेक मूल्य भी निहित हैं। सत्ता जीवन का सामान्य रूप है, मूल्य उस रूप को तत्व से सम्पन्न बनाते हैं। मूल्यों के तत्व से सम्पन्न होकर जीवन की सत्ता सुन्दर और अर्थवती बनती है। भारतीय संस्कृति में जीवन के मूल्यों की प्रतिष्ठा बड़े सुन्दर रूप में की गयी है। भारतीय संस्कारों की योजना में भी इन मूल्यों का समावेश है। किन्तु संस्कारों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात यही है कि वे एक भावात्मक रूप में जीवन की सत्ता का अपने आप में अभिनन्दन करते हैं। जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ और सुन्दर है। जीवन प्रकृति की सबसे उत्तम विभूति है। प्रकृति की इसी विभूति में आत्मा साकार हुई है और श्रेष्ठतम मूल्यों को आधार मिला है। सभी सांस्कृतिक मूल्य और आदर्श इसी आधार पर प्रतिष्ठित होते हैं। अतः संस्कारों के उत्सव में जीवन के स्वरूप का अभिनन्दन एक महान सत्य का मनोहर प्रकाशन है।

जिस रूप में संस्कारों में जीवन का अभिनन्दन होता है, वह स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक होने के साथ-साथ सांस्कृतिक उद्देश्यों से परिपूर्ण है। संस्कारों में जीवन का अभिनन्दन इतना वैज्ञानिक है कि सृष्टि में जीवन के प्रथम आरम्भ से ही जीवन की अर्चना आरम्भ होती है। सबसे पहला संस्कार गर्भाधान है। ऐतिहासिक दृष्टि से निषेक अथवा गर्भ ही जीवन का आरम्भ है। इसके अतिरिक्त गर्भकाल में जीवन को महत्व देना वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक रहस्यों से पूर्ण है। गर्भ में जीवन का आदर जन्म के उपरान्त जीवन के सुन्दर और स्वस्थ विकास तथा सफल निर्वाह को सुकर बनाता है। गर्भाधान के गौरव में मातृत्व को भी अपना उचित गौरव मिलता है। मातृत्व के रूप में नारी की महिमा भी संस्कृति का एक महत्वपूर्ण सत्य है, जो भारतीय संस्कृति में अपनी परिपूर्ण महिमा में प्रतिष्ठित हो रहा है। जन्म में जीवन अपने सहज सुन्दर रूप में प्रकट होता हैं। प्रकृति का अद्भुत रहस्य मुखर और सुन्दर रूप में साकार होता है। नवीन जीवन की रचना करके अपने स्वरूप में

सुन्दर काम कृतार्थ होता है। प्रकृति के चमत्कार से मुग्ध होकर हम जीवन के नवीन उदय का उत्सव मनाते हैं। यह जातकर्म संस्कार कहलाता है। जन्म में मातृत्व की महिमा अधिक स्फुट रूप में प्रमाणित होती है। गर्भ का अन्तर्निहित रहस्य एक मनोहर रूप में प्रकट होकर सबको मुग्ध करता है, और साथ ही जीवन के गम्भीर मर्म का उद्‌घाटन भी करता है। जीवन की सत्ता और उसकी स्वरूपगत महिमा के साथ-साथ जीवन के रचनात्मक रहस्य और महत्व का अभिनन्दन संस्कारों में मिलता है। जीवन का प्राकृतिक स्वरूप भी रचनात्मक है। किन्तु संस्कारों की योजना में जीवन की सत्ता और उसके रचनात्मक स्वरूप दोनों का ही उचित अभिनन्दन किया गया है।

जीवन की सत्ता को अपने आप में गौरव देने के साथ-साथ जीवन के विकास को भी संस्कारों की योजना में उचित महत्व मिलता है। एक प्रकार से विकास भी जीवन का स्वरूप है। अतः रचनात्मकता की भाँति विकास का महत्व भी जीवन की महिमा के अन्तर्गत है। किन्तु जिस प्रकार जीवन के रचनात्मक रूप को जन्म, विवाह आदि संस्कारों में विशेष रूप से महत्व दिया गया है, उसी प्रकार संस्कारों की समग्र योजना में जीवन के विकासशील रूप को विशेष महत्व दिया गया है। जीवन के विकास का यह महत्व वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक होने के साथ-साथ सांस्कृतिक मूल्यों से भी पूर्ण है। विकास के क्रम में पूर्वतर पर्वों को महत्व देना एक वैज्ञानिक महत्व रखता है, क्योंकि किसी अंश में जीवन में स्वतन्त्रता होते हुए भी जीवन में कार्य-कारण का प्राकृतिक नियम भी बहुत कुछ चलता है। संस्कारों की परम्परा में पूर्व-पूर्वतर पर्वों को जो महत्व मिलता है, उसका लाभ उत्तरोत्तर पर्वों को मिलता है। विकास की वैज्ञानिक दृष्टि में पूर्व पर्वों को ध्यान देना उचित है, क्योंकि उत्तर पर्वों का स्वरूप बहुत कुछ उन पर निर्भर करता है। प्रकृति का यह वैज्ञानिक सिद्धान्त जीवन में मनोवैज्ञानिक बन जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्व पर्वों का महत्व और भी अधिक है। पूर्वतर अवस्थाओं में अपेक्षित मानसिक विकास के ठीक-ठीक न होने पर उत्तर अवस्थाओं का विकास पूर्ण और सफल नहीं होता। मानसिक क्षेत्र में

इसका विशेष महत्व इसलिए है कि मानसिक विकास प्राकृतिक विकास की भाँति प्राकृतिक और स्वाभाविक नहीं होता। उसके लिए प्रत्येक अवस्था में विशेष प्रयत्न की आवश्यकता होती है। यह प्रयत्न बालक तथा उसके अन्य सभी हितैषियों की ओर से अपेक्षित है। एक प्रकार से यह बालक के प्रति समस्त समाज का कर्त्तव्य हैं।

बालक का विकास इस दृष्टि से तो स्वतन्त्र रूप से होता है कि बालक में विकास की सहज चेष्टा होती है। किन्तु दूसरी ओर इस चेष्टा को सफलतापूर्वक काम करने के लिए सामाजिक प्रेरणा और अनेक-विध सहयोग की आवश्यकता है। इस सहयोग के लिए बालक का मानसिक विकास समाज के आधीन भी है। भेड़ियों के साथ पलने वाले कई बालकों के जीवन में यह प्रमाणित हुआ है कि सामाजिक सहयोग के बिना उनमें सभ्य समाज के बालकों जैसा विकास नहीं हो सका। वे मनुष्यों के समान चलना और बोलना भी न सीख सके। अतः बालकों के मानसिक विकास में दूसरों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। यह सहयोग तभी सम्भव हो सकता है, जबकि बालकों के जीवन और उसके विकास को यथोचित महत्व दें। सामाजिक सद्भाव और उत्सव के निमित्त होने के साथ-साथ संस्कार इस बात का भी संकेत करते हैं कि बालकों के प्रति बड़ों का बड़ा कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है। इस कर्त्तव्य का महत्व तब और बढ़ जाता है, जब कि हमें यह मालूम होता है कि मानसिक विकास एक और दृष्टि से भी प्राकृतिक विकास से विलक्षण है। प्राकृतिक विकास में भी पूर्व संस्कारों का बहुत प्रभाव रहता है, फिर भी कुछ विशेष प्रयत्नों से उत्तर स्थितियों में कुछ संशोधन और सुधार सम्भव है। तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक विकास में उत्तर काल में ही कुछ क्षति पूर्ति हो सकती है और भूल सुधार सम्भव है। किन्तु मानसिक जगत में इसकी सम्भावना प्राकृतिक जगत की अपेक्षा बहुत कम होती है। यही कहा जा सकता है कि विलम्ब से समायोजन की क्षमता मन में शरीर की अपेक्षा कम है। वयोनुकूल विकास न होने पर जीवन में एक अन्सतुलन पैदा हो जाता है, जिससे यह क्षमता और भी कम हो जाती है। इन सब कारणों से मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बालक के विकासशील

जीवन के प्रत्येक पूर्व संस्कार को यथोचित महत्व देना और उसे अभीष्ट सहयोग देना बड़ों का एक बड़ा कर्त्तव्य बन जाता है। धार्मिक संस्कार केवल पारिवारिक उत्सव के पर्व ही नहीं है, वे बड़ों के कर्त्तव्य का संकेत भी करते हैं।

जीवन के विकास की संस्कारों की योजना में जो आदर है, वह सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। जीवन का सांस्कृतिक फल मानसिक विकास की सफलता पर निर्भर करता है। यद्यपि संस्कृति के मूल्य और आदर्श प्रकृति के आधार में ही प्रतिष्ठित होते हैं, फिर भी वे जीवन के मानसिक क्षेत्र में ही सम्पन्न होते हैं। संस्कृति के मूल्य प्राकृतिक सत्ता अथवा प्राकृतिक संस्थान नहीं हैं, वे चेतना के भाव और चेतना की रचनाएँ हैं। प्राकृतिक निमित्तों में साकार होते हुए भी उनका स्वरूप प्रमुखतः मानसिक ही है। समुचित मानसिक विकास होने पर ही सांस्कृतिक मूल्यों के भाव उदित होते हैं। चेतना के भाव होने के कारण संस्कृति के मूल्य समृद्धिशाली होते हैं। अतः जीवन के मानसिक विकास की योजना में उनका अन्वय संस्कृति की सफलता के लिए आवश्यक है। एक ओर जहाँ संस्कृति में चिरन्तन रूपों की आराधना होती है वहाँ दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति की विकासशील चेतना ही संस्कृति का जीवन है। इस विकासशील चेतना से ही संस्कृति के चिरन्तन रूप जीवन में नए नए सौन्दर्य का संचार करते रहते हैं। जिस प्रकार गंगा की चिरन्तन धारा प्रति पावस में जल के नए प्रवाहों से आप्लावित होती है, उसी प्रकार नए नए मनुष्यों की चेतना के नवीन विकास संस्कृति की चिरन्तन धारा को सौन्दर्य की नवीन तरंगों से सुशोभित करते रहते हैं। इस प्रकार विकास का गौरव संस्कृति के स्वरूप और उसकी अपेक्षाओं के अनुरूप है।

अस्तु, संस्कारों की योजना में जीवन की सत्ता तथा उसके सृजन और विकास की महिमा सम्यक रूप से प्रतिष्ठित है। प्रकृति में जीवन की सत्ता मात्र एक अद्भुत सौन्दर्य और उल्लास से विभासित होती है। दूर्वादिल से लेकर वनराजियों तक जीवन की सत्ता और सौन्दर्य का उल्लास व्याप्त है। संस्कारों के समारोह में भी जीवन का सौन्दर्य और

उल्लास ओत-प्रोत रहता है। कदाचित् सृष्टि में व्याप्त किसी शक्ति का उल्लास ही जीवन है। जीवन का यह स्वरूपगन उल्लास संस्कारों के समारोह में एक अपूर्व सौन्दर्य से प्रकाशित होता है। जीवन का स्वरूप रचनात्मक है। जीवन सृष्टि और सृजन है। संस्कारों के समारोह में जीवन की रचनात्मकता का आदर है। किन्तु संस्कारों के उत्सव और आयोजन में एक व्यापक रूप में रचनात्मकता प्रकट होती है। जीवन की रचनात्मकता के निमित्त से अनेक रूपों में तथा अनेक उपकरणों और आचारों के माध्यम से रचनात्मक सौन्दर्य साकार होकर सबको अलंकृत करता है। विकास भी जीवन का स्वरूप है। विकास की महिमा भी संस्कारों की योजना में समुचित रूप से प्रतिष्ठित है। किन्तु संस्कारों के समारोह के बाहरी रूप में विकास का तत्व अधिक स्फुट रूप में साकार हुआ है। साधारण रूप से सभी संस्कारों के उत्सव समारोह के साथ मनाए जाते हैं। फिर भी इस समारोह का बाहरी वैभव, कार्यक्रम और सामाजिक विस्तार गर्भाधान से लेकर विवाह तक उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। बाहरी दृष्टि से यह नवजात मनुष्य के वयोविकास के अनुरूप है। किन्तु समारोह की समृद्धि में केवल ऐतिहासिक सहयोग ही नहीं है। समृद्धि चेतना का स्वरूप और संस्कृति का लक्षण है। संस्कारों के समारोहों का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ वैभव इसी समृद्धि का लक्षण है। एक ओर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जहाँ जीवन के पूर्व पूर्वतर संस्कारों का महत्व है, क्योंकि उत्तरोत्तर संस्कारों की सफलता इन पर निर्भर करती है; वहाँ दूसरी ओर विकासशील जीवन में उत्तरोत्तर संस्कारों की महिमा अधिक है। प्रकृति का कार्य-कारणवाद सांस्कृतिक जीवन में साध्य-साधनवाद बनकर प्रगति के उत्तरोत्तर संस्कारों को अधिकाधिक गौरव से मंडित करता है। जीवन का विकास सांस्कृतिक मूल्यों की समृद्धि में फलित होता है। जीवन की उत्तरोत्तर प्रगति में बालक की चेतना विकसित होती जाती है। इस दृष्टि से संस्कारों के समारोहों की उत्तरोत्तर समृद्धि मनुष्य की बढ़ती हुई चेतना की आकांक्षाओं के अनुरूप है। वयो-विकास के साथ ज्यों-ज्यों चेतना बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों जीवन में अधिकाधिक गौरव की आकांक्षा होती है। इसी आकांक्षा में अहंकारों

के संघर्ष के बीज भी फलते हैं। किन्तु स्नेह और उदारता पूर्वक इस गौरव की आकांक्षा का सन्तोष उदारता के संस्कारों को पोषित करके समाज में सामंजस्य की भूमिका बनाता है। वयोविकास के साथ बढ़ती हुई चेतना को जब स्नेह और सद्भावपूर्ण गौरव मिलता है, तो वह गौरवान्वित होने के साथ-साथ उदारता और विनय के संस्कार ही ग्रहण करती है। एक ओर वह आत्म गौरव की महिमा से दीप्त होती है, किन्तु दूसरी ओर जिस स्नेह ओर सद्भाव के साथ उसे दूसरों से गौरव मिलता है, उससे विनय का पाठ सीखती है। व्यक्ति और समाज में आत्म गौरव और विनय का सामंजस्य एक कठिन और महत्वपूर्ण प्रश्न है। संस्कारों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए समारोहों में इसका एक उत्तम समाधान मिलता है। मानसिक विकृतियों, असंतुलनों और कुण्ठाओं से बचने के लिए स्नेह और सद्भाव की सांस्कृतिक भूमिका में बढ़ते हुए मनुष्य के आत्मगौरव की परिपुष्टि एक उत्तम उपचार है। आत्मगौरव का यह रूप प्रकृति और मनोविज्ञान के अनुरूप होने के साथ-साथ जीवन की सांस्कृतिक सम्भावनाओं के अनुकूल है। व्यक्तित्व के उदार आत्म-गौरव में ही शील और विनय के वे संस्कार विकसित होते हैं, जो समाज और संस्कृति में सामंजस्य का पथ प्रशस्त करते हैं। जीवन के विकास-काल में आत्मगौरव की पूर्ति के बिना हीनता की कुण्ठाएँ शेष रह जाती हैं, जो प्रौढ़ वय में उदारता के स्थान पर अहंकार के विकृत रूपों में प्रकट होती हैं। पश्चिमी सभ्यता में वयस्कता को प्राप्त होने पर जो स्वतंत्रता का अधिकार दिया जाता है, वह भी इन्हीं कुण्ठाओं का उपचार है। स्वतन्त्रता आत्मगौरव का एक सामान्य और निरपेक्ष रूप है। भारतीय नीति में सोलह वर्ष की अवस्था होने पर पुत्र को मित्र के समान आदर देने का विधान भी इसी मन्तव्य से किया गया है। संस्कारों के अधिकाधिक समारोह-पूर्ण उत्सवों में इस नीति का सत्य एक व्यापक सौन्दर्य के साथ चरितार्थ हुआ है।

जीवन के सौन्दर्य और आनन्द की दृष्टि से यह अत्यन्त उपयुक्त है। जीवन का सौन्दर्य और आनन्द विकासशील वय में सबसे अधिक समृद्ध होता है। प्रकृति का उपभोग इसका केवल एक अंग है। किन्तु स्वस्थ

रूप में वह भी महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक मूल्य भी विकासशील वय में अधिक ऐश्वर्य से विभासित होते हैं। यौवन के बाद जीवन का उत्कर्ष मन्द होता जाता है और प्राकृतिक भोगों के साथ-साथ सांस्कृतिक सौन्दर्य का निसर्ग उल्लास भी मन्द होता जाता है। यौवन जीवन के उत्कर्ष का चरम बिन्दु है। यौवन के बाद जीवन की सभी दिशाओं में ह्रास का आरम्भ हो जाता है। जीवन का धनुषाकार विकास मानों यौवन में अपने मध्य बिन्दु पर पहुँचता है, जहाँ से वार्धक्य की ओर अधोगति आरम्भ हो जाती है। जीवन की इस उत्तर वय का भी अपना सौन्दर्य और महत्व है, फिर भी कैशोर और यौवन का सौन्दर्य ही सबसे अधिक मधुर और रसमय मानना होगा। इस वय में जीवन के सभी भावों की सबसे अधिक समृद्धि होती है। यदि प्रकृति के क्षेत्र से उपमा दें तो यौवन जीवन का बसन्त है, जिसमें जीवन के सौन्दर्य की समृद्धि पुष्पित और फलित होती है। बाल्य में अंकुरित होकर जीवन कैशोर तक मंजरित होता है, और यौवन में वह अपनी पूर्ण समृद्धि से फलता फूलता है। इस प्रकार यौवन तक जीवन का विकास होता है। अतः जीवन के पर्वों का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। संस्कारों की योजना में यौवन पर्यन्त इन संस्कारों की बढती हुई महिमा का सन्निधान है। जातकर्म की अपेक्षा उपनयन और उपनयन की अपेक्षा विवाह अधिक समारोह के साथ मनाया जाता है। उत्तरोत्तर बढ़ते हुए वय संस्कारों में सांस्कृतिक मूल्यों की सम्भावनाएँ भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं। संस्कारों की योजना में यौवन पर्यन्त संस्कारों का बढ़ता हुआ महत्व संस्कृति के समृद्धिशाली दृष्टिकोण के अनुरूप है।

संस्कृति की इस समृद्धिशील गति का सामंजस्य यौवन के उपरान्त प्रकृति की अधोमुखी गति के साथ जीवन और सस्कृति के सृजनात्मक सूत्र के द्वारा होता है। यौवन में जहाँ एक ओर जीवन का उत्कर्ष पूर्ण होकर ह्रास की गति प्रारम्भ हो जाती है, वहाँ दूसरी ओर सृजन की नवीन सम्भावनाएँ उदित होती हैं। इन सृजन की सम्भावनाओं में ही सांस्कृतिक जीवन की उत्कर्षमुखी गति के सूत्र रहते हैं। यौवन संस्कृति की इसी उमृद्धिशील गति का पीठ है। सृजन की शक्ति यौवन का अपूर्व

ऐश्वर्य और जीवन की अद्भुत विभूति है। यौवन के इस ऐश्वर्य में ही जीवन का चक्र अपनी परिक्रमा पूर्ण करता हैं। सृजन ही जीवन का स्वरूप है। सृजन की शक्ति जीवन को अस्तित्व देती है। इस अस्तित्व में जीवन को सृष्टि की संज्ञा मिलती है। जीवन की शक्ति और उसके ऐश्वर्य की समृद्धि यौवन में पूर्ण होकर स्रष्टा का पद देती है। सृष्टि की परम्परा में बीज और अंकुर के रूप में स्वयं उत्पन्न होने वाला जीवन यौवन सम्पन्न होकर जीवन की नवीन वनराजियों की रचना करता है। किन्तु सृजन के द्वारा मनुष्य-जीवन में संस्कृति की परम्परा का भी निर्वाह होता है। अतः जाति की परम्परा के साथ-साथ जीवन का विधाता मनुष्य संस्कृति की परम्परा का भी उत्तरदायी बन जाता है। यौवन की पूर्णता में जीवन का यह द्विविध उत्तरदायित्व मनुष्य का भागधेय बन जाता है। इसी में यौवन का गौरव और उसका कर्तव्य दोनों हैं। संस्कारों की परम्परा में यौवन के इन दोनों ही पक्षों का निर्वाह है। एक ओर यौवन के परिणय पर्व को सबसे अधिक समारोह के साथ सम्पन्न किया जाता है। दूसरी ओर विवाह के बाद मनुष्य किसी संस्कार का पात्र नहीं बनता, वरन् अपने से छोटे और अपनी संतति के संस्कार-पर्वों में योग देता है। इसका मनोवैज्ञानिक समाधान यह है कि यौवन में मनुष्य का विकास पूर्ण हो जाता है और नवीन संस्कारों की सम्भावना नहीं होती। धार्मिक समाधान यह है कि प्रकृति के परिशोधन के अर्थ में समावर्त्तन में मनुष्य का संस्कार पूर्ण हो जाता है और उसको फिर किसी संस्कार की अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन के चक्र की दूसरी परिक्रमा आरम्भ हो जाती है। जन्म से आरम्भ होकर जीवन का सृजनात्मक चक्र विवाह में अपने बिन्दु पर आकर नवीन सृजन का आरम्भ करता है। अपने विकास-काल में मनुष्य अपने सांस्कृतिक अधिकारों का उपभोग करता है। विवाह के बाद ये अधिकार उसके कर्तव्य बन जाते हैं। अधिकारों और कर्तव्यों का यह सन्तुलन संस्कारों की परम्परा का एक महत्वपूर्ण रहस्य है। प्रौढ़ों के द्वारा बालकों और किशोरों के प्रति उनके सांस्कृतिक कर्तव्यों का निर्वाह ही समाज में सुसंस्कृत, समर्थ और उत्तरदायी युवकों का निर्माण कर सकता है।

इस सन्तुलन में ही संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा अमर वनी रहती है।

इस प्रकार संस्कारों की परम्परा में समाज के सांस्कृतिक जीवन का एक संतुलित दृष्टिकोण सन्निहित है। इस संतुलन में सृजन और विकास के साथ-साथ अधिकारों और कर्तव्यों के रूप में वय के पूर्व और उत्तर भागों का उचित सामंजस्य है। संस्कारों की व्यवस्था में वाल्य और कैशोर के प्रति प्रौढ़ जीवन का दृश्टिकोण अत्यन्त उदार और उचित है। ये दोनों जीवन के विकासकाल हैं। दोनों में अनेक असमर्थताएँ रहती हैं। इन असमर्थताओं के कारण दोनों में कर्तव्यों की अपेक्षा अधिकार अधिक रहते हैं। जीवन की ये अवस्थाएँ भार की अपेक्षा आनन्द के अधिक योग्य होती हैं। जीवन की पर्वतीय वाल-सरित को विस्तार की अपेक्षा गति और विहार अधिक चाहिए। यह काल जीवन के स्वच्छ और स्वच्छन्द आनन्द का अधिकारी है। इस आनन्द की व्यवस्था करना प्रौढ़ों का कर्तव्य है। वाल्य और कैशोर में आनन्द का अधिकार पाकर ही मनुष्य यौवन और प्रौढ़ वय में वालकों और किशोरों के प्रति अपने कर्तव्य के निर्वाह के योग्य वनता है। वालकों और किशोरों का गौरव और उनके लिए आनन्द की व्यवस्था सभ्यता के उत्कर्ष का मापदंड है। मध्यकालीन सभ्यता ने जीवन के इस रहस्य को वहुत कम समझा था। राजनीतिक संघर्षों के कारण सभ्यता के इतिहास में प्रोढ़ों और वृद्धों का शासन ही प्रमुख रहा है। आधुनिक युग में मनोविज्ञान ने जीवन के पूर्व पर्वों के महत्व को उद्घाटित किया है। तवसे सभ्यता इस ओर कुछ ध्यान दे रही है। भारतीय संस्कारों की योजना में इस महत्व का स्पष्ट सन्निवान है। भारतीय समाज में भी यदि इसका निर्वाह नहीं हो सका, तो उसका कारण प्रौढ़ों का प्राकृतिक अहंकार ही रहा। किन्तु संस्कारों का अभीष्ट स्पष्ट है। उसका निर्वाह करके ही भारतीय संस्कृति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकती है। धार्मिक दृष्टि से संस्कारों का उद्देश्य प्रकृति का शोधन तथा मनुष्य के नैतिक और सामाजिक चरित्र का निर्माण है। धर्मशास्त्र जिन्हें गर्भ के दोष कहते हैं, उन्हें हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृति के दोष कह सकते हैं। प्रकृति के धर्मों में अपने आप में कोई

दोष नहीं है, किन्तु मनुष्य की बुद्धि और कल्पना प्रकृति के सहज धर्मों का अतिरंजन करती हैं। आर्थिक साधनों और सामाजिक परिस्थितियों की सीमाओं के कारण यह अतिरंजना अनेक विषमताओं का कारण बनती है। इन विषमताओं में प्रकृति के धर्म दोषों की दिशा में भी प्रवृत्त होते हैं। शासन व्यवस्था के नियम और विधान कुछ इन दोषों का प्रतिरोध कर सकते हैं। किन्तु शासन का बाहरी नियन्त्रण प्रकृति में कोई सुधार नहीं करता। शिक्षा और आदर्श के संस्कारों के द्वारा प्रकृति में सुधार की सम्भावना अधिक रहती है। बाल्यावस्था में इन संस्कारों के अंकुर उगाए जाने पर वे अधिक सफल होते हैं। प्रकृति के परिशोधन का उद्देश्य संस्कारों की योजना में इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार सार्थक होता है। भारतीय संस्कारों का विधान मनोवैज्ञानिक संस्कार और धार्मिक परिशोधन दोनों ही अर्थों में सार्थक है। इस उभयविध सार्थकता के द्वारा वह नैतिक और सामाजिक चरित्र के निर्माण का पथ प्रशस्त करता है।

चरित्र के निर्माण का मनोवैज्ञानिक नियम यह है कि जितना अल्प अवस्था में बालक के जीवन में जो प्रभाव होते हैं, उनके संस्कार उतने ही दृढ़ होते हैं। बाल्य और कैशोर की अवस्थाएँ ऐसी हैं कि इनमें जितने अच्छे संस्कारों का बीजारोपण किया जा सके, उतना ही चरित्र के निर्माण के लिए हितकर है। संस्कारों की योजना इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुरूप है। व्यक्तित्व के निर्माण-काल की समस्त अवधि संस्कारों के निर्माणकारी प्रभाव से चर्चित है। संस्कारों का यह निर्माणकारी प्रभाव उपदेश के रूप में नहीं, वरन् परिवेश के प्रभाव के रूप में होता है। चरित्र का निर्माण उपदेश से नहीं होता। उपदेश बुद्धि को आलोकित करता है। बुद्धि व्यक्तित्व का केवल एक अंग है। चरित्र समग्र व्यक्तित्व का शील है। बुद्धि के मार्ग से उपदेश समग्र व्यक्तित्व को प्रभावित नहीं कर सकता। बुद्धि में गति और भावना नहीं है। जीवन में गति और भावना का महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्तित्व भी गतिशील और भावना-पूर्ण होता है। चरित्र में इन दोनों के लक्षण समाहित रहते हैं। चरित्र का निर्माण परिवेश के क्रियात्मक अरी भावनायुक्त प्रभाव से हो सकता

है। संस्कारों की योजना में सामाजिक परिवेश का प्रभाव क्रिया और भाव दोनों के माध्यम से चरित्र के निर्माण में योग देता है। सामाजिक परिवेश का प्रभाव साक्षात् किन्तु अलक्षित रूप में होता है। परिवेश के वायुमंडल में प्रभावों के उद्देश्य और दिशाएँ स्पष्ट नहीं रहती। काव्य-शास्त्र की भाषा में कहें तो यह कहना होगा कि परिवेश के प्रभाव में अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना का भाग अधिक रहता है। अभिधा उपदेश की शक्ति है। उसके अभिप्राय स्पष्ट रहते हैं, किन्तु प्रभाव सजीव नहीं रहते। परिवेश का प्रभाव अलक्षित होने के साथ-साथ सजीव और स्थायी होता है। मन के संस्कारों के रूप में वह जीवन में घुल-मिल कर एकरस हो जाता है। इस प्रकार वह व्यक्तित्व में अन्वित होकर चरित्र का विधान करता है। चरित्र के गुण जीवन में इसी रूप में स्थायी हो सकते हैं। सम्बन्ध और भाव के अलक्षित अतिशय के द्वारा परिवेश में व्याप्त लक्षणा और व्यंजना की शक्तियाँ उसी प्रकार चरित्र का निर्माण करती हैं, जिस प्रकार जल, भूमि, वायु, धूप आदि का प्रभाव वृक्षों में पुष्प और फल खिलाता है। बालक के संस्कार के लिए प्रकट रूप में जो कर्म किए जाते हैं, उनका अभिधेय अर्थ ही संस्कारों का सम्पूर्ण तात्पर्य नहीं है। वे कर्म तो संस्कारों के निमित्त मात्र हैं। इन निमित्तों के लघु आशय में क्रियाओं, सम्बन्धों और भावों का जो विपुल उत्सव सम्पन्न होता है, वह संस्कारों के पात्रों के जीवन का संस्कार तो करता ही है, साथ ही उसमें भाग लेने वाले सभी सामाजिक जनों के नैतिक संस्कारों को भी नवीन प्रेरणा देता है। इस प्रकार संस्कारों की सामाजिक परम्परा में समाज के चरित्र की परम्परा इतिहास का एक सहज क्रम बन जाती है। सम्बन्धों और भावों का अतिशय लक्षणा और व्यंजना के द्वारा इन संस्कारों को संस्कृति की निधि और कलात्मक सौन्दर्य की विभूति बनाता है। इसके अतिरिक्त संस्कारों की विधियों में जिन अनेक परम्परागत रूपों की आराधना होती है, वे इनके सांस्कृतिक सौन्दर्य को समृद्ध बनाते हैं। सांस्कृतिक उत्सव होने के साथ-साथ संस्कारों में धार्मिक पवित्रता का भाव भी समाहित है। चाहे मूल रूप में वे संस्कृति की परम्परा रहे हों, किन्तु आगे चलकर धर्मशास्त्र ने भी

उन्हें अपने अनुशासन का विषय बनाया है। धार्मिक विधियों के योग से संस्कारों के कर्म और उत्सव एक पवित्रता से आप्लुत हो जाते हैं। उनके सांस्कृतिक सौन्दर्य में पवित्रता का भाव समाहित होता है। संस्कारों के उत्सव की सुषमामयी उषाएँ इस पवित्रता से वन्दनीय बनती हैं। पवित्रता से अंचित होकर संस्कार के सौन्दर्य में श्रेय का सन्निधान होता है। सौन्दर्य और श्रेय से युक्त होकर समात्मभाव का सत्य जीवन के इन संस्कारों को संस्कृति का तीर्थ बनाता है। परिवेश के प्रभाव की भाँति संस्कारों का धार्मिक भाव भी पात्र के साथ-साथ सभी सामाजिक जनों में मन को पवित्र बनाता है। इस पवित्रता के भाव से चरित्र के संस्कार और दृढ़ होते हैं। धर्म की निष्ठा संस्कृति के सौन्दर्य और श्रेय को स्थायी बनाती है। यह कहना अनुचित न होगा कि संस्कारों के उत्सव सामाजिक जनों में नैतिक शील के संस्कारों को अधिक सम्पन्न रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। पात्रों के लिए संस्कारों के लिए प्रत्यक्ष फल के अतिरिक्त सामाजिक जनों में नैतिक संस्कारों की पवित्र प्रेरणाएँ समाज के चरित्र-निर्माण की परम्परा को बलवती बनाती हैं। इस प्रकार व्यापक और विविध रूप में ये संस्कार समाज की सांस्कृतिक गतिविधि के सक्रिय सूत्र हैं।

संस्कारों की व्यवस्था का आधार व्यक्ति के जीवन का सांस्कृतिक विकास है। इस सांस्कृतिक विकास में एक ओर व्यक्ति के जीवन में प्रकृति के साथ सांस्कृतिक मूल्यों का समन्वय है और दूसरी ओर व्यक्ति का समाज के साथ सामंजस्य है। सांस्कृतिक मूल्यों को आध्यात्मिक कहना उचित है, क्योंकि वे मनुष्य की प्रकृति के स्वभाविक लक्षण नहीं हैं, वरन् चेतना की स्वतंत्रता साधना में प्रकाशित होते हैं। अनेक रूपों में इनके लक्षण प्रकृति से भिन्न हैं। मनुष्य के जीवन में प्रकृति के आधार में ही ये मूल्य प्रतिष्ठित होते हैं, फिर भी इनका स्वरूप प्रकृति के धर्मों से विलक्षण है। संस्कृति को हम प्रकृति के सरोवर में खिलने वाला कमल कह सकते है। इसके मूल चाहे जीवन के पंक में हों किन्तु उसका सौन्दर्य-पुष्प जीवन के धरातल के ऊपर ही खिलता है। इस दृष्टि से संस्कृति के भाव और रूप प्रकृति के आधार में पुष्पित होने वाले

अतिशय में खिलते हैं। भारतीय संस्कारों की योजना में भावों और रूपों के इस अतिशय को एक सहज और सुन्दर रूप में प्राकृतिक आश्रय में ही प्रतिष्ठित किया गया है। प्रकृति को मुक्त भाव से स्वीकार करके उसका संस्कार करना संस्कारों का उद्देश्य है। 'संस्कार' की संज्ञा में ही इसका निर्देश है। सांस्कृतिक मूल्यों और भावों का अन्वय प्रकृति में एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक मानवीय और कलात्मक ढंग से किया है। जीवन के पूर्व पर्वों में संस्कारों की शृंखला अचेतन और परिवेशीय प्रभाव के अनुकूल है। कलात्मक सौन्दर्य का सन्निधान संस्कारों के समारोह, उसकी विधि, प्रणाली, परिवेश आदि सब में है। कला प्रकृति और संस्कृति के अन्वय का सुन्दर सूत्र है। इसी सूत्र में गुम्फित होकर सांस्कृतिक मूल्यों की मणियाँ प्रकृति का कंठहार बनती हैं।

प्रकृति का स्वीकरण संस्कारों की योजना में अनेक रूपों में मिलता है। जीवन और जगत में निसर्ग से जो कुछ प्राप्त है और जिसमें मनुष्य का कृतित्व नहीं है, उसे हम प्रकृति कह सकते हैं। उसकी सत्ता और प्रक्रिया दोनों में ही मनुष्य का अधिकार नहीं है। केवल इतना ही सम्भव है, कि मनुष्य कुछ सिद्धान्तों और आदर्शों के अनुसार इन प्रक्रियाओं का समायोजन कर सकता है। मनुष्य की देह इस प्रकृति का ही अंग है। इसके अतिरिक्त समस्त बाहरी पदार्थ प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं। इस पदार्थ के जगत का देह की सत्ता और उसके जीवन से सम्बन्ध है। देह मनुष्य के जीवन का अधिष्ठान है। देह की सत्ता में ही जीवन के सांस्कृतिक मूल्य सम्पन्न होते हैं। मनुष्य के जन्म में देह की सत्ता स्वरूप ग्रहण करती है। मनुष्य का जन्म संस्कारों की योजना में एक उत्सव का विषय है। जन्म से लेकर विवाह तक जितने भी संस्कार होते हैं, उन सभी के शरीर की प्राकृतिक वृत्तियों, बाह्य प्रकृति, बाह्य उपादान आदि का उचित महत्व है। मायावाद और संन्यासवाद का संस्कारों की योजना में कोई स्थान नहीं है। प्रकृति और जीवन की दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण भावात्मक और स्वीकारात्मक है। संस्कारों की योजना में भी भारतीय संस्कृति का यह लक्षण विद्यमान है। संस्कृति के सभी पर्वों और उत्सवों की भाँति

संस्कारों में भी प्रकृति की एक सुन्दर और सम्पन्न भूमिका है। मनुष्य की सत्ता और देह को इसमें आदर का स्थान दिया गया है, तथा इसके साथ मनुष्य की प्रवृत्तियों का भी उचित स्थान है। भारतीय पर्वों और उत्सवों में भोजन का जो प्रमुख स्थान है, उससे यह प्रकट होता है, कि प्रकृति और लौकिक जीवन के निम्नतम उपकरणों को सांस्कृतिक ढांचे ढ़ाला गया है। भारतीय संस्कृति इस अर्थ में आध्यात्मिक नहीं है, कि उसमें देह और जगत की अपेक्षा आत्मा की महिमा अधिक है। उसकी आध्यात्मिकता प्रकृति और जीवन की उपेक्षा में भी नहीं है। ये सब अध्यात्म के निषेधात्मक रूप हैं, जिनकी दर्शनों में कुछ प्रधानता है और दर्शनों को उक्त अर्थ में आध्यात्मिक माना भी जा सकता है। किन्तु भारतीय संस्कृति इस निषेधात्मक अर्थ में आध्यात्मिक नहीं है। वह एक भावात्मक अर्थ में आध्यात्मिक है। प्रकृति और जीवन के लौकिक उपकरणों को स्वीकार करके वह उन्हें आध्यात्मिक मूल्यों से मंडित करती है। प्रकृति के सरलतम आधारों में आध्यात्मिक और सांस्कृतिक भावों का सौन्दर्य खिलता है। भोजन मनुष्य और पशु का समान धर्म है। यह निम्नतम प्राकृतिक धर्म भी है, क्योंकि इसी पर जीवन की सत्ता निर्भर है और यह सबसे अधिक स्वार्थमय भी है। जीवन के इस सबसे साधारण प्राकृतिक आधार में सांस्कृतिक सौन्दर्य का समावेश करके भारतीय संस्कृति के विधायकों ने प्रकृति और संस्कृति की संधि का दृढ़ और विशाल सेतु बनाया है। संस्कृति का यह सेतुबन्ध भारतीय जीवन का पवित्रतम तीर्थ है। भोजन में संस्कृति के भावों का अन्यवय संस्कृति का ऐसा राजमार्ग है, कि उस पर भारतीय जनता प्रतिदिन विहार करती है। भोजन की भूमिका में सांस्कृतिक सौन्दर्य और सामाजिक समात्म-भाव का समावेश प्रकृति के परिष्कार और उन्नयन का प्रथम सूत्र है। इस समन्वय को हम संस्कृति का द्वार भी कह सकते हैं। इसी द्वार से संस्कृति की अनेक दिशाओं के मार्ग खुलते हैं। भोजन की वृत्ति में आतिथ्य, सत्कार, सद्भाव, परार्थ आदि के द्वारा भोजन की निम्न और साधारण प्रकृति वृत्ति में एक अद्भुत चमत्कार के साथ सांस्कृतिक सौन्दर्य का समन्वय किया है। यह सांस्कृतिक सौन्दर्य देश-देश के अनुसार

भोजन के रूप की विशेषताओं तथा आतिथ्य और परिवेषण की विधियों के द्वारा सम्पन्न होता है। भोजन के आतिथ्य में सद्भाव और परार्थ का सांस्कृतिक भाव इतनी महिमा के साथ अन्वित हुआ है, कि अतिथि-सत्कार करने वाले के लिए हमारी भाषा में कोई नाम भी नहीं है। भारतीय भोजन विधि में मानों अतिथि-सत्कार करने वाले पूर्ण विनय और सद्भाव में अपने अहंकार और अस्तित्व को विलीन करके स्नेह और सेवा के भाव से उसे भोजन के साथ ही अतिथि के हाथों में समर्पित कर देते हैं। भोजन जैसी परम स्वार्थमय वृत्ति में प्रेम और परार्थ का अन्वय करके विपरीत धर्मों की संन्धि में संस्कृति की भूमिका बनाना भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा चमत्कार है। बालक के अन्नप्राशन संस्कार में भोजन का प्राकृतिक धर्म एक सांस्कृतिक पर्व बन गया है। अन्नप्राशन बालक का सर्वप्रथम अन्नग्रहण है। यह संस्कार भोजन को एक अपूर्व सांस्कृतिक सौन्दर्य से अलंकृत करता है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी संस्कारों के अवसर पर समारोह के अन्य पक्षों के साथ भोजन का भी प्रमुख योग रहता है। जिस प्रकार भोजन जीवन का आधार है, उसी प्रकार वह संस्कारों के समारोह का आधार भी रहता है। किन्तु आतिथ्य के औदार्य और उत्सव के सौन्दर्य से मिलकर भोजन का यह आधार केवल प्राकृतिक धर्म नहीं रह जाता, वह एक सांस्कृतिक सौन्दर्य और उल्लास का निमित्त बन जाता है। भोजन की सामग्री, पदार्थों के रूप, भोजन के पात्र, स्थान, परिवेषण की विधि और इन सबके सम्मिलन से उत्पन्न होने वाले समग्र वातावरण में रूप और भाव का इतना अतिशम उत्पन्न हो जाता है, कि भोजन के प्राकृतिक धर्म में सांस्कृतिक सौन्दर्य और उल्लास का स्रोत उमड़ता है। भोजन से सीधा सम्बन्ध रखने वाले रूप और भाव के इस अतिशय के अतिरिक्त संस्कारों के समारोह में सम्पन्न होने वाले विधि, कर्म, वाद्य, गति आदि सब मिलकर रूप और भाव के अतिशय को इतना बढ़ा देते हैं कि संस्कारों के उत्सव में समग्र सामाजिक जीवन अपार सौन्दर्य और और आनन्द से आप्लावित हो जाता है। भोजन का प्राकृतिक धर्म अपने स्वरूप में प्राकृतिक रहते हुए भी सांस्कृतिक सौन्दर्य और आनन्द में अन्वित होकर दिव्य बनता है।

भोजन के अतिरिक्त अन्य अनेक उपकरणों के रूप में प्रकृति के उपादान सांस्कृतिक सौन्दर्य के निमित्त बनते हैं। पत्र, पुष्प, फल, रोली, चावल, पान, सुपारी, नारियल, आटा, मिट्टी आदि अनेक-विध उपकरणों के रूप में संस्कारों के साथ प्रकृति का संयोग रहता है। यह सहयोग प्रकृति के साथ मनुष्य का एक व्यापक सम्बन्ध स्थापित करने के साथ-साथ जीवन के प्राकृतिक और भौतिक आधारों में सौन्दर्य के संस्कार भी अंकित करता है। इन उपकरणों के निमित्तों में संस्कारों के प्रसंग में विधि, परम्परा आदि के द्वारा रूप का एक अतिशय उत्पन्न होता है। इस अतिशय में ही सौन्दर्य उदित हो जाता है। सम्बन्धों के संयोग से ये उपकरण लक्षणा के सौन्दर्य और मंगल भाव की व्यंजना के निमित्त मात्र रहते हैं। प्रकृति के उपकरणों और उपादानों को उत्सव के लिए विशेष और नवीन रूपों से सज्जित किया जाता है। इस सज्जा के द्वारा रूप के अतिशय में कलात्मक सौन्दर्य उदित होता है। सम्बन्धों के विस्तार उसमें लक्षणा का चमत्कार समाहित करते हैं। भाव के अतिशय से इस सौन्दर्य में आनन्द के स्रोत फूटते हैं। कलात्मक सौन्दर्य से परिपूर्ण संस्कार आदि आनन्द के पर्व बन जाते हैं। विशेष सौन्दर्य से सज्जित प्रकृति भी आनन्द का केवल निमित्त ही रहती है। प्रकृति का अतिरेक भी प्रकृति के स्वार्थ को नहीं बढ़ाता, यद्यपि वह प्रकृति के सुख को बढ़ाता है। प्रकृति के सुख की समृद्धि के पीछे के संस्कृति के इतने उदात्त भाव रहते हैं कि स्वार्थ और अहंकार उसमें विलीन हो जाते हैं। प्राकृतिक सुख की समृद्धि भी सांस्कृतिक आनन्द की सीमाओं को छूती है। भारतीय संस्कारों और पर्वों का यह अद्भुत चमत्कार है, कि विपुल मात्रा में प्रकृति का ग्रहण करके और प्रकृति के निमित्तों से अलंकृत करके भी वे प्रकृति के स्वार्थ और अहंकार के दोषों को बढ़ाने के स्थान पर कम करते हैं, तथा समृद्ध प्रकृति के सौन्दर्य में संस्कृति के भावों का उत्कर्ष करते हैं। संस्कारों का यह अद्भुत रहस्य है कि वे प्रकृति की समृद्धि के साथ-साथ संस्कृति के अभ्युदय के पर्व हैं। भारतीय संस्कृति का यह चमत्कार इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है कि आधुनिक सभ्यता में प्रकृति की समृद्धि सांस्कृतिक भावों के ह्रास का कारण बन गयी है। भारतीय

संस्कारों का यह चमत्कार जन्म से लेकर मरण तक व्याप्त है और मिट्टी, पत्ते आदि से लेकर वस्त्र, आभूषण आदि तक तुच्छ से तुच्छ और उत्तम से उत्तम उपादान संस्कृति के विशाल अंचल में संजोए हुए हैं। गर्भाधान और प्रसव तथा जन्म से लेकर विवाह और मरण तक के प्राकृतिक धर्म इन संस्कारों के सौन्दर्य से अंचित होकर पवित्र तथा सुन्दर बन गए हैं। इन संस्कारों का सौन्दर्य और भाव इतना विपुल है, कि इन प्राकृतिक धर्मों की प्राकृतिक स्वार्थपरता, वीभत्सता और भीषणता इनमें तिरोहित हो गई है। सांस्कृतिक सौन्दर्य और भाव ने इन प्राकृतिक धर्मों को अपने स्वरूप में इतना आत्मसात् कर लिया है, कि वे कलात्मक और दिव्य बन गए हैं। प्रकृति के धर्मों में सौन्दर्य और पवित्रता के स्रोत उमड़ते हैं। प्रकृति का अतिरेक भी सम्मोहन और अतिचार न बन कर सांस्कृतिक भावों के उत्कर्ष का निमित्त बनता है। प्रकृति के अभ्युदय और संस्कृति के उत्कर्ष का यह समन्वय भारतीय संस्कृति का एक अद्भुत चमत्कार है। संस्कारों की योजना में मानवीय जीवन के विकास में अन्वित होकर यह दिव्य चमत्कार विपुल मानवीय भाव से भी पूर्ण हो गया है।

भारतीय संस्कारों का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है, कि उनकी योजना में समाज के विभिन्न वर्ग सहज भाव से एक सुन्दर व्यवस्था में सम्मिलित हो जाते हैं। जीवन का अधिकांश प्राकृतिक है और वह प्राकृतिक धर्मों के स्वार्थमय निर्वाह में व्यतीत होता है। बालक, वृद्ध, युवक, स्त्री, पुरुष तथा अन्य प्रकारों से विभासित वर्ग अपने-अपने प्राकृतिक कर्मों में लीन रहते हैं। उनके सम्बन्धों की सामाजिक व्यवस्था बहुत कुछ परोक्ष उपयोगिता पर निर्भर है। एक दूसरे के हित का सम्पादन करते हुए भी इसका वोध उनके जीवन में किसी सांस्कृतिक भाव की सृष्टि नहीं करता। इसके विपरीत सभ्यता के विकास में उनका परार्थ भी स्वार्थ बन गया है। जीविका और निर्वाह का आग्रह अधिक प्रकट होने के कारण उसके स्वार्थ में भी सम्पन्न होने वाला परार्थ भाव तिरोहित हो गया है। इस प्रकार सभ्यता में जीवन का प्राकृतिक और स्वार्थमय रूप अधिक प्रखर होता गया। समाज के विभिन्न वर्ग अपने-अपने स्वार्थ की सीमाओं में

अपनी जीविका का उपार्जन करते हैं। आधुनिक सभ्यता की इस प्राकृतिक गति में मनुष्य का मन अत्यन्त अकेला और इस अकेलेपन के कारण उदासीन होता है। अकेलापन भावशून्यता की स्थिति है। सामाजिक सम्पर्क और समात्मभाव में ही मन की भाव-विभूति का अभ्युदय होता है। यही अभ्युदय आनन्द का स्रोत है। प्राकृतिक जीवन के स्वार्थ और एकान्त स्थान में बँध जाने के कारण भावशून्य होकर आज के इस सभ्य मनुष्य का मन उदासीन होता जा रहा है। भारतीय संस्कृति की योजना में इस एकान्त और शून्यता के अनेक उपचार समाहित हैं। संस्कृति की समस्त योजना सामाजिक समात्मभाव पर आश्रित है। पर्व, संस्कार आदि सभी अवसर मनुष्य के एकान्त और उसके मन की शून्यता को मिटाकर उसे स्नेह और सौहार्द के विपुल भावों से सम्पन्न बनाते हैं। इन भावों की सम्पन्नता में मनुष्य का जीवन महिमामय बनता है। सम्बन्धों की लक्षणा और भावों की व्यंजना से उसका मन गौरव और पूर्णता का अनुभव करता है। संस्कारों की योजना में यह सामाजिक समात्मभाव अनेक विशेष रूपों में समाहित है। ये विशेषताएँ संस्कारों के सांस्कृतिक सौन्दर्य को भावों की सम्पत्ति में अन्वित करती है।

भारतीय संस्कृति के पर्व, उत्सव, संस्कार आदि अनेक रूपों का मूल आधार ही सामाजिक समात्मभाव है। वे बाह्य रूप से ही सामाजिक सम्बन्धों में सम्पन्न नहीं होते, वरन् आन्तरिक दृष्टि से भी मनुष्य के मन को हर्ष और उल्लास से पूर्ण बनाते हैं। वस्तुतः एकान्त और सामाजिकता केवल मनुष्य की बाहरी स्थिति नहीं है। बाहरी स्थिति की अपेक्षा इनमें मनुष्य की आन्तरिक स्थिति का महत्व अधिक है। बाहरी दृष्टि से बड़े-बड़े नगरों की घनी आबादी में रहते हुए भी बड़े नगरों का निवासी अकेलेपन का अनुभव करता है। जन समूह में रहते हुए भी वह मन से अपने आप को अकेला पाता है। अकेलेपन में मनुष्य का मन उदासीन और शून्य हो जाता है। आन्तरिक सम्बन्धों की घनिष्ठता और आत्मीयता से ही मन भाव-सम्पत्ति से पूर्ण होता है। सम्बन्धों की आत्मीयता में उदित होने वाले रसमय भाव ही जीवन और संस्कृति की विभूति हैं। इन भावों की विभूति से ही जीवन सम्पन्न और पूर्ण होता

है। इन भावों की विपुल समृद्धि में ही बाहरी सामाजिक सम्बन्ध सार्थक होते हैं। ये भाव जीवन के आन्तरिक मर्म हैं। आधुनिक सभ्यता के कोलाहलपूर्ण और सामूहिक जीवन में इन भावों का ही अभाव है। इसीलिए समूह के कोलाहल से गूँजते हुए नगरों में मनुष्य का मन सूना और अकेला है। इसके विपरीत भारतीय पर्वों, संस्कारों आदि की योजना में जीवन के प्रत्येक अवसर को सम्बन्ध और सम्मिलन का निमित्त बनाकर मन को सुन्दर और मंगलमय भावों से पूर्ण करने की व्यवस्था की गई है। यह व्यवस्था भारतीय लोक-संस्कृति में एक सहज परम्परा बन गई है।

सामान्य रूप से भारतीय संस्कृति के सभी रूप सामाजिक समात्म-भाव के अवसर हैं। प्रकृति और जीवन के अल्प निमित्तों के द्वारा पर्व, संस्कार आदि सभी मन को भावों से पूर्ण बनाते हैं। हमारे सांस्कृतिक पर्व अधिक व्यापक रूप में उल्लास का विस्तार करते हैं। किन्तु उनके अवसर सामान्य और निर्वैयक्तिक हैं। इनकी तुलना में संस्कारों के अवसर अधिक विशेष और वैयक्तिक हैं। व्यक्ति को निमित्त बनाकर ही संस्कारों का अनुष्ठान होता है, और व्यक्ति के सम्बन्ध-सूत्र से ही परिवार और कुटुम्ब के लोगों तथा अन्य सुहृदों के मन में आत्मीयता का भाव जागरित होता है। एक विशेष निमित्त के सूत्र से संस्कारों का सौन्दर्य और आनन्द एक विशेष तीव्रता लिए होता है। संस्कारों के भिन्न-भिन्न केन्द्रों से प्रकाशित होने वाली सांस्कृतिक सौन्दर्य की किरणें लोक-जीवन में अनेक प्रकार के सौन्दर्य-लोकों की रचना करती है। अपने विशेष रूपों की छटा से मण्डित प्रत्येक लोक का सौन्दर्य अपनी महिमा में निराला है। उसी समाज, कुटुम्ब और कुल में, उन्हीं परिचित सम्बन्धों में, उन्हीं भौतिक उपकरणों के द्वारा प्रत्येक संस्कार के अवसर पर सौन्दर्य के नए-नए रूप सम्पन्न होते हैं। संस्कारों के अवसरों की विशेषता और पात्र की व्यक्तिमत्ता उन्हें एक विशेष सौन्दर्य से मण्डित करती है। संस्कारों का विशेष सौन्दर्य प्रत्येक मनुष्य के बढ़ते हुए जीवन को नए-नए सौन्दर्य और भाव से भरता है। दूसरी ओर सम्बन्ध के लोगों और समाज को भी नए-नए सौन्दर्य की लहरों में तरंगित करता है। रूपों

श्रौर सम्बन्धों की विशेषता के कारण संस्कारों में सौन्दर्य अधिक होता है। सौन्दर्य के इस अतिशय में आनन्द के उच्छल निर्झर उमड़ते हैं। इनकी तुलना में पर्वों का सौन्दर्य अधिक व्यापक, किन्तु मन्द होता है। पारिवारिक केन्द्रीयता के कारण पर्वों में भी कुछ संस्कारों का-सा सौन्दर्य उदित हो जाता है। लक्ष्मीपूजा, होली आदि के पारिवारिक पूजन और उत्सव पर्वों को संस्कारों के तुल्य ही बना देते हैं। इस प्रकार उनकी निर्वैयक्तिकता में एक पारिवारिक विशेषता उत्पन्न हो जाती है, जो एक तीव्र सौन्दर्य को जन्म देती है। व्यक्ति और कुल में केन्द्रित होने के कारण संस्कार व्यापक, सामाजिक उत्सव नहीं बन सकते। किन्तु कुल में केन्द्रित होने के कारण वे समाज के अंग को सौन्दर्य और आनन्द से आप्लावित करते हैं। व्यापक होते हुए भी संस्कृति का सौन्दर्य और आनन्द समाज के परिमित भागों में ही सम्पन्न होता है। भारतीय संस्कृति निर्वैयक्तिक समूहों में विश्वास नहीं करती। जिस समूह में व्यक्तिगत सम्बन्ध और भाव नहीं है, उस समूह के सभी सदस्य समूह में होते हुए भी मन से अकेले ही रहते हैं। आज के नागरिक समाज की स्थिति ऐसी ही है, और भी सभाओं, समूहों आदि में मनुष्य भीड़ में भी अकेला ही रहता है। इस अकेलेपन के कोई सौन्दर्य और भाव नहीं होता। अकेलापन विशेषता की वह सीमा है, जिस पर जाकर संस्कृति का सौन्दर्य और भाव शून्य होकर लुप्त हो जाता है। व्यक्तित्वों के विशेष और आन्तरिक सम्बन्ध में ही सौन्दर्य का रूप और भाव-सम्पन्न होता है। इस सम्बन्ध को हम समात्मभाव कह सकते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से यह समात्मभाव विश्व-व्यापक हो सकता है।

किन्तु इतनी व्यापक भूमिका में सम्बन्धों का साक्षात् निर्वाह व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। परिमित समूहों के विशेष और व्यवहार्य सम्बन्धों में भी साक्षात् समात्मभाव और इसमें सम्पन्न होने वाला सांस्कृतिक सौन्दर्य तथा भाव सम्भव है। इसीलिए कुटुम्ब भारतीय संस्कृति का केन्द्र रहा है। किन्तु इस केन्द्र को संकीर्ण नहीं बनाया गया है। मुक्त और व्यापक सम्बन्धों के द्वार कुटुम्ब के भवन में खुले रहे हैं। समस्त वसुधा को इस कुटुम्ब के भाव की परिधि में समेटने की भावना

भी यहां रही है। किन्तु परिभित समूहों के विशेष और व्यक्तिगत सम्बन्धों में ही संस्कृति का सौन्दर्य और आनन्द सम्भव होता है। इसीलिए एक ओर संस्कारों में सांस्कृतिक सौन्दर्य और आनन्द को विशेष अवसरों में आश्रय दिया गया है। दूसरी ओर पर्वों के व्यापक और सामान्य सौन्दर्य को इस आश्रय में घटित किया गया है। पर्वों के सामान्य और सामाजिक उत्सव अपने घरेलू संस्करणों में ही उदित होकर समवेत रूप में समाज को सुशोभित करते हैं। समाज के सामान्य सौन्दर्य और आनन्द का कुल और परिवार के व्यक्तिगत सम्बन्धों में अन्वय भारतीय संस्कृति का एक अद्‌भुत चमत्कार है। संस्कार इस चमत्कार के विशेष नमूने हैं। संस्कृति के स्वरूप का आदर्श होने के कारण ही संस्कारों का संस्कृति के साथ शब्द-मूलक सम्बन्ध है। पर्वों के सम्बन्ध में यदि हम यह भी कहें, तो अनुचित न होगा कि घरों के सौन्दर्य-दीप मिलकर ही पर्वों के ज्योतिमय सूर्य की रचना करते हैं, अथवा घरों के पर्वतीय निर्झर ही मिलकर पर्वों की गंगा को रूप देते हैं। परिमित समूहों के समात्म-भाव की समाज के व्यापक सौन्दर्य और भाव से इतनी अद्‌भुत संगति भारतीय संस्कृति का मर्म है। संस्कारों में सौन्दर्य की आराधना का दीप जलता जाता है। पर्वों के अवसर पर वही सामाजिक सौन्दर्य की दीपावली का पुष्प बन जाता है। घर में दीपक के बिना यह सामाजिक दीपावली न तो सम्भव है और न सफल अथवा सार्थक हो सकती है। संस्कारों की केन्द्रीयता में तथा उनकी सामाजिक परिसीमा में सौन्दर्य की दीपावली के इसी दीपक की प्रतिष्ठा की गई है। इस दृष्टि से संस्कार सांस्कृतिक सौन्दर्य के बीज हैं। इन बीजों से उदित होने वाले वृक्ष भी समाज के सांस्कृतिक सौन्दर्य की वनराजियों की रचना करते हैं। व्यक्ति के पात्र में इनके माध्यम से सम्पन्न होने वाला सौन्दर्य और भाव समाज के क्षितिजों को भी अपने आलोक से प्रकाशित और अपनी सुषमा से अलंकृत करते हैं।

भारतीय संस्कृति के सभी रूपों की योजना सामाजिक समात्मभाव पर आश्रित है। इसीलिये रूप और भाव के अतिशय में सौन्दर्य के साथ-साथ आनन्द के स्रोत प्रवाहित होते हैं। सौन्दर्य रूप का अतिशय है।

आनन्द भाव का अतिशय है। एक अभिव्यक्ति है और दूसरी अनुभूति। शक्तितंत्र की भाषा में सौन्दर्य को विमर्श और आनन्द को प्रकाश कह सकते हैं। जिस समात्मभाव में आनन्द प्रकाशित होता है, उसके बिना सौन्दर्य का विमर्श भी सम्भव नहीं हो सकता है। इसीलिये प्रकाश और विमर्श के साम्य को पूर्ण सत्य माना गया है। शिव और शक्ति की अभिन्नता अथवा उनके साम्य का यही मर्म है। इस रहस्य के आधार पर ही भारतीय संस्कृति में सौन्दर्य के रूपों की प्रतिष्ठा सामाजिक समात्मभाव के आधार में की गई है। संस्कृति के सभी रूपों का सौन्दर्य सामाजिक परिस्थितियों में आन्तरिक सम्बन्धों के साम्य के द्वारा प्रकाशित होता है। पर्व, संस्कार आदि की योजना बाहरी दृष्टि से ही सामाजिक नहीं है, आन्तरिक दृष्टि से समभाव भी उनमें ओतप्रोत है। आत्मा के इसी समभाव के सूत्र में सम्बन्धों और उपकरणों की वह पुष्पमाला गुम्फित होती है, जो संस्कारों के सौन्दर्य की जयमाला है। जिस प्रकार संस्कारों के केन्द्र में जीवन के अनेक उपकरण एक बिन्दु में अन्वित होकर सौन्दर्य से अलंकृत होते हैं, उसी प्रकार संस्कारों के केन्द्र में भी समाज के विभिन्न वर्ग एक सामंजस्य के क्रम में व्यवस्थित होते हैं। जिस प्रकार रूपों की विपुलता सौन्दर्य का हेतु है, उसी प्रकार वर्गों की विभिन्नता समाज के सौन्दर्य का कारण है। किन्तु इस अनेकता में सामंजस्य होने पर ही सौन्दर्य उदित होता है। विरोध और विषमता होने पर कुरूपता उत्पन्न होती है। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि किसी भी प्रकार की विषमता होने पर वह सामंजस्य भंग हो जाता है, जो सौन्दर्य का आधार है। किन्तु समाज में वर्गों की विविधता और अनेकता अपने आप में सौन्दर्य की बाधक नहीं, वरन् साधक है। समात्मभाव व्यक्तित्वों की अनेकता में ही सम्पन्न होता है। समाज में वह वर्गों की अनेकता बन कर समाज के सौन्दर्य को बढ़ाता है। वर्गों की अनेकता आर्थिक व्यवस्था में व्यवसायों का रूप लेती है। इनका भी अपना स्थान और महत्व है, क्योंकि जीवन इतना सम्पन्न और विविध रूप है, कि अनेक प्रकार के व्यवसायों के द्वारा ही उसका निर्वाह सफल हो सकता है। आधुनिक साम्यवादी भी इस बात को मानते हैं। वे केवल आर्थिक

विषमताओं का विरोध करते हैं। विभिन्न वर्गों के अनेक व्यवसाय जीवन के विविध उपकरणों को सम्पादित करते हैं। व्यवसायों के अतिरिक्त आयु और सम्बन्धों के भेद तथा विभिन्न प्रकार समाज को ऐसे वर्गों की अनेकरूपता प्रदान करते हैं, जिनमें विरोध आवश्यक नहीं है, और जिनमें सामंजस्य होने पर समाज के जीवन में सौन्दर्य उदित होता है। वैसे तो भारतीय संस्कृति के सभी रूपों में इन विभिन्न वर्गों की सामंजस्य-पूर्ण व्यवस्था है। इन सबके समभावपूर्ण सहयोग से ही पर्व, उत्सव, संस्कार आदि का सौन्दर्य सम्पन्न होता है। संस्कारों की योजना में समाज के विभिन्न वर्गों का सामंजस्य अधिक स्फुट रूप में व्यवस्थित है। पर्वों के उत्सव अधिक व्यापक, किन्तु निर्वैयक्तिक होते हैं। अतः उनके सामाजिक सूत्र में संगुम्फन की सघनता नहीं होती, और ऐसी तीव्रता भी नहीं होती, जैसी की संस्कारों में होती है। संस्कारों के व्यक्तिगत और विशेष केन्द्र में तथा परिवार की परिधि में समभाव के सूत्र द्वारा गुम्फित होकर समाज के विभिन्न वर्ग एक ऐसी सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था में नियोजित होते हैं, उसमें संस्कृति के सौन्दर्य की उद्यान श्रेणियाँ खिलती जाती हैं।

समाज के वर्गों में से कौटुम्बिक तथा अन्य निकट सम्बन्धों की सामंजस्यपूर्ण घनिष्ठता संस्कारों के केन्द्र में विशेष रूप से अनुष्ठित होती हैं। संस्कारों के अवसर पर घर का वातावरण सहस्रों प्रसन्न दलों से युक्त कमल के समान खिल उठता है। अनेक कुटुम्बी जन, सम्बन्धी, परिजन और परिचित एक ही पुष्प के दलों के समान संस्कार के सौरभ-पूर्ण केन्द्र में संतुलित और सुशोभित होते हैं। सम्बन्धों की विविधता प्राकृतिक होने के साथ-साथ उसी प्रकार समाज के सौन्दर्य की वर्धक है, जिस प्रकार रूप की जटिलता कला और संस्कृति के सौन्दर्य को समृद्ध करती है। इन अनेक-विध सम्बन्धों का अपना अपना स्थान और उनके अपने कर्त्तव्य हैं। अपने सम्बन्ध के अनुसार सम्बन्धी जन संस्कार के उत्सव में भाव का योग देकर उसके आनन्द को परिपूर्ण बनाते हैं। दूसरी ओर उन सबको अपने सम्बन्ध के अनुरूप श्रेय और गौरव का भाव मिलता है। यद्यपि संस्कारों के मूल पात्र एक-दो व्यक्ति ही होते हैं,

किन्तु उनकी योजना कुछ ऐसी है, कि इसमें अन्य अनेक जनों को गौरव का भाव मिलता है। सम्बन्धी ही नहीं, अन्य काम करने वाले भी गौरव और पुरस्कार पाते हैं। यह गौरव उन सबका अधिकार माना जाता है, और सब उसे सद्भाव से स्वीकार करते हैं। विभिन्न सम्बधियों के लिए ऐसे विशेष आचारों का विधान है, जिनमें विशेष रूप से उन्हें अपने गौरव का अधिकार मिलता है। माता-पिता, भाई-बहिन माता आदि के निकट के सम्बन्धियों का घनिष्ठता के कारण विशेष मान रहता है। इस मान का गौरव सभी को अपने कुल और कुटुम्ब में होने वाले संस्कारों में मिलता है। इन संस्कारों में बहन का जो मान और अधिकार है, वह भारतीय संस्कृति की एक ऐसी महत्वपूर्ण विशेषता है, जो विश्व संस्कृति के लिए एक अमूल्य सन्देश बन सकती है। बहन का मान मनुष्य के प्राकृतिक काम की मर्यादा के क्षितिज पर सांस्कृतिक सौन्दर्य के स्वर्लोक प्रकाशिक करता है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक सम्बन्धों का मान अधिकार और कर्त्तव्य संस्कारों को रूप की उस जटिलता से सम्पन्न करता है, जो सौन्दर्य की समृद्धि का हेतु है। सम्बन्धों के ये सूत्र संस्कारों के अवसर पर नयी चेतना से सजग और नए सौन्दर्य से सुशोभित होते हैं। इस प्रकार ये संस्कार केवल एक-दो व्यक्तियों के जीवन के संस्कार नहीं, वरन् अनेक जनों के जीवन में सौन्दर्य के स्रोत खोलते हैं, जिससे उनका जीवन आनन्द की नवीन तरंगों से आन्दोलित होने लगता है। मुख्य पात्रों के जीवन का संस्कार अन्य अनेक जनों के लिए भी नई स्फूर्ति और सौन्दर्य का स्रोत बन जाता है। ये सभी सम्बन्ध संस्कारों के द्वारा एक ऐसी सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था में संगठित होते हैं, कि इनका सामंजस्य समाज की व्यवस्था के लिये एक आदर्श बन जाता है। रूठे हुए सम्बन्धी भी ऐसे अवसरों पर मनाए जाते हैं। प्रेम और प्रसन्नता में उनके हृदय की ग्रन्थि खुलती है, तथा वे एक नवीन सद्भाव से उत्सव में योग देते हैं। समारोह का भवन खिले हुए कमलों से पूर्ण सरोवर-सा सुन्दर लगता है। उसमें समारोह के मुख्य पात्र राजहंस के समान हैं। उनकी विशेष भूषा और सज्जा उन्हें एक विशेष रूप देती है, जिससे वे अन्य सब लोगों की तुलना में समारोह के महाकाव्य के नायक जान पड़ते हैं। भूषा

और सज्जा की विशेषता के अतिरिक्त उन्हें और उनके साथ अन्य सम्बन्धियों को अनेक विधियों और आचारों का निर्वाह करना होता है। विधि और आचारों की जटिलता रूप का अतिशय बन कर संस्कारों के सौन्दर्य को बढ़ाती है। इस प्रकार ये संस्कार सांस्कृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ समाज में सामंजस्य को भी बढ़ाते हैं। इस सामाजिक सामंजस्य का रूप बहुत व्यावहारिक और व्यापक है। घनिष्ठ और निकट के सम्बन्धों का संस्कारों में विशेष स्थान और कर्त्तव्य होता है। किन्तु संस्कारों के जटिल आयोजन में दूर के लोगों का भी योग रहता है। यह योग समाज के सामंजस्य के क्षेत्र को बढ़ाता है। साथ ही सांस्कृतिक सौन्दर्य के प्रकाश को दूर तक फैलाता है। इन दूर के सम्बन्धों में आर्थिक आधार संस्कृति को लौकिक और व्यावहारिक आधार देता है। संस्कारों में आर्थिक सहयोग दूर के सम्बन्धों में पारस्परिक है। यह पारस्परिकता इसे व्यावहारिक बनाती है। इस पारस्परिक निर्वाह में आर्थिक सहयोग समाज में सांस्कृतिक सौन्दर्य की व्यापकता का निमित्त बनता है। काम करने वालों और वस्तु निर्माताओं के सहयोग का प्रकट रूप व्यावहारिक है, किन्तु भारतीय संस्कृति के विधाताओं ने इस व्यापारिक सम्बन्ध को भी सांस्कृतिक सौन्दर्य से अलंकृत किया है। स्वतंत्रता, उदारता, व्यक्तिगत सम्बन्ध, अधिकार आदि के संयोग से आर्थिक और व्यापारिक व्यवहार के प्राकृतिक स्वार्थ को पराभूत कर उसे सांस्कृतिक सौन्दर्य का पीठ बना दिया है। प्राचीन परिपाटी में माली, कुम्हार आदि अपने सहयोग को केवल आर्थिक और व्यापारिक दृष्टि से नहीं देखते थे। सम्बन्धों की उदारता और सद्भावना उनके आर्थिक दृष्टिकोण को मन्द करके उन्हें समारोह के सांस्कृतिक सौन्दर्य का भागी बनाती थी। व्यापार और संस्कृति का यह सामंजस्य भारतीय संस्कृति का एक अद्भुत चमत्कार है। साम्यवाद का यह अनुरोध नितान्त न्यायपूर्ण है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने श्रम का उचित परिश्रमिक मिलना चाहिये, और किसी को शोषण का अधिकार न होना चाहिये। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि आर्थिक व्यवस्था के यथार्थता, उपयोगिता तथा अभिधा के क्षेत्र में जीवन के सीमित होने पर संस्कृति का सौन्दर्य और आनन्द

सुरक्षित नहीं रह सकता। प्राचीन भारतीय सभ्यता में भी अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भाँति अन्य क्षेत्रों में चाहे शोषण और अतिचार के सूत्र रहे हों, किन्तु संस्कारों के प्रसंग में ऐसी कोई संभावना अभीष्ट न थी। संस्कारों के अवसर कुल में आनन्द और सौभाग्य के पर्व माने जाते थे। अत: प्रसन्नता के वातावरण में सभी आर्थिक सम्बन्धों में यथाशक्ति उदारता का दृष्टिकोण बढ़ता जाता था। कर्म और वस्तुओं से सहयोग देने वालों के लिये ये अधिकार और आशा के अवसर माने जाते थे। उदारता और सद्भावना के द्वारा श्रमजीवियों के व्यापारिक सम्बन्ध सांस्कृतिक सौन्दर्य के निमित्त बनते थे। संस्कृति का सौन्दर्य प्रकृति और अर्थ के क्षेत्र में भी प्रसारित होता था। आर्थिक न्याय सभ्यता और संस्कृति का आधार स्तम्भ है। किन्तु न्याय यथार्थ और अभिधा का क्षेत्र है। उसकी यथार्थता और उपयुक्तता में रूप और भाव के अतिशय के लिये स्थान नहीं है, किन्तु दूसरी ओर इस अतिशय में ही संस्कृति का सौन्दर्य उदित होता है। यथार्थ और अभिधा का अनुरोध संस्कृति के सौन्दर्य को अवकाश नहीं देता। अत: इस अनुरोध के मन्द और अप्रधान होने पर ही रूप और भाव के अतिशय में संस्कृति का सौन्दर्य खिल सकता है। अर्थ, वित्त और संस्कृति का यह सामंजस्य ही सस्कृति की सभ्यता है। भारतीय संस्कारों की व्यवस्था में इस सम्भावना को सत्य बनाया गया है।

वय और व्यवसाय के भेद से समाज के अनेक वर्ग या धरातल बन जाते हैं। मनुष्यता, सामाजिक अधिकार, आर्थिक अवसर, श्रम आदि की दृष्टि से मनुष्य मात्र समान है। अत: इन सब वर्गों में भी समानता का सिद्धान्त मानना होगा। किन्तु इसके अतिरिक्त भी वय और सम्बन्ध का भेद नैसर्गिक है। व्यवसाय की विविधता प्राकृतिक दृष्टि से आवश्यक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन के सौन्दर्य की वर्धक है। वय और सम्बन्ध का भेद भी समाज के सौन्दर्य को बढ़ाता है। एकरूपता में कोई सौन्दर्य सम्भव नहीं हो सकता। पर्वतों का सौन्दर्य बहुत कुछ उनके उतार-चढ़ाव और विषम तल पर निर्भर होता है। समतल सौन्दर्य भी विषम-तल के साथ भिन्नता तथा उस समतल को व्याप्त करने वाले अन्य

उपादानों के कारण होता है। केवल समतल में अपने आप में सौन्दर्य दुर्लभ है। शिमला के पर्वतीय प्रदेश में अनन्डेल का छोटा सा समतल काश्मीर की घाटी, हिमालय की ऊँचाइयों पर मानसरोवर जितने सुन्दर लगते हैं, उतने सुन्दर समतल और सरोवर समतल में नहीं लगते। किन्तु वय, संबंध और व्यवसाय की भिन्नताएँ जहाँ अपने आप में सौन्दर्य की वर्धक हैं, वहाँ वे अपने आप में कुरूपता का कारण नहीं है। कुरूपता का कारण रूप का भेद नहीं, वरन् भाव का भेद है। रूप और भाव दोनों सम्पूर्ण सौन्दर्य के अंग हैं। उन दोनों के अतिशय और समृद्धि में सौन्दर्य विकसित होता है। किन्तु सौन्दर्य की सृष्टि में इन दोनों का सम्वन्ध एक दृष्टि से विपरीत हैं। जहाँ भाव का साम्य सौन्दर्य का उदगम है, वहाँ रूप की विषमता सौन्दर्य को प्रकाशित करती है। प्रकृति की व्यवस्था और सृष्टि के विधान में ही रूप की विषमता का रहस्य निहित है। बीज के वृक्ष और जीवों की औरस परम्परा में रूप की विषमता ही विश्व के सृजनात्मक सौन्दर्य की परम्परा का सूत्र है। रूप की विषमताओं में सन्तुलन और सामंजस्य समष्टि के सौन्दर्य को उद्-घाटित करता है। भाव का अन्तर्लोक रूप से अधिक सूक्ष्म और रहस्य-मय है। उसमें साम्य के नाल पर संतुलित रहने वाली विविधताएँ पुष्प दलों के समान सौन्दर्य की रचना करती हैं। साम्य के केन्द्र को भंग कर देने वाली विषमताएँ सौन्दर्य को भंग कर स्वयं भी विशीर्ण हो जाती हैं। किन्तु अनेकता और विविधता के रूप में विषमता सौन्दर्य और संस्कृति का आवश्यक अंग है। आत्मा का अन्तर्भाव तो सदा सम रहता है। समता रूप आदि की विषमताओं में साम्य का संचार कर सौन्दर्य को उद्भासित करती है। रूप के अतिशय के अतिरिक्त रूप की अनेकता और विषमता भी सौन्दर्य के लिए आवश्यक है। संस्कारों की भूमिका में अनेक प्रकार से रूपों की विषमता सौन्दर्य की सृष्टि करती है। विकासशील वय की विषमता तो संस्कारों का मूल आधार ही है। सम्बन्धों की विषमता भी जीवन की सृजनात्मक परम्परा में सहज रूप में उत्पन्न होती है। सम्बन्धों के अनुरूप संस्कार के समारोह में भाग लेने वाले व्यक्तियों के परस्पर भाव भी अपनी विशेषता लिए रहते हैं,

जिसके कारण उन सब को समान नहीं कहा जा सकता, यद्यपि मनुष्यता के भाव की दृष्टि से उनमें साम्य का सूत्र रहता है। सम्बन्धों और भावों के अतिरिक्त वस्तुओं, व्यवसायों आदि की अनेक प्रकार की साम्यमूलक विषमताएँ संस्कारों के आलोक में प्रकाशित होती हैं। आर्थिक न्याय और मानवीय साम्य से युक्त होने पर ये विषमताएँ संस्कृति के सौन्दर्य को सम्पन्न बनाती है। वैज्ञानिक और यांत्रिक सभ्यता में रूप और भाव का अतिशय कम हो रहा है। इसके साथ-साथ वस्तुओं के रूपों में एकरूपता बढ़ रही है। इससे संस्कृति का सौन्दर्य मन्द होता जा रहा है। प्रकृति के रूपों की विविधता और विषमता सौन्दर्य के उस रहस्य का संकेत करती हैं, जो संस्कृति में और अधिक समृद्ध होकर जीवन के आनन्द से भरता है। संस्कारों के उत्सव में प्रकृति और संस्कृति की अनेक विविधताएँ साम्य के स्थायी के आधार पर अन्तराओं के समान गुम्फित होकर जीवन की सुन्दर रागिनी की रचना करती हैं।

संस्कार जीवन के क्रियात्मक रूप हैं। भाव का अतिशय होते हुए भी उनमें क्रिया का रूप ही प्रधान रहता है। क्रिया जीवन का साक्षात् रूप है। इसीलिये संस्कारों के उत्सव बड़े सजीव होते हैं। भाव के अतिशय के कारण इन क्रियाओं में आनन्द का उल्लास छलकता है, जिससे ये क्रियाएँ प्राकृतिक प्रतीत होते हुए भी संस्कृति के विपुल सौन्दर्य से मण्डित होती हैं। विधि और आचार के रूप में इन क्रियाओं में भी रूप का अतिशय रहता है। इस अतिशय में ही संस्कारों का सांस्कृतिक सौन्दर्य खिलता है। इन विधियों और आचारों की जटिलता इन संस्कारों के सौन्दर्य को और सम्पन्न बनाती है। भाव और रूप के अतिशय का सौन्दर्य अपने आप में महान् है। किन्तु वचन, व्यवहार और क्रिया से युक्त होने पर सभी प्रकार का रूपगत सौन्दर्य सजीव हो उठता है और भाव का आन्तरिक आलोक उसमें अधिक सजीव रूप में प्रकाशित होता है। क्रिया शक्ति का विमर्श है। भाव शक्ति का आन्तरिक प्रकाश है। शक्ति के विमर्श से ही सृष्टि के रूप साकार होते हैं। विमर्श सृष्टि है। भाव आन्तरिक प्रकाश है। भाव-रूप प्रकाश का विमर्श होने पर क्रिया तथा रूपों के अतिशय सौन्दर्य से आलोकित होते हैं। क्रिया और रूप

के विमर्श में साकार होकर ही भाव का प्रकाश संस्कृति को सुन्दर और जीवन को आनन्दमय बनाता है। भाव के प्रकाश का उल्लास ही क्रियाओं और रूपों में अतिशय का विस्तार करता है। भाव से रहित होकर ही आधुनिक सभ्यता के क्रिया और रूप अतिशय से रहित होकर सौन्दर्य और आनन्द से रहित बन रहे हैं। संस्कारों की सम्पन्न क्रियाओं और विपुल रूपों में शक्ति का जो विमर्श साकार होता है, उसमें भाव का प्रचुर प्रकाश रहता है। भाव की ओर से देखने पर ही यह प्रकाश का विमर्श है और क्रिया की दृष्टि से देखने पर यह विमर्श का प्रकाश है। प्रकाश जीवन का मर्म है। किन्तु विमर्श जीवन का रूप है। विमर्श की क्रिया और रूप के अतिशय में भाव की विपुलता होने पर ऐसा अद्भुत साम्य उपस्थित होता है, जिसमें संस्कृति का सौन्दर्य अत्यन्त समृद्ध और सजीव रूप में विभासित होता है। संस्कारों के क्रियात्मक और उपकरण-प्रधान उत्सवों में प्रकाशयुक्त विमर्श का सौन्दर्य प्रचुरता से खिलता है। संस्कारों के सक्रिय उत्सव में उल्लासित संस्कृति का सौन्दर्य जीवन और संस्कृति के समन्वय को अधिक स्वाभाविक रूप में सम्पन्न करता है। संस्कारों के रूप में मानों साक्षात् जीवन ही अपने परिचित और लौकिक उपकरणों में भाव और रूप के अतिशय का सौन्दर्य संजोकर संस्कृति का सजीव और साक्षात् रूप ग्रहण करता है।

संस्कृति का अंग होने के साथ-साथ संस्कार हमारे धार्मिक कृत्य भी हैं। एक ओर जहाँ उनमें संस्कृति का विपुल सौन्दर्य प्रकाशित होता है, तो दूसरी ओर उनमें धर्म की पवित्रता और श्रद्धा साकार होती है। इस दृष्टि से सांस्कृतिक भाव-रूप और सौन्दर्य की प्रचुरता होते हुए भी उनमें धार्मिक भावना का योग बहुत है। यह धार्मिक भावना भी संस्कारों में अभीष्ट प्रकृति के संस्कार और उन्नयन में योग देती है। धर्म की पवित्रता और श्रद्धा चरित्र का एक बहुत बड़ा बल है। इस प्रकार संस्कारों के उत्सव धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में वैदिक मंत्रों और शास्त्र की विधियों का संयोग संस्कारों के धार्मिक रूप को पुष्ट करता है। धार्मिक विधियों में भी रूप का अतिशय रहता है, जो संस्कारों के सौन्दर्य को बढ़ाता है, फिर भी इन विधियों और आचारों में एक ऐसा दिव्य भाव

रहता है, जो संस्कारों के विपुल सांस्कृतिक सौन्दर्य में धार्मिक पवित्रता का प्रोक्षण करता है। धर्म और संस्कृति का संगम होने के कारण संस्कार भारतीय जीवन की परम्परा में धर्म और संस्कृति के सेतु हैं। वे व्रतों के धार्मिक और व्यक्तिगत अनुशीलन तथा पर्वों के सामाजिक और सांस्कृतिक उत्सवों के बीच में होने के कारण सांस्कृतिक सौन्दर्य के लिए अभीष्ट रूप की विषमता को एक बहुत ऊँचे और विशाल धरातल पर सम्भव बनाते हैं। कुछ व्रतों के समान अनुष्ठान भी संस्कारों में अपेक्षित होते हैं। कुछ विधियाँ और अनुष्ठान धार्मिक आचार होते हुए भी संस्कारों की सामाजिक भूमिका में सांस्कृतिक बन जाते हैं। धर्म का तत्व संस्कृति के सौन्दर्य में समन्वित हो जाता है। इससे संस्कृति के लौकिक सौन्दर्य को एक दिव्य आलोक मिलता है। जिस प्रकार संस्कारों के क्रियात्मक और सामाजिक रूप में संस्कृति का सौन्दर्य सजीव होता है, उसी प्रकार उनमें धर्म का तत्व भी जीवन में सहज अन्वित होता है।

धर्म की भाँति ही संस्कारों में कला का भी समन्वय है। कला सौन्दर्य की साधना है। सौन्दर्य रूप का अतिशय है। संस्कारों के विधि, आचार, उपकरण आदि में रूप का विपुल अतिशय है, जो कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करता है। यह कला का सामान्य रूप है, जो संस्कारों में सहज समवेत है। किन्तु इसके अतिरिक्त कलाओं के विशेष रूपों का संयोग भी संस्कारों में रहता है। नृत्य, संगीत आदि संस्कारों के समारोहों के आवश्यक अंग होते हैं। संगीत इन समारोहों का मुख्य माध्यम है। कलाओं में संगीत सबसे अधिक भावमय होने के साथ-साथ सबसे अधिक सामाजिक है। अनेक व्यक्ति मिलकर समान स्वर से एक ही गीत गा सकते हैं। जिस समात्मभाव में कला का सौन्दर्य आनन्द में स्फुटित होता है, वह संगीत में सबसे अधिक सम्भव है। लोक-संगीत स्वर के रूप की अपेक्षा भाव से अधिक प्रचुर रहता है। अतः वह सामूहिक समारोह में सौन्दर्य के साथ-साथ आनन्द का संचार भी करता है। स्वर के माध्यम में समवेत होकर शब्दों के भाव समारोह के उद्यान में आनन्द के पुष्प खिलाते हैं। संगीत का यह सुयोग उसके माध्यम की विशेषता के कारण है। शब्द ही अभिव्यक्ति का एक ऐसा रूप है, जो अनेक

उद्‌गमों से उदित होकर समवेत हो जाता है। अनेक कृतित्वों के फल का संगम संगीत को समात्मभाव के अधिक अनुरूप बनाता है। अनेक कृतित्वों से एक सम्मिलित सौन्दर्य की रचना होती है। कृतित्वों के सहयोग और फलों के समवाय से संगीत का सौन्दर्य और भाव निखरता है। इन विशेषताओं के कारण संगीत संस्कारों के ही नहीं, अन्य सांस्कृतिक समारोहों के भी प्रधान अनुष्ठान है।

संगीत के अतिरिक्त नृत्य, चित्र आदि कलाओं का योग भी संस्कारों में रहता है। सामूहिक नृत्य प्राचीन लोक-कला की एक अनन्य विभूति थी। नृत्य भाव की अभिव्यक्ति का सजीव माध्यम है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ चाहे कलाओं के अभिजात रूपों का उत्कर्ष हुआ है, किन्तु लोक-कलाओं और विशेषतः लोक-नृत्यों का ह्रास होता गया है। आंगिक माध्यम के कारण जहाँ एक ओर नृत्य की अभिव्यक्ति अधिक सजीव है, वहाँ दूसरी ओर उसमें नैतिक संदेहों की सम्भावनाएँ अधिक हैं। इसीलिये पिछली शताब्दियों में नृत्य का प्रचार कम होता गया। फिर भी भावों की सहज अभिव्यक्ति का सजीव माध्यम होने के कारण वह अपना महत्व बनाए हुए है। पुत्र-जन्म, विवाह आदि के विशेष हर्ष-पूर्ण अवसरों पर उसका कुछ आयोजन अवश्य रहता है। सामूहिक नृत्य की प्रथा नगरों में कम है। ग्रामीण समाज में वह अब भी कुछ शेष है। चित्रकला का भी संस्कारों में कुछ योग रहता है। यद्यपि चित्रकला में ये रूप अधिक विकसित नहीं कहे जा सकते, चित्रकला दृश्य रूप के अतिशय का सौन्दर्य है, जो आकार और वर्ण में व्यक्त होता है। चित्रकला के माध्यम में भी भावों की विपुल अभिव्यक्ति सम्भव है। किन्तु चित्रकला कलाओं में सबसे अधिक व्यक्तिगत है। उसका कृतित्व तो बिल्कुल एकान्त है, यद्यपि उसका आस्वादन सामूहिक रूप से भी हो सकता है। व्यक्तिगत होने के कारण वह सामाजिक अनुभवों के अनुकूल नहीं है। फिर भी आलेखन और रंजना के अनेक रूपों में आकारों और वर्णों की छटा हमारे संस्कारों को अलंकृत करती है। भवनों और भित्तियों की सज्जाओं तथा भूमि के मांगलिक आलेखनों और पात्रों की मांगलिक रचनाओं में भी बहुत कुछ आकार और वर्ण का अतिशय अपने सौन्दर्य

से संस्कारों को सुशोभित करता है। इस प्रकार कला, धर्म और संस्कृति का संगम संस्कारों को संस्कृति की पवित्र और सुन्दर त्रिवेणी का रूप देता है। इस त्रिवेणी के तट पर संस्कारों के समारोह कल्पवास के समान दिव्य और महान पुण्य के अनुष्ठान हैं।

सौन्दर्य और आनन्द के विपुल भावों की विभूति से परिपूर्ण संस्कार जीवन के अत्यन्त व्यापक पर्व हैं। संस्कारों की यह व्यापकता अनेक प्रकार की है। काल की दृष्टि से वे जीवन आदि से लेकर अन्त तक व्याप्त है। जन्म और विवाह के ही संस्कार समारोह पूर्वक सम्पन्न नहीं होते। मृत्यु के संस्कार भी उनसे कम नहीं, वरन् अधिक लगन के साथ मनाए जाते हैं। मृत्यु के समारोह का भाव और रूप मृत्यु के विषाद के अनुरूप होता है। इस प्रकार भाव की दृष्टि से भी संस्कार व्यापक होते हैं। हर्ष के ही उत्सव नहीं मनाए जाते, वरन् दुःख को भी एक अनुरूप समारोह के द्वारा हल्का किया जाता है। सुख और सृजन ही संस्कृति के अवसर नहीं है, दुःख और निधन को भी संस्कृति की योजना में अपना स्थान मिला है। आयु और जीवन की स्थितियों की दृष्टि से भी संस्कार व्यापक हैं। आयु के प्रमुख पर्व अर जीवन की मुख्य स्थितियाँ संस्कारों का अवसर बनीं। जन्म, विवाह आदि सहज हर्ष के अवसर हैं। उनमें जिन लोगों का निकट सम्बन्ध है, उनका हर्षित होना स्वाभाविक है। किन्तु दूर के लोगों के लिए प्रत्यक्ष दृष्टि से कोई लाभ नहीं है। दूसरी ओर मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति यह भी है कि वह दूसरों के हर्ष को देखकर उदास होता है और द्वेष करता है। संस्कारों की व्यवस्था निकट और दूर के सम्बन्धियों को एक आत्मीय भाव से सुख-दुःख में भाग लेने के लिए आमंत्रित करती है। यह सामाजिक समात्मभाव ही संस्कृति का मूल मंत्र है। सुख और दुःख दोनों ही प्रकार की स्थितियों में इसे संस्कृति का आधार बनाकर भारतीय संस्कृति के विधाताओं ने जीवन की मर्म दृष्टि का परिचय दिया है। समात्मभाव संस्कृति के सौन्दर्य और आनन्द का मर्म है। सुख और दुःख दोनों की स्थितियों में वह जीवन को आन्तरिक विभूति से पूर्ण करता है। जो सुख के साक्षात् भागी होते हैं, उनमें समात्मभाव सहज सम्भव है। किन्तु

अधिकांश सुख प्राकृतिक होता है। अतः उसमें आत्मीयों में भी द्वेश की सम्भावना रहती है। ऐसी स्थिति में सुख के अवसर पर निकट और दूर के लोगों का सम्मिलित समारोह द्वेष की सम्भावनाओं को दूर करके हर्ष और प्रेम को बढ़ाता है। सबको इन समारोहों में उचित गौरव और मान मिलता है। अतः द्वेष की सम्भावना बहुत दूर रहती है। सबका हर्ष दूसरों के सम्मान और गौरव का अवसर बनता है। इस प्रकार संस्कारों के समारोहों में व्यापक समात्मभाव हर्ष को बढ़ाता हैं। सरस्वती के कोष के समान हर्ष भी संस्कृति की एक ऐसी विभूति है, जो वितरण से बढ़ती है। दूसरों को मान और गौरव देकर हम उन्हें प्रसन्न करते हैं। इस प्रकार हमारे हर्ष के अवसर पर दूसरों के योग से हर्ष बढ़ता है।

मृत्यु के विषाद को एक महत्वपूर्ण संस्कार बनाकर भारतीय संस्कृति के विधायकों ने जीवन की जिस गम्भीर मर्म दृष्टि का परिचय दिया है, उसका स्मरण भविष्य का नागरिक कभी अपने एकान्त विषाद के आँसुओं से करेगा। जहाँ हम अपने सुख को बढ़ाना चाहते हैं, वहाँ हम अपने दुःख को घटाना चाहते हैं। किन्तु हम स्वयं अपने दुःख को नहीं घटा सकते, ठीक उसी प्रकार हम अपने सुख को नहीं बढ़ा सकते। दूसरों के सहयोग और समात्मभाव से ही हमारा सुख बढ़ता और हमारा दुःख घटता है। सुख और हर्ष के अवसर पर हम दूसरों को मान देकर आमंत्रित कर सकते हैं और इस प्रकार अपने हर्ष को बढ़ा सकते हैं। सुख और हर्ष यदि न भी बढें, तो भी कोई दुःख की बात नहीं। किन्तु दुःख में हम किसी को किस निमित्त से आमंत्रित कर सकते है। दूसरों के दुःख में भाग लेना मनुष्य का प्राकृतिक धर्म नहीं है। प्राकृतिक दृष्टि से दूसरों के दुःख से हमारा कोई सरोकार नहीं है। अपने दुःख से सभी दुःखी होते हैं। किन्तु दूसरों के दुःख से विषाद होना स्वाभाविक नहीं है। दूसरी ओर दुःख में मनुष्य बहुत दीन होता है। उस दीनता में उसे दूसरों के स्नेह और सहानुभूति का सम्बल चाहिए। मृत्यु जीवन का सबसे भीषण दुःख है। जो मरता है, वह मर कर इस संकट से पार हो जाता है। किन्तु जो बच रहते हैं, उन आत्मीयों के लिए मृतक का

अभाव एक भीषण विषाद बन जाता है। यह विषाद कितना भीषण और गम्भीर है, इसे वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने अपनी आँखों से अपने आत्मीयों के देह को निष्प्राण होते देखा है और अपने हाथों से उसे चिता पर रखा है। घर के दो-चार आत्मीयों को इस विषाद की छाया कितनी भयंकर होती है, इसे समझ कर ही संस्कृति के विधायकों ने अन्त्येष्टि की एक दीर्घ योजना प्रस्तुत की है। निकट और दूर के अनेक सुहृदों के सहयोग से मृत्यु का भीषण शोक सह्य बन जाता है। तत्काल में तेरह दिन तक और बाद में समय-समय पर होने वाले मृत्यु सम्बन्धी संस्कारों की अनेक विधियाँ मृत्यु के विषाद की भीषण छाया को मन्द बनाकर घर के वातावरण को पवित्र और उज्ज्वल करती हैं, तथा शेष जीवन के उल्लासों को सम्भव बनाती हैं। दुःख में समात्मभाव की आकांक्षा अत्यन्त तीव्र होती है। उसे एक सांस्कृतिक आचार में अन्वित कर आचार्यों ने हमारा अमित उपकार किया है। सभ्यता के प्रभाव से जिस दिन इस भीषण विषाद में समात्मभाव का अभाव होगा, उस दिन विदित होगा कि मृत्यु के भीषण विषाद की छाया जीवन को कितना विषण्ण और दुर्भर बनाती है। अन्त्येष्टि संस्कार का मृत्युंजय मंत्र मानवीय संस्कृति को अमृत और आनन्दमय जीवन का वरदान है। उसके विधि और आचारों में रूप और भाव का जो अतिशय निहित है, वह हमारे विषादमय जीवन को भी एक पवित्र सौन्दर्य और करुणामय आनन्द से भरता है।

अध्याय–५

व्रतों की विभूति

अध्याय–५

व्रतों की विभूति

पर्वों और संस्कारों की भाँति व्रत भी भारतीय धर्म और संस्कृति के महत्व पूर्ण अंग हैं। संख्या की दृष्टि से वे पर्व और संस्कार दोनों से अधिक हैं, तथा उनका महत्व भी इनसे कम नहीं है। प्रति मास में अथवा प्रतिपक्ष में कई छोटे-बड़े व्रत आते हैं। वर्ष के महत्वपूर्ण व्रतों की संख्या भी पर्वों से कम नहीं है। पर्वों और संस्कारों में भी व्रतों की भावना एवं विधि व्याप्त है। दीपावली और होली के समान शुद्ध पर्व कम हैं, जिनमें चाहे पूजा, उपासना आदि की विधि अन्वित हों, किन्तु उपवास, अनुष्ठान आदि के रूप में व्रत का अंश नहीं है। अनेक पर्व ऐसे हैं, जो सामूहिक उत्सव, आचार आदि के अवसर होते हुए भी व्यक्तिगत साधन और अनुष्ठान से युक्त हैं। जन्माष्टमी, रामनवमी, अनन्त चतुर्दशी आदि के पर्व ऐसे ही हैं। संस्कारों में व्रतों का अंश पर्वों से भी अधिक है। बालकों के कुछ आरम्भिक संस्कार ऐसे होते हैं, जिनमें व्रतों का भाग अधिक नहीं होता। सामान्यतः संस्कार सम्पन्न होने के समय तक माता-पिता को उपवास करना होता है। इन संस्कारों का समय प्रातःकाल का होने के कारण यह व्रत का अंश बहुत कम हो जाता है। इन संस्कारों में पारिवारिक सामाजिक उत्सव का उल्लास ही अधिक रहता है। उपनयन, विवाह आदि के कुछ बड़े संस्कार ऐसे हैं, जिनमें उत्सव की विपुलता होते हुए भी व्रत का अंश कम नहीं होता। विशेष रूप से विवाह के अवसर पर वर और कन्या उसके माता-पिता तथा अन्य बड़े लोगों को कई बार पूरे दिन का निराहार व्रत करना होता है। इस व्रत के साथ ही संस्कारों की कई विधियाँ सम्पन्न होती हैं। दूसरी ओर सभी व्रतों को थोड़ी बहुत मात्रा में पर्व के उल्लास की भावना कुछ उत्सव का रूप देती हैं। पर्व, संस्कार और व्रत भारतीय संस्कृति के जीवन की तीन धाराएँ हैं, जो तत्व के तीन गिरि-शिखरों से उदित होकर भी जीवन

की समान भूमि पर प्रवाहित होती हैं। जीवन के अनेक तीर्थों पर इन तीनों का संगम होता है। संस्कारों की यमुना तो विवाह के तीर्थराज में आकर पर्वों की गंगा में विलीन हो जाती है। पर्वों की उज्ज्वल और पवित्र गंगा ही भारतीय संस्कृति का सबसे महिमामय स्रोत है। किन्तु व्रतों की सरस्वती संस्कृति के इन अनेक संगमों में अन्तर्निहित रहती है। अनेक पर्वों और संस्कारों के संगमों में व्रतों की इस सरस्वती का अन्तर्नाद स्पष्ट सुनाई देता है। पर्वों और संस्कारों की गंगा और यमुना के प्रवाह इन संगमों में कुछ पृथक-पृथक दिखाई देते हैं, यद्यपि आगे चलकर ये पर्वों की गंगा में विलीन हो जाते हैं।

संस्कृति के साक्षात् रूपों में प्रायः तीनों धाराओं का संगम होते हुए भी इन तीनों के उद्गम और प्रवाह का कुछ सीमा तक विवेक किया जा सकता है। पर्वों की गंगा ब्रह्मा के कमंडल, विष्णु के चरण और शिव के शीश से प्रवाहित होकर लोक-जीवन के विशाल समतल में बहती है। ब्रह्मा सृष्टि के निर्माता, वेद के विधाता और ज्ञान के देवता हैं। पर्वों की योजना जीवन की प्रतिभा का श्रेष्ठतम प्रकाश है। मानवीय चेतना का सर्वोत्तम काव्य पर्वों के रूप में साकार हुआ है। संस्कृति की संहिताएँ पर्वों की उल्लास परम्परा में मूर्त हुई हैं। संस्कृति के सृजनात्मक सौन्दर्य की विशद और व्यापक अभिव्यक्ति पर्वों के रूप में हुई है। सृजन और ज्ञान के ब्रह्मा के कमंडल का पवित्र रस प्रवाह इन पर्वों की प्रणाली में है। विष्णु रक्षा के देवता हैं। सामूहिक सद्भाव ही रक्षा का मंत्र है। समय पर यह संगठन का सूत्र भी बन सकता है। लक्ष्य की एकता और क्रिया की संगति संगठन का बीज है। विष्णु की अपेक्षा दुर्गा के रूप में रक्षा का यह दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हुआ है। दुर्गासप्तसती के अनुसार देवताओं के तेज की समष्टि ने दुर्गा का रूप प्रकट हुआ। काली के सहस्र कर-चरण उक्त संगति के द्योतक हैं। 'कर' रक्षा के साधन हैं। किन्तु चरणों की गति ही रक्षा की क्रियाओं की संगति की आधार है। गति के इन चरणों से पर्वों की गंगा प्रवाहित होती है। संगति का भाव उनमें सहज रूप से समाहित है। पर्व सामाजिक और सामूहिक उत्सव के अवसर हैं। इन पर्वों के सामूहिक

भाव में व्यक्ति के एकांकी जीवन को समग्रता का बल और सम्बल मिलता है। यही भाव और बल रक्षा का मंत्र और विष्णु का रहस्य है। इसी के चरणपीठ से पर्वों की गंगा प्रवाहित होती है। शिव मंगल के प्रतीक हैं। शिव का अर्थ ही कल्याण है। शिव के शीश से गंगा की धारा प्रवाहित होती है। पर्वों की गंगा का प्रवाह लोक की मंगल भावना के शीश पर है। लोक-मंगल की योजना का सर्वोत्तम रूप पर्वों में प्रकट हुआ है। जिस सहज और स्वतंत्र सद्भाव का उल्लास पर्वों में होता है, वही जीवन के मंगल का पीठ है। वही शिव का साकार रूप है। उसी के शीर्ष से पर्वों की गंगा प्रवाहित होती हैं। इस प्रकार पर्वों की गंगा में ब्रह्मा के ज्ञान का सृजनात्मक सौन्दर्य, विष्णु के रक्षक रूप का ओज और शिव के मंगल भाव का माधुर्य समाहित है। संस्कृत के किन विधाताओं की प्रतिभा इन पर्वों में प्रकाशित हुई है, यह विदित नहीं है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि समाज के सहस्रों प्रजापतियों की सृजनात्मक चेतना का सौन्दर्य पर्वों की परम्परा में प्रफुल्लित हुआ है। समाज के विष्णुओं ने रक्षा का मंगल सूत्र भी इन पर्वों के उल्लसित हाथों में बाँध दिया है। प्राचीन भारतीय समाज की सामूहिक चेतना के अलक्षित पर्वों के गह्वरों में दिव्य स्रोत उदित हुए हैं। कोई प्राकृतिक अतिचार अथवा उत्तेजनाशील भावना इस सामूहिकता की प्रेरणा नहीं है। इसीलिए यह सामाजिक उल्लास में ही कृतार्थ रही और किसी आक्रमण की अनीति नहीं बनी। समात्मभाव का जो सौन्दर्य एक सहज और स्वतंत्र रूप में पर्वों में साकार होता है, वह रक्षा की शक्ति भी है, यद्यपि मनुष्य प्रकृति के कुछ दोषों के कारण यह शक्ति चरितार्थ न हो सकी। मुख्य रूप से पर्व सामाजिक उत्सव हैं। इन पर्वों में संस्कृति का सौन्दर्य समाज के व्यापक क्षितिज पर विभासित होता है।

संस्कारों की यमुना कर्म की साधना की भूमि पर प्रवाहित होती है। इस यमुना के तट पर श्रीकृष्ण की वंशी और गोपियों के नूपुर की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है। किन्तु उत्सव के उल्लास की लहरों में गीता की कर्म-साधना का स्वर भी है। संस्कार व्यक्ति के प्रति समाज के अथवा नवजात मानव के प्रति परिवार के कर्त्तव्यों का उत्सव-पूर्ण

संस्करण है। नवजात मानव को उत्सव के विशाल थाल में समाज के सांस्कृतिक मूल्यों का उपहार देकर संस्कृति की साधना के प्रति सजग करना है। व्यक्ति की प्रकृति के संस्कार के निमित्त से होने वाले ये उत्सव भी एक सीमित अर्थ में सामाजिक बन जाते हैं। सांस्कृतिक मूल्य सामाजिक ही हैं। किन्तु संस्कारों की सामाजिकता पर्वों की सामाजिकता की भाँति विस्तृत नहीं है। पर्व सम्पूर्ण समाज के सामान्य उत्सव हैं। समस्त समाज एक ही साथ उनके समायोजन में भाग लेता हैं। पर्वों के उत्सव में व्यक्ति, परिवार और समाज सब अपने अनुकूल भाव से भाग लेते हैं। किन्तु संस्कारों का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज में नहीं होता। एक परिवार का एक व्यक्ति उसका केन्द्र होता है और उस परिवार के सम्बन्ध के लोग उसमें भाग लेते हैं। इस प्रकार संस्कारों की सामाजिकता सार्वभौम नहीं, वरन् सीमित है। सामाजिक और सांस्कृतिक भावों के सम्वर्धक होने के साथ-साथ संस्कार प्रकृति के उन्नयन के मार्ग भी हैं। इसीलिए इनमें व्रतों के आचार की भूमिका भी रहती है। परिचितों और दूर के सम्बन्धियो के लिए संस्कारों में उत्सव का पक्ष ही प्रधान होता है। किन्तु आत्मीय और निकट के सम्बन्धियों के लिए उत्सव के उल्लास में व्रत साधना का अन्तर्भाव रहता है।

केन्द्रीय व्यक्ति के लिए संस्कार विशेष गौरव और अधिकार के पर्व हैं। असमर्थता और विकास की अवस्था में व्यक्ति को संस्कारों के रूप में गौरव के इतने विपुल अधिकार मिलते हैं, कि उनसे उसके व्यक्तित्व की महिमा परिपूर्ण हो जाती है। वह समर्थ होने पर दूसरों को भी अधिकार देने के योग्य उदारता प्राप्त कर लेता है। विकासशील बालक के ये अधिकार बड़ों के कर्त्तव्य बन जाते हैं। उनकी ओर से संस्कार सामाजिक और सांस्कृतिक कर्त्तव्यों के निर्वहन हैं। एक व्यक्ति की दृष्टि से देखें, तो उसके विकास की पूर्णता तक का समय उसके अधिकारों का युग है और विवाह के बाद समर्थ होने पर उसके कर्त्तव्यों का युग आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार संस्कारों में वैयक्तिकता और सामाजिकता तथा अधिकार और कर्त्तव्य दोनों का समुचित सामंजस्य है। पर्वों में व्यक्ति का ऐसा विशेष गौरव नहीं है, और किसी के प्रति किसी के

कर्त्तव्य का विशेष प्रसंग नहीं है। वे सार्वजनिक सांस्कृतिक उत्सव है, जिनमें सब सामान्य रूप से भाग लेते हैं। कुछ पर्वों में गुरुपूर्णिमा, रक्षा-बन्धन, भ्रातृ-द्वितीया, मातृनवमी आदि की भाँति कुछ विशेष सम्बन्धों को विशेष आदर दिया जाता है। किन्तु दीपावली और होली के समान कुछ बड़े पर्वों में उसका प्रसंग नहीं है। सार्वभौम होते हुए भी पर्वों के उत्सव में प्रत्येक व्यक्ति को उल्लास का गौरव मिलता है।

अस्तु पर्व समाज और संस्कृति की स्वतंत्रता और समानता के उल्लास पूर्ण उत्सव हैं। संस्कारों में जन्म और विकास के कारण उत्पन्न होने वाली मनुष्य-समाज की अनिवार्य विषमता का सुन्दर और सांस्कृतिक समाधान है। यह समाधान अधिकार और कर्त्तव्य के अनुयोग से समाज में सामंजस्य का सूत्र है। व्रत मूल रूप में व्यक्तिगत अनुष्ठान हैं। किन्तु वे पर्वों के समान सार्वभौम और सामान्य हैं। संस्कार जहाँ बालकों और किशोरों के प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं, वहाँ व्रत अपने प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं। व्रतों में संस्कारों की भाँति अधिकारों का कोई प्रसंग नहीं है, वे शुद्ध कर्त्तव्य के रूप हैं। इन कर्त्तव्यों की विधि के सामान्य रूप की परम्परा के नाते इन व्रतों में सांस्कृतिक सौन्दर्य का पक्ष भी है। किन्तु मूलतः ये धार्मिक आचार हैं। धार्मिक निष्ठा के द्वारा ये व्यक्ति के आचार और शील में पवित्रता का विधान करते हैं। व्यक्ति की प्राकृतिक आकांक्षाओं की दृष्टि से इनमें कुछ त्याग और संयम की प्रधानता है। फिर भी प्रकृति का दमन इनका उद्देश्य नहीं है। संयम और संस्कार के द्वारा प्रकृति का उन्नयन ही इनका अभीष्ट है। इस प्रकार सौन्दर्य की दृष्टि से नहीं, तो शील की दृष्टि से, व्रत अपने प्रति मनुष्य के सांस्कृतिक कर्त्तव्य हैं। इन कर्त्तव्यों में प्राकृतिक दृष्टि से मनुष्य का स्वार्थ सम्पन्न नहीं होता। किन्तु व्यक्तित्व के सांस्कृतिक विकास और नैतिक निर्माण की दृष्टि से उसका महान् हित होता है। यह ऐसा हित है, जो व्यक्तिगत होते हुए भी सामाजिक कल्याण की भूमिका बनाता है। इस दृष्टि से स्वरूप में व्यक्तिगत होते हुए भी फल में ये व्रत सामाजिक हैं। इनकी सामान्यता और सामाजिकता ही इन व्यक्तिगत अनुष्ठानों को संस्कृति का अंग बनाती है।

व्रत की निष्ठा और पवित्रता का भाव हमारे पर्वों और संस्कारों में में भी व्याप्त है। इस दृष्टि से पर्व, संस्कार और व्रतों के संगम में व्रत का भाव सरस्वती की भाँति अन्तर्निहित है। पर्वों की गंगा का पवित्र और सुन्दर प्रवाह हमारे सांस्कृतिक धरातल पर इतना छाया हुआ है, कि व्यक्तिगत साधना और अनुष्ठान के कर्म होते हुए भी, व्रतों की सरस्वती भी पर्वों की गंगा में समाहित हो गयी है। सामान्यता के भाव तथा विधि और उपचार के विशेष रूपों के सौन्दर्य के कारण व्रत भी सांस्कृतिक पर्वों का रूप धारण करते हैं। जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि की भाँति कुछ व्रतों का पर्व-रूप इतना समृद्ध हो गया है, कि उनका व्रत-रूप गौण सा प्रतीत होता है। पर्वों का सामाजिक सौन्दर्य इन व्रतों को अधिक सहज और सह्य बनाता है। इतना अवश्य है कि इससे इनका अनुष्ठान-गत मूल्य कुछ कम हो जाता है। इसीलिए नवरात्र के समान कुछ व्रतों के अनुष्ठानों को गुप्त और व्यक्तिगत रखा गया है। यद्यपि हमारे धार्मिक और सांस्कृतिक कृत्यों में पर्व, संस्कार और व्रत की भावना का प्रायः संगम मिलता है, फिर भी पर्वों का रूप सामाजिक और सांस्कृतिक अधिक है। व्रत धार्मिक और व्यक्तिगत रखा गया है। यद्यपि हमारे धार्मिक और सांस्कृतिक कृत्यों में पर्व, संस्कार और व्रत की भावना का प्रायः संगम मिलता है, फिर भी पर्वों का रूप सामाजिक और सांस्कृतिक अधिक है। व्रत धार्मिक और व्यक्तिगत अधिक हैं। पर्वों का सौन्दर्य हमारे सामाजिक सम्बन्धों में प्रकाशित होता है। व्रतों का माहात्म्य हमारी व्यक्तिगत साधना में है। इतना अवश्य है कि पर्वों और व्रतों की सामाजिकता एवं व्यक्तिमत्ता एक दूसरे की विरोधी नहीं है। विरोध का क्षेत्र प्रकृति है। संस्कृति की भूमिका सामंजस्य में है। अतः पर्वों की सामाजिकता में व्यक्ति के गौरव का अन्तर्भाव है तथा व्रतों की व्यक्तिगत साधना का फल सामाजिक शील में होता है। व्रतों के रूप और विधि भी सामाजिक सौन्दर्य के क्षितिजों का स्पर्श करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति पर्वों के सामाजिक सौन्दर्य और वैभव में अपने व्यक्तित्व की समृद्धि और अपने को अधिक ऐश्वर्यशाली पाता है। दूसरी ओर व्रतों की व्यक्तिगत साधना का उद्देश्य उसके प्राकृतिक अहंकार को बढ़ाना नहीं, वरन् उसे

सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का अधिक समर्थ सदस्य बनाना है। पर्वों के सामाजिक क्षितिज पर व्यक्तित्व के नक्षत्र अधिक तेज से प्रकाशित होते हैं और व्रतों के व्यक्तिगत केन्द्र में भी सामाजिक परिधियों के प्रयोजन सम्पन्न होते हैं। एक दृष्टि से पर्व सामाजिक और सांस्कृतिक हैं तथा व्रत व्यक्तिगत और धार्मिक हैं। किन्तु इसकी दृष्टि से पर्व सामाजिक रूप में व्यक्तित्व के गौरव को अनुष्ठित करते हैं तथा व्रत व्यक्तिगत साधना में सामाजिक प्रयोजनों को सम्पन्न बनाते हैं। यह इसलिए नहीं है कि समाज और व्यक्ति का भेद स्पष्ट नहीं है, वरन् इसलिए है कि दोनों का विरोध संस्कृति में मान्य नहीं है। यह विरोध प्रकृति का लक्षण है। किन्तु संस्कृति का उद्देश्य इस विरोध में सामंजस्य की स्थापना है। पर्वों की सामाजिकता में व्यक्तित्व के गौरव का अन्तर्भाव और व्रतों की व्यक्तिगत साधना में सामाजिक प्रयोजन की पूर्ति किसी भ्रान्ति के कारण नहीं, वरन् इसी सामंजस्य का सूत्र है। सांस्कृतिक जीवन के लक्ष्यों में पर्व और व्रतों की ये दो ध्रुवाएँ एक सन्तुलन और सौन्दर्य का सन्निधान करती हैं। समाज और व्यक्ति दोनों की महिमा में सामंजस्य स्थापित करके ये दोनों को सांस्कृतिक सौन्दर्य और मंगल का सन्देशवाहक और साधक बनाती हैं। फिर भी पर्वों और व्रतों की ध्रुवाओं का अन्तर प्रकट है। संस्कारों में इन दोनों के रूपों का समन्वय है। बालकों और किशोरों के निकट आत्मीयों के लिए इन संस्कारों में व्रत के अनुष्ठान की प्रधानता रहती है। अन्य दर्शकों और सहयोगियों के लिए संस्कारों का सामाजिक और सांस्कृतिक सौन्दर्य पर्वो का ही आनंदमय उत्सव प्रस्तुत करता है। संस्कारों में पर्वों और व्रतों के रूपों का समन्वय नहीं, वरन् अपनी विशेषता भी है। वह विशेषता यह है, कि सामाजिक सौन्दर्य और सांस्कृतिक व्यक्तित्व के गौरव का ही सम्पादन नहीं करते, वरन् मनुष्य के प्राकृतिक अहंकार का समाधान भी करते हैं। संस्कारों का मुख्य पात्र व्रतों का अधिकारी बनने के पूर्व संस्कारों के उत्सव का केन्द्र बन कर अपने प्राकृतिक अहंकार का बहुत कुछ समाधान प्राप्त कर लेता है। इस समाधान के द्वारा वह व्यक्तित्व के सांस्कृतिक गौरव और सामाजिक शील का अधिकारी बनता है। बड़ों और बालकों के कर्त्तव्य तथा अहंकार

का सामंजस्य भी संस्कार की विशेषता है। इन दो विशेषताओं के द्वा
संस्कार संस्कृति की वह भूमिका बनाते हैं, जिस पर पर्वों और व्रतों
प्रासाद तथा मंदिर प्रतिष्ठित हैं। इसलिए नवजात मनुष्य का जीव
संस्कारों से आरम्भ होता है। कुछ समर्थ होने पर उपनयन से उस
व्रत भी आरम्भ हो जाते हैं। पर्वों के सामाजिक और सांस्कृतिक सौन्द
का पूर्ण अधिकारी वह विवाह के मुख्य संस्कार के बाद ही होता है
तभी उसके व्रतों के अनुष्ठान भी व्यापक रूप से आरम्भ होते हैं।
प्रकार विवाह के सर्वोत्तम संस्कार के सम्पन्न होने के बाद सांस्कृति
व्यक्तित्व की साधना के व्रत व्यापक रूप में प्रारम्भ होते हैं, तथा पर्वों
सांस्कृतिक सौन्दर्य भी अपनी पूर्ण छटाओं से खिलते हैं। संस्कारों
व्रतों का अन्तर्भाव उपनयन से आरम्भ हो जाता है। उपनयन से आर
होने वाला ब्रह्मचर्य जीवन का प्रथम और सर्वोत्तम व्रत है। इस व्रत
भूमिका में ही अन्य व्रत सम्पन्न होते हैं तथा संस्कारों का प्रयोजन पू
होता है। इस प्रकार संस्कारों के उत्कर्ष में समाहित और विकसि
होकर व्रत सांस्कृतिक व्यक्तित्व में निर्माण की परम्परा को समृद्ध बन
हैं और पर्वों के सांस्कृतिक सौन्दर्य के उत्कर्ष की भूमिका को निरन्तर
बनाते हैं।

इस प्रकार संस्कार और व्रत एक दूसरे के पूरक हैं। संस्कारों
सामाजिक उल्लास मनुष्य के विकासशील जीवन को गौरव देता है
यह गौरव ही उसे उस सांस्कृतिक अनुष्ठान के योग्य बनाता है, जो व्र
में सम्पन्न होता है। व्रतों का अनुष्ठान एक व्यक्तिगत साधना है
सामान्य होने के कारण उसका रूप कुछ सामाजिक अवश्य बन जाता
किन्तु व्रतों की सामाजिकता उनके सौन्दर्य का अतिशय है। मूल
उनका रूप व्यक्तिगत साधना में ही सम्पन्न होता है। उनके रूप
सामाजिक अतिशय उन्हें प्रकृति के संस्कार के अतिरिक्त सामाजिक सौन
के अर्थ में भी सांस्कृतिक बनाता है। यदि 'धर्म' का अर्थ ईश्वर
किसी विशेष रूप, किसी विशेष पैगम्बर अथवा किसी विशेष ग्रन्थ
पूजा नहीं है तो व्रतों को धार्मिक अनुष्ठान भी कहा जा सकता है
अलौकिकता की भावना धर्म में सामान्यतः पाई जाती है, किन्तु

अलौकिकता का अर्थ आवश्यक रूप से किसी वाह्य प्रेरणा से नहीं है। हमारे साधारण लौकिक जीवन से विलक्षण एक आन्तरिक शान्ति और पवित्रता का जो भाव जीवन में उदित होता है, वही धर्म का मूल तत्व है। यह आन्तरिक अनुभव इतना विशाल और व्यापक होता है, कि वह प्राकृतिक अर्थ में व्यक्तिगत नहीं जान पड़ता। इसलिए धर्म का भाव मनुष्य को विनम्र और उदार बनाता है। धर्म की जो रूढ़ियाँ और मान्यताएँ मनुष्य को संकुचित बनाती हैं, वे वस्तुत: धर्म की मौलिक भावना के विपरीत हैं। प्रकृति का संस्कार धर्म और संस्कृति का सन्धि-स्थल है। इसलिये व्रत अपनी आन्तरिक साधना में धार्मिक होने के साथ साथ अपने वाह्य रूप और प्रभाव में संस्कृति के क्षितिजों का स्पर्श करते हैं। व्यक्तिगत रूप से व्रतों की साधना का फल शान्ति और पवित्रता है, जो धर्म के मूल तत्व हैं। किन्तु सामाजिक दृष्टि से धर्म के सागर के क्षितिज पर सांस्कृतिक सौन्दर्य के रंजित मेघ भी खिलते हैं। व्रतों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के परम्परागत रूपों और विधियों की आराधना इस सांस्कृतिक सौन्दर्य का सम्पादन करती है। व्रतों को सांस्कृतिक साधना का कमल कहना उचित है। धार्मिक अनुष्ठान की गहराइयों में इसके शुभ्र मूल छिपे रहते हैं और जीवन के धरातल पर उनके सौन्दर्य का पुष्प खिलता है। सांस्कृतिक सौन्दर्य का यह रूप पर्वों, संस्कारों और व्रतों में वहुत कुछ समान है। भारतीय संस्कृति में इस सौन्दर्य की विभूति प्रचुर है।

व्रतों का अन्तर्मुख अनुष्ठान अपनी आन्तरिक शान्ति और पवित्रता के द्वारा पर्वों और संस्कारों के उल्लास में साम्य की स्थापना करता है। साम्य भारतीय संस्कृति का मौलिक शिव तत्व है। कुछ अंश में वह हमारी संस्कृति के सभी रूपों में मिलता है। फिर भी संस्कारों और पर्वों में प्रकाश की तुलना में विमर्श की विपुलता है। विमर्श का सृजनात्मक और बहिर्मुख सौन्दर्य इनमें अधिक है, यद्यपि समुद्र की अन्तर्धाराओं की भाँति इनके विपुल उल्लास के अन्तर में आन्तरिक प्रकाश की धाराएँ भी बहती हैं। किन्तु इनके प्रकाश की छवि विमर्श के कुसुमों में विकीर्ण होती है। यह कह सकते हैं, कि पर्वों और संस्कारों में आन्तरिक प्रकाश

की किरणें उल्लास के सौन्दर्य-कुसुमों की रचना करती है। इसके विपरीत व्रतों में प्रकाश की प्रधानता है। वे पर्वों और संस्कारों के उल्लास में विमर्श के साम्य और सन्तुलन की ओर संकेत करते हैं। व्रत प्रधान रूप से प्रकाश की साधना है। मानों भारतीय संस्कृति के पर्वों और संस्कारों उल्लास व्रतों की साधना के द्वारा अन्तर के प्रकाश में अपने सौन्दर्य का स्रोत खोजता है। इस प्रकाश की साधना का मार्ग प्रकाशित करके व्रत मानवीय संस्कृति का अनन्त उपकार करते हैं। व्रतों की साधना में जो प्रकाश अपनी महिमा में प्रतिष्ठित होता है, वही सामान्य लोक-जीवन तथा सांस्कृतिक आचारों के विमर्श में दिव्य सौन्दर्य का संचार करता है। व्रतों के सामाजिक और सांस्कृतिक रूप में ही प्रकाश के इस सौन्दर्य का सहज उल्लास होता है। कुछ व्रतों का रूप तो इतने व्यापक रूप में सामाजिक और सांस्कृतिक बन गया है, कि वे प्रत्यक्ष रूप में पर्वों के समान ही बन गए हैं। उनकी आन्तरिक प्रकाश साधना ने बाह्य विमर्श के विपुल सौन्दर्य को भी अपने रूप में समाहित कर लिया है। इनके अतिरिक्त स्वतंत्र रूप में व्रतों की व्यक्तिगत प्रकाश-साधना मनुष्य के अन्तर में उन दिव्य विभूतियों के संस्कार अंकुरित करती है, जो सांस्कृतिक पर्वों के उल्लासमय सौन्दर्य में पुष्पित और फलित होती है। इन पर्वों के उल्लास का रस स्रोत उस प्रकाश के बिन्दु में ही है, जिसकी साधना व्रतों में की जाती है। प्रकृति का संस्कार और सत्व का उत्कर्ष इस साधना की वह भूमिका है, जिस पर प्रकाश का दीपक आलोकित होता है।

व्रतों की इस महिमामयी प्रकाश-साधना के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अन्तर्निहित है। ये तत्व मानवीय संस्कृति के बीज मंत्र हैं। इनमें व्रतों का सामान्य स्वरूप सबसे प्रथम है। व्रत के इस सामान्य रूप का संकेत उसके अभिप्राय में ही निहित है। व्रत का अभिप्राय निश्चय अथवा संकल्प है। यह संकल्प आत्मा का स्वतंत्र अनुशासन है। व्रतों के सम्बन्ध में शास्त्रों के निर्देश बाहरी उपचार मात्र है। उनका सम्बन्ध व्रतों के बाह्य उपकरण से है। व्रतों का आन्तरिक स्वरूप मन का स्वतंत्र संकल्प अथवा निश्चय ही है। यह निश्चय आत्मा की शक्ति का द्योतक और उसकी दृढ़ता का सूचक है। प्राकृतिक प्रवृत्तियों की गति

स्वच्छन्द और स्वाभाविक होती है। इनका संचालन प्राकृतिक प्रेरणाओं से होता है। किन्तु इन प्रवृत्तियों में, विशेषतः मनुष्य के जीवन में, मर्यादा का कोई स्वाभाविक तंत्र नहीं है। स्वस्थ और संस्कृत जीवन के लिए यह मर्यादा अत्यन्त आवश्यक है। यह मर्यादा प्रकृति का अनुशासन है। प्रकृति की स्वाभाविक गति में इस मर्यादा का तंत्र निहित न होने के कारण मनुष्य जीवन में इसकी प्रतिष्ठा आत्मा के स्वतंत्र अध्यवसाय के द्वारा होती है। इस अध्यवसाय को 'संकल्प' कहना उचित होगा। संकल्प में चेतना की सजगता और सृजनात्मकता के साथ-साथ निश्चय की दृढ़ता का समवाय है। यह संकल्प ही व्रत का मर्म है। आत्मिक अध्य-वसाय के रूप में जो संकल्प है, धार्मिक आचार के रूप में वही व्रत है। 'व्रत' संकल्प का आचार में अनुवाद है। कल्प चेतना का विकल्प है। जो प्रकृति की प्रवृत्तियों को अनुशासित करने की कल्पना करता है। निश्चयात्मक होने पर यह संकल्प बन जाता है। संकल्प बन कर यह प्रकृति के अनुशासन में समर्थ होता है। कल्प की मानसिक क्रिया और उसका आत्मिक अध्यवसाय स्वतंत्र है। वह प्रकृति की गति के समान सहज और स्वाभाविक नहीं है। व्रत के रूप में संकल्प का आचार इस स्वतंत्रता को प्रमाणित करता है। व्रत आचार का वह रूप है, जिसे हम स्वतंत्र भाव से वरण करते हैं। स्वतंत्रता और निश्चयपूर्वक वरण करने पर कोई भी कल्प संकल्प बन जाता है।

स्वतंत्र होने के साथ-साथ वह सृजनात्मक भी है। कल्प का अर्थ 'सृजन' भी है। संकल्प के सम्यक भाव में स्वतंत्रता और निश्चयात्मकता के साथ सृजनात्मकता भी समाहित है। इन से युक्त होने पर ही कल्प पूर्णता से अंचित होता है। संकल्प की सृजनात्मकता कल्पना के स्वतंत्र भाव को आकार देने और जीवन के प्राकृतिक रूपों को इन भावों में समन्वित करने में है। संकल्प के आत्मिक अध्यवसाय से जीवन का रचनात्मक रूप आरम्भ होता है। इसी रचना का नाम संस्कृति है। इस संस्कृति में एक ओर प्रकृति की मर्यादा का अनुष्ठान होता है और आत्मा के भावों के अनुरूप प्रकृति के संस्कार बनते हैं। दूसरी ओर संस्कृति में रूपों के अतिशय की रचना होती है और ये रूप

प्रकृति के व्यापारों और पदार्थों में समन्वित होते हैं। संकल्प की स्वतंत्रता रचनात्मकता और निश्चयात्मकता संस्कृति के इन दोनों रूपों में ही अपेक्षित है। व्रत का सम्बन्ध संस्कृति के पहिले रूप से अधिक है। व्रत के आचार का प्रमुख उद्देश्य आत्मा के संकल्प के द्वारा प्रकृति का संस्कार और उसकी मर्यादा है। एक दृष्टि से यह संस्कृति का पहला रूप समस्त सांस्कृतिक रचनाओं और व्यवस्थाओं का पीठ है। इसी के आधार पर सांस्कृतिक सौन्दर्य के रूप प्रतिष्ठा और सफलता पाते हैं। व्रत के संकल्प में आत्मा का जो भाव प्रकाशित होता है, वही संस्कृति के सौन्दर्य का बीज है। संस्कृति के दोनों रूप इसी बीज के दो दल हैं। यही भाव का प्रकाश सांस्कृतिक आचार और सौन्दर्य के रूपों के विमर्श में मूर्त होता है। व्रतों के आचार में सौन्दर्य का भी कुछ समवाय होता है। किन्तु प्रधानतः प्रकृति की मर्यादा और उसका संस्कार ही व्रतों का लक्ष्य है। इस मर्यादा के फलक पर ही आत्मा के मूल सांस्कृतिक भाव के प्रकाश में सांस्कृतिक सौन्दर्य के रूप प्रकाशित होते हैं। इसलिए व्रतों में अन्तर्निहित संकल्प का भाव हमारे धार्मिक और सांस्कृतिक आचारों में बहुत मान्य है। सभी अनुष्ठान और आचारों में सबसे पहिले संकल्प किया जाता है। इस संकल्प की इतनी महिमा है कि उपनिषदों में संकल्प को भी ब्रह्म का रूप माना गया है। ब्रह्म के संकल्प से ही सृष्टि का विस्तार हुआ है।

व्रत का प्रयोजन संकल्प का आचार में अनुशीलन है। उसमें आत्मा के भाव का प्रकाश विमर्श के रूप में साकार होता है। इस प्रकार व्रत जीवन में साधना का रूप है। इस दृष्टि से व्रतों की अन्तर्मुख साधना पर्वों के उल्लास की पूरक है। पर्वों और संस्कारों के सामाजिक उल्लास में आत्मा के भाव की गति विमर्श और व्यंजना की ओर होती है। व्रतों की व्यक्तिगत साधना इस उल्लास के स्रोत का अनुसन्धान करती है। इस साधना की निष्ठा शान्ति, पवित्रता और त्याग के भावों में सामाजिक उल्लास के सौन्दर्य और आनन्द का सात्विक आधार खोजती है। व्रतों की साधना व्यक्तिगत होते हुए भी आध्यात्मिक होने के कारण स्वार्थमय नहीं है। शरीर और प्रकृति की इकाईयों की व्यक्तता

स्वार्थमय होती है। इन इकाइयों में एक का स्वार्थ दूसरे का स्वार्थ नहीं बन सकता। सत्ता और स्वार्थ का पृथकत्व इन इकाइयों का मुख्य लक्षण है। किन्तु आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से व्यक्तित्व की इकाई केवल साधना का एक निमित्त और माध्यम है। इस माध्यम में जिस आत्मिक साधना का अनुष्ठान होता है, उसे प्राकृतिक अर्थ में व्यक्तिगत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एक ओर जहाँ इसमें व्यक्तित्व का गौरव है, वहाँ दूसरी ओर यह गौरव ही सामाजिक मंगल के भावों में प्रकाशित और फलित होता है। व्यक्तित्व के आध्यात्मिक गौरव की विभूति व्यक्ति के स्वार्थ में उसी प्रकार सीमित नहीं रह सकती, जिस प्रकार कि सूर्य का तेज अथवा चन्द्रमा की ज्योति इन ग्रहों की परिधि में ही सीमित नहीं रह सकती। यद्यपि व्रतों की साधना का लक्ष्य मुख्यतः आत्मा के भावों का अन्तर्मुख प्रकाश है। फिर भी इस प्रकाश का प्रसार सामाजिक जीवन के सद्भावों में होता है। ये सद्भाव ही पर्वों और संस्कारों के सामाजिक उल्लास और सौन्दर्य के मूल स्रोत हैं। यह कहना उचित होगा कि व्रतों की साधना में ही मनुष्य के व्यक्तित्व के वे आत्मिक अन्तर्लोक प्रकाशित होते हैं, जो संस्कृति के भावों के तीर्थ हैं। इस साधना की चर्या में सम्पन्न होने वाला प्रकृति का संस्कार मानवीय व्यक्तित्व के इस उन्नयन को सम्भव बनाता है। आत्मिक भावों के प्रकाश और प्रकृति के संस्कार के द्वारा व्रतों की साधना संस्कृति की आवश्यक भूमिका है।

इस प्रकार संकल्प और साधना व्रतों के दो प्रमुख और सामान्य लक्षण हैं। सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन में इन दोनों के महत्व को ऊपर प्रकाशित किया गया है। किन्तु इसके अतिरिक्त लौकिक और व्यावहारिक जीवन में भी इनका महत्व कम नहीं है। मनुष्य का समस्त जीवन सांस्कृतिक और आध्यात्मिक नहीं है। उसके सभी लौकिक व्यवहारों में सामाजिक सौन्दर्य का अनुयोग नहीं रहता। आधुनिक जीवन में तो यह बहुत कम हो गया है और जीवन का वह पक्ष बहुत बढ़ गया है, जिसे सीमित अर्थ में व्यक्तिगत और बहुत कुछ सीमा तक प्राकृतिक कहा जा सकता है। जीवन के इस पक्ष में भी संकल्प और साधना का बहुत उपयोग है। संकल्प के निश्चय का बल मनुष्य को उसके लौकिक

अध्यवसायों में बहुत कुछ प्रगति दे सकता है। प्राचीन समाज व्यवस्था में सामाजिक वातावरण में इतनी अधिक प्रेरणा थी, कि मनुष्य को व्यक्तिगत निश्चय के रूप में इतने अधिक संकल्प की अपेक्षा न थी। किन्तु आज के जीवन में यह सामाजिक प्रेरणा बहुत मन्द हो गई है। अत: मनुष्य को अपने व्यक्तिगत हित के लौकिक व्यवहारों में भी संकल्प के निश्चय और निष्ठा की आवश्यकता है। सामाजिक प्रेरणा कम हो जाने के कारण सांस्कृतिक भाव इतने सहज नहीं रह गये हैं, जितने की पहिले थे। सांस्कृतिक भावों में प्राकृतिक हित की स्वाभाविक प्रेरणा भी नहीं है। अतः सांस्कृतिक क्षेत्र में संकल्प का महत्व पहले की अपेक्षा अब अधिक है। संकल्प की मन्दता के कारण ही आज सांस्कृतिक उद्योग इतने सफल नहीं हो रहे हैं। लौकिक प्राकृतिक हितों में भी इतनी सहज प्रेरणा नहीं है, जितनी की प्राय: हम मान लेते हैं। स्वाभाविक प्रेरणा सुख में ही सबसे अधिक है। किन्तु प्रकृति में भी सुख और हित सदा एक नहीं होते। प्राकृतिक हित को वरण करने के लिए भी मनुष्य को संकल्प के बल की अपेक्षा होती है। इस संकल्प की मन्दता के कारण ही अधिकांश लोग प्राकृतिक हित के मार्ग का अनुसरण न करके रोगों से ग्रस्त होते हैं। प्राकृतिक हित के अतिरिक्त लौकिक जीवन में अभ्युदय और उन्नति की कामना सबको होती है। इस अभ्युदय और उन्नति के मार्ग में अग्रसर होने के लिए भी संकल्प का बल चाहिए। अध्ययन, व्यवसाय, राजनीति आदि किसी का भी लौकिक क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिसमें मनुष्य का अभ्युदय संकल्प की दृढ़ता ओर सबलता पर निर्भर न हो। इनके अतिरिक्त अन्य लौकिक क्षेत्रों में भी मनुष्य की उन्नति संकल्प के बल पर अवलम्बित है। संकल्प का निश्चय ही मनुष्य की शक्ति और उसके साधनों को सफलता के मार्ग में लगाता है। मानसिक दृष्टि से संकल्प कर्म की दिशा का अनुसन्धान और व्यावहारिक दृष्टि से वह कर्म के मार्ग का सम्बल है। दोनों ही प्रकार से संकल्प सांस्कृतिक और आध्यात्मिक है। उत्कर्ष का सम्बल होने के साथ-साथ लौकिक और व्यवहारिक जीवन में भी अभ्युदय का अवलम्ब है। संकल्प की शिक्षा और समृद्धि उक्त तीनों ही क्षेत्रों में मनुष्य की प्रगति का पथ प्रसस्त करती है।

संकल्प के समान ही साधना का भी साँस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन के अतिरिक्त लौकिक और व्यावहारिक जीवन में भी उतना ही महत्व है। आध्यात्मिक दृष्टि से साधना एक अन्तर्मुख उद्योग है, जो आत्मा के भावों को प्रकाशित करता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में साधना आत्मा के इन भावों को प्रेमपूर्ण सम्बन्धों और सुन्दर रचनाओं में साकार बनाती है। किन्तु लौकिक और व्यक्तिगत जीवन की सफलता तथा उन्नति में साधना का योग बहुत है। साधना का सामान्य रूप तत्पर और उत्साहपूर्ण अध्यवसाय है। संकल्प की निष्ठा उसकी प्रेरणा है और उस निष्ठा पर आश्रित तत्पर अध्यवसाय साधना का धर्म है। अध्यात्म और संस्कृति में ही इस तत्पर अध्यवसाय की अपेक्षा नहीं है, लौकिक और व्यक्तिगत हित के क्षेत्र में भी वह उतना ही उपयोगी है। लौकिक उन्नति (अभ्युदय) की कामना तो सभी करते हैं, किन्तु सभी उसको प्राप्त नहीं कर पाते। इसका कारण यही है कि सभी लोगों में संकल्प की पर्याप्त निष्ठा नहीं होती। यदि संकल्प की मानसिक निष्ठा कुछ होती भी है, तो वह साधना के तत्पर अध्यवसाय में चरितार्थ नहीं हो पाती। साधना एक प्रकार का कर्मयोग है। जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति और प्रगति के लिए वह आवश्यक है। कर्म तो जीवन की आवश्यकता है, जो साधना न होने पर विवशता बन जाती है। अधिकांश लोग इसी विवशता पूर्वक कर्म का भार ढोते हैं। किन्तु इस विवशता से जीवन भी भार और नीरस बन जाता है। साधना एक स्वतंत्र अध्यवसाय है। इस स्वतंत्रता से ही कर्म 'योग' बन जाता है। स्वतंत्रता के कारण साधनामय कर्म आनन्द का स्रोत होता है। साधना को स्वतंत्रता का यह वरदान संकल्प से मिलता है। संकल्प ही साधना का उद्‌गम है। संकल्प में प्रकट होने वाली स्वतंत्रता की भावना ही साधना के अध्यवसाय को उत्साह और आनंद पूर्ण बनाती है। साधना का यह स्वतंत्र अध्यवसाय अपनी तत्परता से हमारे लौकिक और व्यक्तिगत हित के उद्योगों को सफल ही नहीं बनाता, वरन् उनमें उत्साह और आनंद का भी समवाय करता है।

संकल्प की निष्ठा और साधना की तत्परता जीवन के सभी क्षेत्रों में जितनी महत्वपूर्ण है, उतनी ही कठिन भी है। किन्तु यह कठिनता सभी

ऊँची मूमिका पर प्रतिष्ठित किया। अध्यात्म की भूमि में संकल्प और साधना के अनुष्ठान का अभ्यास करने पर सांस्कृतिक और लौकिक जीवन के क्षेत्रों में उनका उपयोग सरल हो जाता है। अध्यात्म में संकल्प और साधना का रूप सबसे अधिक शुद्ध और सबसे कठिन होता है। अतः वास्तव में बहुत कम लोगों की गति उसमें होती है। इसीलिए धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा में व्रतों का रूप इतना शुद्ध आध्यात्मिक नहीं है। लोक परम्परा में व्रत एक सामान्य आचार के रूप में प्रचलित है। अधिकांश लोग इन व्रतों का पालन करते हैं। इन व्रतों के आधार में भी आत्मा का संकल्प अवश्य रहता है। इसके बिना कोई भी धार्मिक अथवा सांस्कृतिक कर्म सम्भव नहीं हो सकता। किन्तु यह संकल्प शुद्ध रूप में आध्यात्मिक नहीं होता, जैसा कि आध्यात्मिक साधना के के क्षेत्र में रहता है। अन्तर यह है कि संकल्प के शुद्ध आध्यात्मिक रूप में न सांस्कृतिक अध्यवसायों की भाँति सामाजिक भाव का सहयोग रहता है, और न लौकिक उद्योगों की भाँति प्राकृतिक उपकरणों का अवलम्ब रहता है। साधना के अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में यह संकल्प सम्भव हो सकता है। किन्तु सामान्यतः लोगों के लिए यह सुगम नहीं है। अतः सांस्कृतिक भावों और प्राकृतिक निमित्तों के अवलम्ब से व्रतों के द्वारा लोक साधारण को अध्यात्म की दिशा में अभिमुख किया जाता है। व्रतों का मूल उद्देश्य आध्यात्मिक ही है। किन्तु लोक साधारण के लिए अध्यात्म शुद्ध रूप में सम्भव न होने के कारण संस्कृति और प्रकृति के सहयोग से उनके लिए व्रतों का मार्ग बनाया गया है। व्यक्तिगत आचार होने पर ही व्रत एक सामान्य आचार है। अनेक लोग एक ही समय में और एक ही रूप में एक व्रत का अनुष्ठान करते हैं। इस सामान्य सासाजिक भाव के अतिरिक्त व्रतों की विधि में कुछ विशेष रूपों का सौन्दर्य भी है। सामाजिकता और सौन्दर्य के सामाजिक भावों के अतिरिक्त ब्रतों में प्रकृति का अनुषंग भी है। यह भावात्मक और निषेधात्मक दोनों ही रूपों में है। निषेधात्मक रूप में यह सामान्य जीवन में ग्राह्य अनेक प्राकृतिक उपकरणों का त्याग है। प्रकृति के निषेध का उद्देश्य सदा अध्यात्म की ओर अभिमुख करना है। किन्तु दूसरी ओर भावात्मक रूप में यह संकीर्ण सीमा

संस्कृति का आधार ग्रहण किया गया है। व्रतों की आध्यात्मिक साधना में भी सांस्कृतिक भाव के सन्निधान के द्वारा संकल्प की स्वतंत्रता को चरितार्थ करने के लिए एक अवलम्बन प्रदान किया गया है। प्रकृति के क्षेत्र में मनुष्य निसेधात्मक स्वतंत्रता चाहता है। इसमें भी उसकी स्वतंत्र भावना प्रमाणित नहीं होती, वरन् प्रकृति की सहज गति की प्रेरणा ही अधिक है। स्वभाव की विवशता को मुक्त मार्ग देने के लिए वह एक निषेधात्मक स्वतंत्रता चाहता है। स्वतंत्रता के जिन रूपों से हम सामान्यतः परिचित हैं, उनमें अधिकांश इसी प्रकार निषेधात्मक है और अन्ततः स्वभाव की विवशता के पोषक हैं। इसमे सन्देह नहीं कि प्राकृतिक उद्योगों में भी मनुष्य कुछ अंश में संकल्प की स्वतन्त्रता को प्रमाणित करता है। किन्तु उस स्वतंत्रता में स्वभाव की विवश प्रेरणा भी बहुत रहती है। प्राकृतिक उद्योगों की स्वतंत्रता आरम्भ में अधिक रहती है और कुछ अभ्यास के बाद वह स्वभाव की विवशता के समान ही बन जाती है। प्रारम्भ के अतिरिक्त प्राकृतिक उद्योगों में सकल्प की स्वतंत्रता का अवसर बहुत कम रहता है। जीवन में नवीन आरम्भ बहुत कम होते हैं। यौवन के ज्वार में कुछ इनकी शक्ति रहती है, किन्तु आगे वय का विकास होने पर यह शक्ति बहुत कम हो जाती है। इसीलिये लोगों की आयु का उत्तरकाल प्रायः अभ्यास की विवशता और नीरसता में व्यतीत होता है। जीवन के रस और सौन्दर्य का मर्म भावात्मक स्वतंत्रता में है। यह स्वतंत्रता संस्कृति और अध्यात्म के क्षेत्रों में अधिक सम्पन्न रूप में फलित होती है। अध्यात्म का क्षेत्र तो पूर्ण स्वतंत्रता का क्षेत्र है, यद्यपि इस स्वतंत्रता में लोगों की रुचि बहुत कम होती है। अध्यात्म की स्वतंत्रता में रुचि होने के लिए *अध्यात्म की सजग स्वतंत्रता का ही* आधार है। उसमें कोई प्रकृति की प्रेरणा नहीं है, जो सबको विवशता पूर्वक इस ओर प्रेरित कर सके। पुनरुक्ति होते हुए भी यह अध्यात्म का एक सरल सत्य है। भारतीय संस्कृति के विधायकों ने संस्कृति की सम्पन्न और समृद्ध कल्पनाओं में अध्यात्म की इस स्वतंत्रता का समवाय एक ऐसे सहज रूप में किया है, जिससे साधारण जनों के लिए भी स्वतन्त्रता का रस और सौन्दर्य बहुत सुलभ बन गया है। चाहे संस्कृति के कुछ

उपकरण प्राकृतिक हों, किन्तु संस्कृति के रूप प्राकृतिक नहीं होते। वे चेतना की स्वतंत्र रचनाएँ होते हैं। यदि वे बाह्यतः प्राकृतिक दिखाई भी देते हैं, तो भी चेतना के स्वतंत्र और सृजनात्मक भाव से अनुप्राणित होकर ही वे संस्कृति में समवेत होते हैं। अतः संस्कृति के रूपों के संयोग से कोई भी आध्यात्मिक भाव साधारण जनों के लिये अपनी स्वतन्त्रता में अक्षुण्ण रहते हुए भी अधिक सुग्राह्य बन जाता है। संस्कृति का सामाजिक भाव और संस्कृति के रूपों का सौन्दर्य उनके ग्रहण को सरल और उनके अनुशील को मधुर बना देता है, अन्यथा अध्यात्म का अनुशीलन कठिन होने के साथ-साथ कठोर भी है।

भारतीय परम्परा के व्रत अपने मूल उद्देश्य में आध्यात्मिक हैं। उनका अभिप्राय: अन्तर्मुखी साधना की ओर प्रेरित करना है। किन्तु अध्यात्म की कठिनताओं से परिचित होने के कारण संस्कृति के विधायकों ने उसे सांस्कृतिक रूपों से समन्वित कर सुग्राह्य और सुन्दर बना दिया दिया है। प्रकृति के उपकरणों का अवलम्बन व्रतों की आध्यात्मिक अलौकिकता को जीवन के और भी निकट ले आता है। अध्यात्म के उदात्त और दुर्लभ भाव प्रकृति के सरल और सात्विक उपकरणों में अनायास चरितार्थ होते हैं। सांस्कृतिक भावों और रूपों का समन्वय व्रतों में अनेक रूपों में सम्पन्न हुआ है। रूप और भाव का अतिशय सौन्दर्य का सम्पूर्ण मर्म है। सौन्दर्य के उपकरणों में रूप का अतिशय अनेक प्रकार से सम्पन्न होता है। व्रतों में विधि और आचार की विशेषता में यह रूप का अतिशय मिलता है। विशेषता भी संस्कृति के सौन्दर्य का लक्षण है। यद्यपि सभी व्रतों का उद्देश्य समान रूप से आध्यात्मिक है और आध्यात्मिकता एक सामान्य भाव है, फिर भी प्रत्येक व्रत की समस्त योजना एक अपना विशेष रूप रखती है, जो अन्य व्रतों से भिन्न है। व्रतों के रूप की यह विशेषता अनेक प्रकार से सम्पन्न होती है। प्रत्येक व्रत के निमित्त, देवता, आचार, उपकरण, आहार, समय आदि भिन्न हैं। कोई व्रत किसी देवता अथवा अवतार के जन्म का है, तो दूसरा दिव्य वृक्षों की वन्दना है। कोई व्रत पूर्ण चन्द्रमा के प्रकाश की अर्चना है, तो दूसरा अमावस्या का मौन है। एकादशी के सामान्य व्रत

में भी इतनी विशेषता है कि वर्ष की २४ एकादशियों में प्रत्येक का नाम भिन्न है। कोई 'पुत्रादा' एकादशी है, तो दूसरी 'मोक्षदा' एकादशी है। इस प्रकार इनके निमित्तों में भेद है। अनेक व्रतों का सम्बन्ध देवताओं से है। भिन्न-भिन्न देवताओं के सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न रूपों में अनेक व्रत सम्पन्न होते हैं। यह रूपों की विशेषता व्रतों के धर्माचार को सांस्कृतिक सौन्दर्य से अंचित करती है। कोई शिव की पूजा का व्रत है, तो कोई विष्णु के शयन का व्रत है। कोई लक्ष्मी पूजा का व्रत है, तो कोई पार्वती की पूजा का व्रत है, तो कोई दुर्गा की पूजा का व्रत है। सभी देवता एक ही सत्ता और शक्ति के रूप हैं, फिर भी अनेक रूपों में उनकी आराधना अध्यात्म को सुन्दर बनाती है। व्रतों में देवताओं का संयोग उनके अध्यात्म में धार्मिक पवित्रता का समवाय करता है। देवता धर्म और सस्कृति के कुछ विशेष तत्वों के प्रतीक हैं। व्रतों में उन आदर्शों को जीवन में अन्वित किया गया है। देवताओं के नाम, रूप आदि की विशेषता व्रतों के धर्म और अध्यात्म में सौन्दर्य का समवाय करती है। देवताओं के साथ-साथ सभी व्रतों की कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं। कुछ व्रतों के अवसर पर स्त्रियाँ आचार्यों से उन व्रतों के सम्बन्ध की पौराणिक कथाएँ सुनती हैं। पुराणों में अनेक व्रतों की कथाएँ और उनके माहात्म्य मिलते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक व्रतों की कथाएँ लोक परम्परा में प्रचलित हैं। प्रायः वृद्धा स्त्रियाँ, जो इन परम्पराओं से परिचित हैं, कुछ व्रतों के अवसर पर इन कथाओं को सुनाती हैं। इन कथाओं के रूप में इन व्रतों की महिमा, इनका आध्यात्मिक तात्पर्य, सांस्कृतिक प्रयोजन आदि सुरक्षित हैं। कथा में मनुष्य की स्वाभाविक रुचि है। वैदिक युग में यज्ञों के अवसर पर जो आख्यान सुनाए जाते थे, उन्हीं के बीजों से पुराणों के कल्प वृक्ष पल्लवित हुए। पुराणों की लोकप्रियता का एक कारण उनका कथामय रूप भी है। कथा का माध्यम रुचिकर और सुग्राह्य होता है। अतः व्रत आदि धार्मिक आचारों को कथा लोकप्रिय रूप देती है। रुचिकर होने के कारण कथा सरलता से याद रहती है। इसी कारण लोक परम्परा में कथाओं का क्रम एक अखण्ड सूत्र के रूप में चला आता है। व्रतों के निमित्त और देवता आध्यात्मिक तथा धार्मिक होते हुए भी व्रतों में ऐसे रूप समवेत हैं,

जिसके कारण धर्म और अध्यात्म भी लोकप्रिय बन गये हैं। किन्तु कथाओं के योग ने व्रतों की इस लोकप्रियता को बढ़ाने में सबसे अधिक योग दिया। इन कथाओं की अनेकता भी निमित्तों और देवताओं की अनेकता की भाँति व्रतों के सांस्कृतिक सौन्दर्य का सम्वर्धन करती है।

प्रत्येक व्रत की विधि और उसका आचार भी भिन्न है। पूजा-पाठ, उपवास आदि अनेक व्रतों के सामान्य लक्षण हैं। किन्तु विभिन्न व्रतों में इनकी विधि अलग अलग है। सभी देवताओं की पूजा समान विधि और समान उपकरणों से नहीं की जाती। अतः व्रतों में विधि के भेद का एक कारण तो देवताओं की अनेकता है। विधि के अतिरिक्त विभिन्न व्रतों के आचारों में भी अन्तर है। किसी में धर्म-ग्रन्थ का पाठ अभीष्ट है, तो किसी में मौन विहित है। स्नान का विधान तो सब व्रतों में है, किन्तु अन्य आचार भिन्न हैं। किसी में चन्द्रमा का दर्शन अभीष्ट है, तो किसी में नक्षत्रों का। किसी में वृक्ष की परिक्रमा है, तो किसी में देवता का दर्शन है। विधि और आचार की अनेकरूपता व्रतों में सक्रिय सौन्दर्य का सन्निवेश करती है। आचार की भाँति ही व्रतों के उपकरण भी भिन्न व्रतों का मूल उद्देश्य आध्यात्मिक है। अध्यात्म के लिये किन्हीं उपकरणों की आवश्यकता नहीं है। एक प्रकार से उपकरण उसमें बाधक भी हो सकते हैं। यदि उपकरणों के बिना अध्यात्म की व्यावहारिक साधना सम्भव न हो, तो भी उपकरणों की विशेषता का अध्यात्म में कोई महत्व नहीं है। किन्हीं भी उपकरणों का अवलम्ब अध्यात्म में उपकारक हो सकता है। किन्तु व्रतों की व्यवस्था में उपकरणों का उपयोग इस निरपेक्षता के साथ नहीं किया गया है। विभिन्न व्रतों में विभिन्न और विशेष उपकरणों का विधान है। सब देवताओं की अर्चा समान उपकरणों से नहीं होती। शिव की पूजा के लिए बेल-पत्र, धतूरे का फल, आक और धतूरे का फूल आदि अपेक्षित हैं, तो देवी की पूजा के लिए रोली और प्रसाद के लिए चना चाहिए। वट सावित्री के व्रत में वट के कच्चे फलों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अन्य व्रतों में भी उपकरणों की अपेक्षा होती है। व्रतों में उपकरणों का योग इसीलिए किया गया है, कि लौकिक अवलम्बों के बिना साधारण जनों के लिए अध्यात्म

की साधना सम्भव नहीं है। अध्यात्म की प्रतिष्ठा और महिमा अपने आप में अवश्य है, किन्तु लौकिक जीवन और उसके उपकरणों से अध्यात्म का कोई विरोध नहीं है। उसके विपरीत स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी, लौकिक जीवन में ही अध्यात्म चरितार्थ होता है और चरितार्थ होकर लौकिक जीवन को पवित्र एवं मंगलमय बनाता है। अतः लौकिक उपकरणों द्वारा व्रतों का निर्वाह जीवन में अध्यात्म का अन्वय करता है। विभिन्न व्रतों में विशेष उपकरणों का उपयोग व्रतों के धार्मिक आचार को सुन्दर बनाता है। रूप के अतिजश की विशेषता सौन्दर्य का लक्षण है। उपकरणों की विशेषता विभिन्न व्रतों में इस अतिशय को सम्भव बना कर उनमें सौन्दर्य का समवाय करती है। उपकरणों की विशेषता का यह सौन्दर्य व्रतों का ही नहीं, वरन् हमारे समस्त समस्त सांस्कृतिक आचारों का लक्षण है। उपकरणों की विशेषता विधि आदि की विशेषता के साथ-साथ हमारे समस्त आचारों को सुन्दर बनाती है। व्रतों के धार्मिक और आध्यात्मिक आचार भी उपकरण की इस विशेषता के सौन्दर्य से वंचित नहीं है।

व्रत मूलतः आध्यात्मिक भाव के साधन हैं। प्रकृति में कुछ उपराम उनका आवश्यक अंग है। अतः उपवास का व्रतों में इतना महत्व है कि एक प्रकार से उपवास व्रत का पर्याय बन गया है। उपवास का अभिधार्थ अनाहार अथवा फलाहार नहीं है, किन्तु लक्षण के द्वारा वह इनका वाचक बन गया है। उपवास का अर्थ आध्यात्मिक भाव की निकटता है। इसके लिए उस प्रकृति से विराम अपेक्षित है, जिसमें हम प्रायः संलग्न रहते हैं। प्रकृति की ओर से उन्मुख रह कर हम अध्यात्म की ओर अभिमुख हो सकते हैं। भोजन मनुष्य का मुख्य प्राकृतिक आधार है और प्राकृतिक बन्धनों का प्रतिनिधि है। अतः व्रतों की अध्यात्म-साधना में भोजन से विरित को मुख्य माना गया है। किन्तु सभी व्रतों में पूर्ण अनाहार नहीं होता। अधिकांश व्रतों में अल्प और सात्विक आहार वहित हैं। उस आहार में भी अनेकरूपता है। किसी व्रत में अन्न वर्जित है, तो किसी में अन्न ग्राह्य है। व्रत में भोजन मुख्य न होने के कारण विभिन्न व्रतों में विभिन्न प्रकार के भोजनों का विधान तो नहीं है,

फिर भी ऋतुओं के अनुसार और भोजन की भारतीय परम्परा के अनुसार अनेक प्रकार के आहार व्रतों में ग्राह्य हैं। आहार की अनेक रूपता भी व्रतों के सांस्कृतिक सौन्दर्य को बढ़ाती है, चाहे भोजन में सौन्दर्य का यह समवाय अध्यात्म का बाधक हो। एक ओर इस कारण से लोगों का ध्यान व्रत में भी भोजन की ओर आकर्षित हो जाता है, किन्तु दूसरी ओर प्रकृति का समाधान करके यह अध्यात्म की साधना और उसके समन्वय को सम्भव बनाता है। विशुद्ध अध्यात्म की दृष्टि से यह उचित न हो, किन्तु अध्यात्म के व्यवहार की दृष्टि से यह संगत है।

समय की विविधता भी व्रतों के सांस्कृतिक सौन्दर्य को बढ़ाती है। वर्ष के विभिन्न अवसरों पर ये व्रत सम्पन्न होते हैं। मास और तिथि के अनुसार इन व्रतों का समय नियत है। चान्द्रमास के अनुसार होने के कारण इन तिथियों का समय अनिश्चित होता है। अतः वह सदा अनुसन्धान का विषय रहता है। एकादशी, प्रदोष आदि के व्रत प्रत्येक पक्ष अथवा प्रत्येक मास में होते हैं। अन्य व्रतों के ऋतु, मास आदि भिन्न-भिन्न होते हैं। इससे व्रतों में अनेकरूपता आती है और उन्हें सुन्दर बनाती है। सभी व्रतों की पारणा का समय भी एक नहीं है। मध्याह्न से लेकर मध्य रात्रि तक विभिन्न व्रतों की पारणा के समय हैं। सूर्यास्त चन्द्रोदय, नक्षत्रोदय आदि की वेलाओं से व्रतों की पारणा का विशेष सम्बन्ध है। किन्तु विभिन्न व्रतों की पारणा के विशेष समय अलग-अलग हैं। समय की विविधता और विशेषता व्रतों को एक सौन्दर्य प्रदान करती है। समय के सम्बन्ध से यह सौन्दर्य भी एक प्रकार से रूप का अतिशय ही है, जो कलात्मक सौन्दर्य का सामान्य लक्षण है। इस प्रकार निमित्त, कथा, देवता, उपकरण, आहार और समय के विशेष और विविध रूपों का संयोग व्रतों के आध्यात्मिक आचार को सौन्दर्य से समन्वित करता है। सौन्दर्य से समन्वित होकर व्रतों के धार्मिक और आध्यात्मिक आचार सांस्कृतिक बन जाते हैं। सांस्कृतिक बन कर इन आचारों का अनुशीलन अधिक सुकर और सार्थक होता है।

पर्व और संस्कारों की तुलना में व्रत व्यक्तिगत एवं आध्यात्मिक अध्यवसाय है। पर्वों और संस्कारों में सामाजिक उल्लास के निर्झर

लहराते हैं। इनकी तुलना में व्रत आध्यात्मिक साधना के शान्त सरोवर हैं। शैव-दर्शन की भाषा में पर्वों और संस्कारों को प्रकाश का वहिर्मुख विमर्श कह सकते हैं। व्रतों की साधना विमर्श का अन्तर्मुख प्रकाश है। अतः जहां एक ओर सामाजिक उल्लास और उत्सव पर्वों एवं संस्कारों के रूप को अलंकृत करते हैं, वहां दूसरी ओर व्यक्तिगत शान्ति और पवित्रता व्रतों का विशेष लक्षण है। व्रतों की इस शान्ति और पवित्रता का प्रभाव सामाजिक वातावरण पर भी होता है। व्रतों के प्रभाव से सामाजिक जीवन भी पवित्र और शान्तिमय बनता है। फिर भी इन व्रतों का अधिष्ठान व्यक्ति ही है और व्यक्ति के केन्द्र से ही शान्ति एवं पवित्रता का प्रकाश समाज में फैलता है। किन्तु व्रत उस रूप में व्यक्तिगत नहीं है, जिस रूप में कि प्रकृति के धर्म व्यक्तिगत होते हैं। प्रकृति के धर्म स्वार्थमय हैं, वे व्यक्तियों की इकाइयों में सीमित रहते हैं। व्रतों की आध्यात्मिक साधना अन्तर्मुख होने के कारण आरम्भिक चेतना की व्यक्ति सत्ता के द्वारा व्यक्तिगत प्रतीत होती है। किन्तु स्वार्थ के अर्थ में वह व्यक्तिगत नहीं है। 'स्व' और 'पर' के भेद से रहित अध्यात्म की आत्म-विभूति सम है। इसी स्वार्थहीन साम्य में व्रतों की शान्ति और पवित्रता प्रकाशित होती है। वाह्य आचार के रूप में व्रत व्यक्तिगत कर्त्तव्य और अध्यवसाय अवश्य है। इस दृष्टि से वे पर्वों और संस्कारों भिन्न हैं। पर्व ऐसे सामाजिक उत्सव हैं, जिनमें व्यक्तिगत और सामाजिक भावना तथा कर्त्तव्य और अधिकार का भाव-पूर्ण साम्य है। इसीलिए वे साम्य-संस्कृति के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं। भारतीय संस्कृति की समस्त विभूतियों का सामंजस्य पर्वों में पूर्ण हुआ है। उनमें प्रकाश और विमर्श का भी साम्य है। किन्तु संस्कारों में विमर्श की प्रधानता है। वे विकासशील मानव के प्रति बड़ों के कर्त्तव्य के सुन्दर और श्रेयोमय रूप हैं। संस्कारों में मनुष्य की मधुर और मंगलमय भावना सामाजिक कर्त्तव्य के रूप में प्रकाशित होकर उत्सव के रूप में साकार होती है। दूसरे मनुष्यों के प्रति कर्त्तव्य होने के कारण संस्कारों को हम सामाजिक कर्त्तव्य कह सकते हैं। इसके विपरीत व्रत मनुष्य के अपने प्रति कर्त्तव्य हैं। अध्यात्म को स्वार्थमय नहीं कहा जा सकता, फिर भी व्रतो में दूसरे के प्रति कर्त्तव्य

का भाव प्रकट नहीं है। अतः उन्हें व्यक्तिगत कर्त्तव्य कहा जा सकता है। किन्तु वह व्यक्ति का अपने प्रति लौकिक कर्त्तव्य नहीं है। लोक और प्रकृति से कुछ विरति के आधार पर यह आध्यात्मिक कर्त्तव्य है। विमर्श की ओर से प्रकाश की ओर अन्तर्मुख गति व्रत का लक्षण है। इस प्रकार व्रतों का अन्तर्मुख प्रकाश संस्कारों के वहिर्मुख विमर्श का संतुलन प्रस्तुत करता है। प्रकाश और विमर्श के साम्य की भाँति व्रतों और संस्कारों में स्थिति और गति का भी सामंजस्य है। विमर्श की प्रधानता के कारण संस्कारों में प्रकाश का अन्तर्भाव होते हुए भी गति की विपुलता है। इसके विपरीत व्रतों में स्थिति प्रधान है। स्थिति और गति का सामंजस्य भी प्रकाश और विमर्श के सामंजस्य की भाँति भारतीय संस्कृति की विशेषता है। प्रकाश और विमर्श तथा स्थिति और गति का यह सामंजस्यपूर्ण क्रम अध्यात्म के सत्य और संस्कृति के शिवम् को सुन्दर वनाता है।

प्रकृति का संयम और संस्कार अध्यात्म का एक प्रमुख साधन है। अतः व्रतों की आध्यात्मिक साधना में यह एक मुख्य उद्देश्य के रूप में निहित है। प्रकृति की मर्यादा ही मानवीय संस्कृति का आरम्भ है। इस मर्यादा के लिए साधना की अन्तर्मुख गति 'अध्यात्म' है। इस साधना का लक्ष्य आत्मा का अनुसन्धान है। अध्यात्म की यह साधना मनुष्य की स्वाभाविक गति नहीं है। यह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा और उसके स्वतंत्र अध्यवसाय पर निर्भर है। जैसा कि गीता में कहा है हजारों मनुष्यों में किसी विरले की रुचि इस ओर होती है और इस ओर प्रयत्न करने वाले हजारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि प्राप्त करता है। अध्यात्म साधना इतनी दुर्लभ और कठिन है, इसमें सवसे वड़ी कठिनाई यहीं है कि प्रकृति की प्रवृत्तियों की भाँति इसकी गति सहज अथवा स्वाभाविक नहीं है। कठिन प्रयत्न करने पर ही इसमें गति होती हैं। इस प्रयत्न के लिए स्वतंत्र संकल्प की आवश्यकता है। दृढ़ निश्चय के विना अध्यात्म में गति नहीं हो सकती। एक प्रकार से दृढ़ निश्चय अथवा संकल्प आत्मा की स्वतंत्रता का ही प्रमाण है, यदि यह निश्चय किसी प्राकृतिक निश्चय के सम्बन्ध में नहीं है। प्रकृति की मर्यादा अथवा उसके संयम और निरोध के सम्बन्ध में होने पर ही यह संकल्प आत्मा की स्वतंत्रता को प्रकाशित

करता है अन्यथा इसमें प्रकृति की सहज प्रेरणा सम्मलित रहती है। पश्चिमी नीतिशास्त्र के संकल्प और भारतीय संस्कृति के संकल्प में यही अन्तर है। प्रकृति की मर्यादा और आत्मा की स्वतंत्रता का संकल्प व्रतों का मूल आधार है। अभिधार्थ में व्रत इस स्वतंत्र संकल्प का ही वाचक है आत्मा इस स्वतन्त्रसंकल्प में सजग और सचेष्ट होकर प्रकृति को सीमित और संयमित करती है तथा अपने स्वरूप के अनुसन्धान की ओर गतिशील होती है। अध्यात्म की यह भूमिका ही संस्कृति का आधार है। इस भूमिका के बिना मनुष्य का जीवन प्रकृति के रमण में ही प्रवृत्त रहता है। मनुष्य में प्रकृति पशुओं की अपेक्षा अधिक रमणीय और और अधिक अमर्यादित बन गयी है। प्रकृति की यह रमणीयता मर्यादा के अतिचार का एक प्राकृतिक कारण है। यह रमणीयता केवल शारीरिक और ऐन्द्रिक नहीं है, वरन् मानसिक भी है। मानसिक होने के कारण ही यह अधिक प्रबल है। मन की शक्ति शरीर से अधिक है। सभ्यता में शक्तिवाद का संगठन मन की प्रतिभा से हुआ है। मन की कल्पना अनन्त है। इस कल्पना ने ही अनन्त यौवन और अनन्त भोग के स्वर्ग का निर्माण किया। यह कल्पना ही मर्यादाओं के अतिक्रमण का प्रमुख कारण है। शरीर और इन्द्रियों की प्राकृतिक आकांक्षाएँ स्वभाव से इतनी अमर्यादित नहीं है। मन की कल्पना उन्हें उत्तेजित करके बढ़ाती है। मन की यह कल्पना और प्रेरणा सचेतन अवश्य है, फिर भी इसमें प्रकृति का ही प्रभाव अधिक है। इस दिशा में गतिशील होकर मनुष्य अपनी स्वतंत्रता को प्रकाशित नहीं करता, वरन् प्रकृति की प्रबलता और उसके सम्मुख अपनी विवशता को ही प्रमाणित करता है। सामान्य लोक-जीवन में जहाँ भी मर्यादाओं का अतिचार है, वहाँ सर्वत्र प्रकृति की प्रबलता ही मनुष्य को विवश करके उसे रमण के आकर्षण के द्वारा सम्मोहित करती है।

संकल्प और साधना में ही मनुष्य की स्वतंत्रता प्रकाशित और प्रमाणित होती है। संकल्प का स्वतंत्र निश्चय प्रकृति की अनर्गल गति का प्रतिरोध है। इस प्रतिरोध से ही अध्यात्म की साधना आरम्भ होती है। साधना आत्मानुसन्धान की प्रगति है। व्रत का स्वतंत्र संकल्प एक ओर प्रकृति की अर्गला और दूसरी ओर साधना का स्रोत है। अध्यात्म

और संस्कृति की समस्त विभूतियाँ संकल्प के अमृत बीज से फलित होती हैं। प्रकृति की मर्यादा में ही संस्कृति के भाव और रूप अवसर पाते हैं। प्रकृति का लक्षण स्वार्थ है। स्वार्थ के अमर्यादित होने पर संस्कृति सम्भव नहीं है, वरन् संस्कृति के स्थान पर संघर्ष और विनाश की व्यवस्थायें जन्म लेती हैं। इनका लेखा ही मनुष्य का इतिहास है। प्रकृति और स्वार्थ के सीमित होने पर संघर्ष के स्थान पर समात्मभाव की सम्भावना होती है। इसी समात्मभाव में संस्कृति के सुन्दर रूप प्रकाशित होते हैं। इस मर्यादा में प्रकृति के वे ही उपकरण, जो संघर्ष के कारण होते हैं, स्नेह और सौन्दर्य के निमित्त बन जाते हैं। भारतीय संस्कृति में प्रकृति के उपकरणों का इसी रूप में ग्रहण करके जीवन और समाज की सुन्दर व्यवस्थाओं में उनका समाहार किया गया है। पर्वों, संस्कारों आदि में प्रकृति का यह सुन्दर और संस्कृत रूप प्रचुर मात्रा में मिलता है। प्रकृति की यह मर्यादा उसके संस्कार का आधार है और संस्कृति उस का समन्वय सम्भव बनाती है। व्रतों का पवित्र और स्वतंत्र संकल्प संस्कृति और अध्यात्म की इस समस्त साधना का बीज मंत्र है। इस संकल्प से मनुष्य के व्यक्तित्व और जीवन को इतना आत्मिक गौरव मिलता है कि उसके सामने समस्त लौकिक वैभव तुच्छ हैं। इसीलिये प्राचीन भारत के प्रबुद्ध मुनियों की व्रत में इतनी दृढ़ निष्ठा थी, कि वे बड़ी कठोरता के साथ उनका पालन करते थे। पश्चिमी सभ्यता लौकिक वैभव की समृद्धि में मनुष्य का कल्याण खोज रही है। किन्तु व्रतों से लक्षित प्रकृति की मर्यादा के बिना प्रकृति के अतिरंजित रमण के मार्ग में मनुष्य को शान्ति और मंगल की प्राप्ति नहीं हो सकती। भारतीय संस्कृति का यह एक सुन्दर सत्य है कि प्रकृति की मर्यादा में ही प्रकृति के भोग का सुख भी आत्मा का आनन्द बनता है। यही मर्यादा लौकिक जीवन में समाज के कल्याण को सम्भव बनाती है और इसी मर्यादा की भूमि में संकल्प का दीपक साधना का पथ-प्रशस्त करता है। इस साधना के पथ में ही आत्मिक सौन्दर्य और आनन्द के अनन्त तीर्थ स्थित हैं।

प्रकृति की यह मर्यादा व्रतों के आचार में अनेक रूपों में सम्पन्न होती है। सामान्य रूप से व्रतों में सभी इन्द्रियों के साधारण व्यवहार में

कुछ निरोध की आवश्यकता होती है। वाणी का संयम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। स्वाद और वचन दो रसना के धर्म हैं। व्रत में दोनों का ही संयम अपेक्षित है। साधारण दैनिक भोजन का त्याग करके अधिकांश व्रतों में कुछ अल्प और सात्विक भोजन करना ही अभीष्ट है। साधारण भोजन का अभ्यास हो जाने के कारण व्रत का सात्विक आहार एक प्रकार से संयम का ही पाठ है। वचन का संयम भी व्रत में अभीष्ट हैं। मौनी अमावस्या का व्रत तो वचन के पूर्ण संयम के द्वारा उसके महत्व को अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रकाशित करता है। अन्य व्रतों में भी कुछ पूजा, जप आदि में दैनिक मुखर जीवन की तुलना में वचन का संयम ही होता है। इसके अतिरिक्त पूजा और आचार की विधियों में अन्य प्राकृतिक धर्मों में भी संयम का आदेश है। शयन, उत्थान, आसन, वसन आदि के सम्बन्ध में ये ऐसे विधान हैं, जिनके पालन में प्रकृति के संयम की अपेक्षा होती है। सभी रूपों में प्रकृति का यह संयम प्रकृति के संस्कार का कारण होता है। प्रकृति का यह संस्कार व्रतों की अन्तर्मुख साधन का बहिरंग है। जीवन के प्राकृतिक और बहिर्मुख व्यापारों को मर्यादित करके संयम और संस्कार आत्मा के अन्तर्मुख प्रकाश की भूमिका रचते हैं। व्रतों की विधि के मार्ग से प्राप्त होने वाला प्रकृति का संयम और संस्कार आध्यात्मिक साधना में सहयोग देने के साथ-साथ लौकिक दृष्टि से भी हितकारी हैं। प्रकृति का संयम आत्मा के प्रकाश की भूमिका रचने के साथ-साथ मनुष्य के शरीर और मन को भी स्वस्थ बनाता है। स्वास्थ्य का मूल शक्ति और बल है। संयम शक्ति का सूत्र और बल का आधार है। जीवन के साधारण प्राकृतिक व्यापारों में शक्ति का व्यय ही अधिक होता है। इसीलिये मनुष्य कालक्रम के साथ-साथ वृद्ध होता जाता है। शक्ति के व्यय से शरीर जीर्ण होता है और जरा आती है। यौवन के उत्कर्ष तक शरीर और शक्ति का सहज विकास होता है। किन्तु इस विकास के पूर्ण होने के लिये भी संयम की अपेक्षा है। इसीलिये किशोर काल के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का विधान है। ब्रह्मचर्य एक प्रकार से कठोर संयम का ही व्रत है। संयम शक्ति के व्यय का निरोध है। इस निरोध से शक्ति का संचय और उत्कर्ष होता है। ब्रह्मचर्य के बाद

गृहस्थ के आरंभ से अनेक रूपों में शक्ति का व्यय आरंभ होता है। शक्ति का मूल स्रोत आत्मा में है। किन्तु शरीर और मन भी उसके वाह्य अवलम्ब हैं। ये आत्मा की शक्ति से अनुप्राणित होते हैं, किन्तु दूसरी ओर प्रकृति पर भी अवलम्बित हैं। अतः दोनों ही दिशाओं से इन्हे शक्ति से संवलित करना अभीष्ट है। व्रतों के अनुष्ठान में वह शक्ति साधना दोनों ओर से सम्पन्न होती है। जीवन के प्राकृतिक व्यापारों को सीमित और संयमित करके आत्मा का अनुसन्धान व्रतों का प्रमुख लक्ष्य है। इस आत्म-साधना से प्रकाश के साथ-साथ शक्ति के भी स्रोत खुलते हैं। इन शक्ति स्रोतों का अनुभव विधिपूर्वक व्रतों का अनुष्ठान करने पर होता है। इसके अतिरिक्त व्रतों की विधि में प्रकृति का संयम और साधारण लौकिक व्यवहारों से कुछ विश्राम होता है। इस संयम और विश्राम से अ-व्यय के मार्ग से शरीर और मन को शक्ति मिलती है। जरा की ओर वढ़ते हुए जीवन में शक्ति के इस संरक्षण और संचय का वहुत महत्व है। दीर्घ जीवन और स्वास्थ्य के साथ-साथ यह जीवन के लौकिक क्षेत्रों में भी अधिक सफलता का साधन हैं। ढलता हुआ जीवन स्वास्थ्य और सफलता से अधिक सुन्दर और आनन्दमय वनता है। विश्राम और सात्विक आहार वृद्ध शरीर के स्वास्थ्य और उसकी शक्ति के वर्धक हैं। किन्तु इसके साथ-साथ शान्ति, संयम और पवित्रता के द्वारा वे मन को भी नवीन वल देते हैं। जो संकल्प अथवा निश्चय व्रत का आधार हैं, वही मनोवल का मौलिक सूचक है। व्रत के संकल्प में प्रमाणित होकर मनुष्य का मनोवल वढ़ता है। व्रत के अन्य आचार इस मनोवल को और दृढ़ वनाते हैं। प्रकृति का संयम शरीर और मन दोनों की शक्ति का सम्वर्धक है। कुछ व्रतों में जप, ध्यान, पूजा, आदि के द्वारा मन का वल विशेष रूप से वढ़ता है। प्राकृतिक व्यापारों की विवशता से कुछ विश्राम पाने पर कुछ धार्मिक और आध्यात्मिक आचारों में ही मन का वल प्रमाणित होता है और वढ़ता है। आत्मा के प्रकाश की महिमा अपार है। अतः व्रतों की आध्यात्मिक साधना का महत्व भी अपरिमेय है। किन्तु इसके साथ-साथ शरीर और मन के स्वास्थ्य और वल का जो लाभ व्रतों में होता है, उसका महत्व लौकिक दृष्टि से भी समझा जा

सकता है। लौकिक अध्यवसायों की श्रेष्ठता और सफलता में भी इस का बहुत कुछ योग मिल सकता है। इस प्रकार व्रत अध्यात्म के साधक होने के साथ-साथ लोक का भी उपकारक है।

संकल्प और संयम पर आश्रित होने के कारण व्रतों में कुछ कठोरता का आभास मिलता है। किसी सीमा तक यह आभास सत्य है। व्रतों में कुछ कठोरता अवश्य होती है। साधारण प्राकृतिक जीवन का निरोध करके एक विधि के अनुसार साधना का अनुष्ठान और आचार का पालन करना होता है। संकल्प और संयम की दृढ़ता कोई कोमल व्यापार नहीं है। किन्तु एक ओर कठोर होते हुए भी दूसरी ओर व्रतों में एक सहज भाव और उदारता का सन्निवेष उन्हें मृदुल भी बना देता है। व्रतों की उदारता और मृदुलता अनेक रूपों में सम्पन्न हुई है। इनमें व्रतों का सहज भाव सबसे प्रथम है। साधारण और प्राकृतिक जीवन की तुलना में व्रत एक असाधारण अनुष्ठान है। व्रतों की यह असाधारणता उन्हें नवीनता का सौन्दर्य प्रदान करती है। किन्तु असाधारण होते हुए भी व्रत भारतीय जीवन के एक साधारण और सहज अंग बन गये हैं। इसका एक कारण तो व्रतों की बहुसंख्यता है। भारतीय जीवन-चर्या में वर्ष में व्रतों की संख्या इतनी अधिक है कि वे रूप में असाधारण होते हुए भी भाव में असाधारण प्रतीत नहीं होते। प्रतिमास में कई व्रत आते हैं। वर्ष में एक बार आने वाले व्रत भी प्रतिमास में कोई न कोई आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पक्ष के उत्तरार्ध में एकादशी, प्रदोष, पूर्णिमा, अमावस्या आदि कई व्रत आते हैं। किन्तु व्रतों का सहज भाव केवल उनकी अधिक संख्या के कारण नहीं है। संख्या में विपुल होने के कारण उनकी असाधारणता अवश्य कुछ कम हो गयी है। किन्तु इसके साथ-साथ जीवन में उनका अन्वय भी सहज रूप में हुआ है। धर्म और संस्कृति की परम्परा में व्रतों का स्थान इसका एक कारण है। दूसरा कारण यह है कि असाधारण होते हुए भी व्रत जीवन से एकदम अलग नहीं हैं। अधिकांश व्रतों में अध्यात्म और लौकिक जीवन की सन्धि है। लौकिक साधारण जीवन के दैनिक और परिचित रूप को त्याग कर आहार, आचार आदि के ऐसे सरल और सात्विक रूप अपनाये जाते हैं, जो कुछ अंश में

असाधारण होने पर भी जीवन के साथ अध्यात्म की सन्धि के सूत्र बने रहते हैं। इन सूत्रों के द्वारा ही व्रतों के अध्यात्म का जीवन में सहज अन्वय होता है। इन सूत्रों के अवलम्ब से ही व्रतों के आचार में प्रेरित होकर लोक आत्म-साधना के मार्ग का अनुसरण करता है। असाधारण होने पर भी व्रतों के उपकरण और व्रतों की चर्या लोक-जीवन के इतनी निकट है, कि इस निकटता के द्वारा व्रतो की असाधारणता उन्हें एक आनन्द का पर्व बना देती है। प्रकृति के संयम के रूप में होते हुए भी व्रतों के वाह्य आचार में एक ऐसा आकर्षण है, उन्हें सहज बनाने के साथ-साथ सुन्दर भी बना देता हैं। यद्यपि व्रत व्यक्तिगत अनुष्ठान हैं। किन्तु इस रूप में वे सामाजिक हैं, कि प्रायः सभी लोग उनका पालन करते हैं। उनकी यह सामाजिकता भी उनके सहज भाव को बढ़ाती है। व्रतों के आहार और अनुष्ठान के उपकरण भी अत्यन्त सरल और सुलभ हैं। व्रतों के लिये वांछित पत्र-पुष्प, फल आहार आदि बड़ी सरलता से सर्वत्र मिल जाते हैं। फिर भी इनमें विकल्प बहुत है। दुर्लभ होने पर कोई उपकरण आवश्यक नहीं है। मानसिक अर्चार्या से भी व्रत पूर्ण हो सकता है। ये सुलभता और विकल्प व्रतों के सहज भाव को अत्यन्त उदार बनाते हैं। बाहरी आचारों में व्रतों की सरलता और उनका यह सहज भाव संकल्प और संयम से लक्षित उनकी कठोरता को अत्यन्त मृदुल बना तेता है। व्रतों के वाह्य आगार की सरलता, मृदुलता और उसका सहज भाव व्रतों के आध्यात्मिक भाव को अधिक अवसर देता है। यह व्रतों के उद्देश्य के अनुरूप है, और भारतीय संस्कृति की सामान्य भावना के अनुकूल है। वाह्य दृष्टि से सरल होने पर व्रतों के आचार में आत्म-साधना की महिमा मुक्त रूप से प्रकाशित होती है। आत्मभाव के प्रकाश की सरलता के लिये ही भारतीय संस्कृति के समस्त रूपों में वाह्य उप-करणों की यह सरलता और सुलभता दिखाई देती है। विपुल और वैभवपूर्ण होते हुए भी सरल और सुलभ होने के कारण इन उप-उपकरणों के आडम्बर में संस्कृति का आत्मिक भाव तिरोहित नहीं होता।

व्रतों के सहज भाव और उनकी उदारता का एक रूप व्रतों की श्रेणियों और उनके भेदों में मिलती है। जीवन अनेक रूप है। अतः

उसमें कोई भी एक रूप साधना एक रस और कठोर हो जाती है। तप की दृष्टि से तो इस साधना का महत्व है। किन्तु जीवन और संस्कृति के साथ साधना के कठोर रूप में तप का अन्वय नहीं हो सकता। जीवन का स्वरूप सहज और स्वाभाविक है। उसमें संकल्प और अध्यवसाय भी अधिक सचेष्टा प्रयत्न के रूप में समन्वित नहीं होते। इसीलिये संस्कृति के सुन्दर और मंगलमय रूप अत्यन्त सहज भाव में संजोये गये हैं। व्रतों का मूल रूप साधनामय है, फिर भी वे सांस्कृतिक जीवन की व्यवस्था के ही अंग हैं। अतः उनकी साधना की कठोरता को मृदुल बनाने के लिये सांस्कृतिक भावों के सुन्दर सूत्रों का संयोग किया गया है। प्राकृतिक उपकरणों की विविधता तथा आचार की विधियों की विशेषता उनमें सौन्दर्य का रूप अन्वित करती है। स्वयं व्रतों की अनेकता और अनेक रूपता भी उपकरणों की सरलता के साथ व्रतों में सहज भाव का सन्निधान करती है। संख्या के अतिरिक्त व्रतों की अनेकता उनकी श्रेणियों में तथा उनके भेदों के कारण भी हैं। व्रत अनेक प्रकार के होते हैं और उनके अनेक भेद हैं। साथ ही अनेक दृष्टि से व्रतों की कई श्रेणियाँ हैं। जीवन का सब से स्वाभाविक विभाजन स्त्री-पुरुष के रूप में है। स्त्री और पुरुष में प्राकृतिक भेद है। प्राकृतिक भेद के कारण दोनों के धर्म अलग-अलग हैं। मनुष्य की दृष्टि से दोनों में समानता भी है। इस प्रकार अनेक व्रत स्त्री और पुरुष दोनों के समान अधिकार हैं। वे दोनों के लिये समान रूप से पालनीय हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ व्रत स्त्रियों के लिये विशेष रूप से विहित हैं। स्त्रियों के विशेष व्रतों का सम्बन्ध स्त्री के विशेष धर्मों और सभ्यता में स्त्री के स्थान से हैं। स्त्री का सबसे अधिक महिमामय रूप मातृत्व में फलित होता है। अतः स्त्रियों के अधिकांश विशेष व्रतों का सम्बन्ध उनके मातृत्व भाव से है। कुछ व्रतों में पुत्रवती स्त्रियों का ही विशेष अधिकार है। पुत्रदा एकादशी के समान कुछ व्रत पुत्र कामना से किये जाते हैं। करक चतुर्थी, वट सावित्री आदि के कुछ व्रत विशेष रूप से सौभाग्यवती स्त्रियों के लिये विहित हैं। स्त्रियों के अनेक व्रत सामान्य रूप से सब स्त्रियों के लिये हैं और विधवाएँ भी उन व्रतों का पालन कर सकती हैं। कार्त्तिक स्नान और हरियाली

तीज के समान कुछ व्रत कन्याओं के लिये हैं। कन्याओं के इन व्रतों में वे गौरी का पूजन करती हैं। इन व्रतों के पीछे पार्वती के पवित्र आदर्श और अनुपम सौभाग्य की प्रेरणा है। गौरी की पूजा करके कन्याएं शिव के समान श्रेष्ठ वर प्राप्त करने की कामना करती हैं। किन्तु कन्याओं के अतिरिक्त सौभाग्यवती स्त्रियाँ भी अनेक व्रतों में पार्वती की पूजा करती हैं। इन व्रतों में वे पार्वती के समान अपने सौभाग्य के अखण्डित रहने और सफल होने की कामना करती हैं। शैव-संस्कृति की परम्परा में पार्वती शक्ति का स्वरूप हैं और समस्त स्त्रियां उन की प्रतिनिधि हैं। सृष्टि की विधायिनी होने के कारण शक्ति मातृ रूप ही है। पार्वती उस शक्ति का साक्षात् रूप हैं। किन्तु प्रत्येक स्त्री उसका अंशावतार है। स्त्री का मातृत्व और उसमें सफल होने वाला सृजनात्मक रूप ही उसका सबसे बड़ा गौरव है। स्त्रियों के व्रतों में पार्वती की पूजा मातृत्व की महिमा की ही सूचक है। पुरुषों के लिये किन्हीं विशेष व्रतों का पृथक विधान नहीं है। वे उन सामान्य व्रतों के अधिकारी हैं, जिनका पालन स्त्रियाँ भी कर सकती हैं। एक शिव का प्रदोष का व्रत ऐसा अवश्य है, जिसको पुरुष विशेष रूप से किया करते हैं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ प्रायः प्रदोष का व्रत नहीं करती, यद्यपि विधवाऐं इस व्रत का पालन प्रायः करती हैं। प्रदोष का व्रत शिव का व्रत है। पुरुषों के द्वारा इस व्रत के पालन का उद्देश्य यही है कि शिव का आदर्श उनके लिये अनुकरणीय है। शिव और पार्वती का चरित पुरुष और स्त्रियों के लिये आदर्श है। दोनों का पवित्र जीवन लोक के मंगल का सूत्र है। तप प्रकृति का अनुशासन है, जो संस्कृति की आदर्श भूमिका है। मातृत्व का सहज भाव स्त्रियों के जीवन को स्वाभाविक रूप से तपोमय बना देता है। किन्तु पुरुष को प्रकृति ने अधिक स्वतन्त्रता दी है। उसकी यह स्वतन्त्रता प्रायः उच्छृंखलता और अतिचार बन जाती है। अतः पुरुष के लिये तपःसाधन की अधिक आवश्यकता है। इसीलिये पुरुषों के लिये प्रतिपक्ष में एक प्रदोष का व्रत आता हैं। यह प्रति पक्ष में उन्हें शिव के तपोमय आदर्श का स्मरण दिला जाता है। स्त्रियों के लिये पार्वती के व्रत इतने नियमित नहीं हैं, यद्यपि वर्ष में अनेक बार आकर वे उन्हें भी पार्वती के पवित्र आदर्श का स्मरण दिला जाते हैं।

स्त्री पुरुष के सामान्य और प्राकृतिक भेद के आधार पर आश्रित होने के अतिरिक्त व्रतों की श्रेणियों और भेदों के अन्य कई रूप हैं। वर्ष के व्रत में कठोरता और मृदुलता की श्रेणियाँ हैं। एक ओर निर्जला एकादशी, करक चतुर्थी आदि के समान अत्यन्त कठोर व्रत हैं, जिनमें पूरा दिन ही नहीं वरन् रात्रि का भी कुछ भाग निराहार और निर्जल बीतता है। दूसरी ओर हरितालिका, वट सावित्री आदि के समान मृदुल व्रत हैं, जो उत्सव की दृष्टि से पर्व जैसे प्रतीत होते हैं और जिनमें आहार की दृष्टि से समय, सामग्री आदि का नियम दैनिक भोजन के समान है। मध्याह्न की वेला में गौरी का पूजन कर के साधारण से भी सुन्दर भोजन इन व्रतों में ग्राह्य है। शिव का प्रदोष व्रत भी ऐसा ही मृदुल है। उसमें भी सायंकाल एक बार साधारण भोजन किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त समय और सामग्री की दृष्टि से व्रतों की कठोरता की अनेक श्रेणियाँ हैं। देवताओं तथा अन्य निमित्तों की दृष्टि से भी व्रतों के अनेक भेद हैं। विधि और उपकरणों की विशेषता प्रत्येक व्रत को एक मौलिक सौन्दर्य प्रदान करती है।

विविधता, अनेकता और विशेषता से युक्त होकर तपोमय होते हुए भी प्रत्येक व्रत जीवन में नवीनता में उल्लास का पर्व बन जाता है। एकरूपता जीवन को उदासीन और नीरस बनाती है। जीवन की प्रमुख व्यवस्थायें और प्रक्रियायें सभ्यता में स्थिर हो जाती हैं। स्थिर होकर उनके रूप परिचित हो जाते हैं। सम्बन्धों में परिचय चाहे घृणा उत्पन्न करता हो, किन्तु भौतिक व्यवस्था के प्रति भी वह उदासीनता उत्पन्न करता है। नवीन होने पर पदार्थों और सम्बन्धों में कुछ उत्साह और उल्लास रहता है। किन्तु काल के व्यतीत होने पर वे उदासीन बनते जाते हैं। काल का यह क्रम वस्तुओं के सौन्दर्य और उनकी महिमा का विनाशक है। इसलिये काल मृत्यु का पर्याय बन गया है। सत्ता का उच्छेद भौतिक प्रलय और विनाश है। किन्तु महत्व की क्षीणता सांस्कृतिक प्रलय है। नागरिक सभ्यता में जीवन की जो स्थायी व्यवस्था बनी है और उसमें पदार्थों की स्थिरता से जो उदासीनता उत्पन्न हुई है, वह सभ्यता की एक प्रमुख समस्या है। भोजन वस्त्र आदि जीवन की दैनिक

क्रियाएँ प्राय: स्थिर और एक रूप हो गई हैं। भोजन की एकरूपता स्वाद और रस की इतनी घातक हैं, कि राजसी भोजन करने वालों को भी परिवर्तन की दृष्टि से रूखे-सूखे भोजन में भी अपूर्व आनन्द आता है। परिवर्तन की नवीनता और उसके सौन्दर्य की दृष्टि से ही सभ्यता में भोजन और वस्त्र के अनेक रूप प्रचलित हैं। भोजन में रूप के सौन्दर्य के अधिक परिवर्तन सम्भव नहीं हैं। किन्तु वस्त्रों में रूप का सौन्दर्य नित्य नये आकार ग्रहण करता है। एकरूपता की उदासीनता मनुष्य के मन पर इतना भार हो जाती है कि इस भार को हलका करने के लिये ही सभ्यता में वस्त्रों का आकर्षण सबसे अधिक बढ़ता जा रहा है। वस्त्रों के इस आकर्षण के दो कारण हैं। एक तो यह कि इन्हीं में परिवर्तन और नवीनता अधिक सम्भव है। एक आदमी अनेक वस्त्र बना कर अपनी इच्छानुसार बदल सकता है और रूप की दृष्टि से व्यापार में वस्त्रों के नये-नये डिजाइन तैयार किये जा सकते हैं। भोजन आदि में इतना परिवर्तन संभव नहीं है। भवन तो बदला नहीं जा सकता। भोजन में भी नये रूपों का आविष्कार वस्त्र की तुलना में कठिन है। दूसरे वस्त्रों में नवीनता का सन्तोष अर्थ और श्रम दोनों दृष्टियों से सुलभ है। इस परिवर्तन में न अधिक व्यय होता है और न कोई श्रम। सामान्यत: हम स्वयं वस्त्रों का निर्माण नहीं करते, इसलिये इस परिवर्तन में हमारा श्रम बहुत कम होता है। संभव और सुलभ होने के कारण नवीनता के सन्तोष का एक अत्यन्त सहज मार्ग वस्त्रों की दिशा में निकल आया है। किन्तु कई कारणों से नवीनता के सन्तोष की यह दिशा मृग मरीचिका के समान प्रतीत होती है। सबसे पहला कारण तो यह है कि इस परिवर्तन के पीछे कोई अन्य निमित्त अथवा प्रयोजन नहीं है, जो इस की नवीनता में सौन्दर्य का संचार कर सके। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह परिवर्तन केवल परिवर्तन के लिये है। इसीलिये यह निष्फल है। रूपों की रचना के अतिरिक्त जीवन के सौन्दर्य और आनन्द का रहस्य भाव निमित्त आदि उपकरणों में भी है। इन्हीं के अभाव में आधुनिक वस्त्रों की विभूति इतनी विपुल होते हुए भी निष्फल है। पदार्थों का वाह्य रूप केवल सौन्दर्य की देह है। भाव और निमित्त उसके आत्मा और प्राण हैं।

इनका इतना महत्व है, कि वर्षों तक सुरक्षित रहने वाले गरीबों के एक ही वस्त्र अनेक तीज त्यौहारों पर उपयोग में आने पर एक नवीन सौन्दर्य से सुशोभित होते हैं। दूसरा कारण यह है कि वस्त्रों के रूप परिवर्तन में हमारा कोई सक्रिय योग नहीं है। सौन्दर्य केवल रूप नहीं है, वरन् रूप की रचना है। कला के रूपों में हम अपने भाव के द्वारा कुछ रचनात्मक योग देते हैं। यह कहा जा सकता है कि उनके आस्वादन में हम उन रूपों की पुनः सृष्टि करते हैं। वस्त्रों के व्यापार में प्रकट होने वाले सौन्दर्य के रूपों में हमारा ऐसा रचनात्मक योग नहीं होता। इसी लिये उनमें आन्तरिक सौन्दर्य की अपेक्षा बाह्य परिग्रह और प्रदर्शन का भाव अधिक है। इस परिग्रह से स्वार्थ और प्रदर्शन से अहंकार ही अधिक सजग होते हैं। सीमित अर्थ में व्यक्तिगत होने के कारण ये सौन्दर्य और आनन्द के बाधक हैं। इन्हीं कारणों से वस्त्रों तथा अन्य भौतिक वस्तुओं में प्रकट होने वाली नवीनता की खोज इस दृष्टि से निष्फल हो रही है, कि इनकी बाहरी भव्यता और नवीनता कोई आन्तरिक सौन्दर्य उत्पन्न नहीं कर पा रही है। इसी निष्फलता से निराश होकर आधुनिक सभ्यता अन्य अनेक दिशाओं में परिवर्तन और उल्लास के मार्ग खोज रही है। किन्तु समान कारणों से यह खोज भी अधिक सफलता की आशा नहीं देती। प्रयत्न और आयास एक अतिरिक्त कारण है, जो इस खोज को निष्फल बनाता है।

प्राचीन भारतीय सभ्यता में रूपों और निमित्तों के सक्रिय और रचनात्मक भाव के साथ सामंजस्य में नवीनता के सौन्दर्य का अमृत मंत्र मिलता है। संस्कार, पर्व, व्रत, तीर्थयात्रा, मेले आदि संस्कृति के अनेक रूप परिचित व्यवस्था में उदासीन होने वाले जीवन में समय-समय पर नवीनता का सौन्दर्य भरते रहते हैं। यह नवीनता केवल रूपों का परिवर्तन नहीं है। रूपों के देह में भाव की आत्मा रचनात्मक सक्रियता के प्राण और निमित्तों के अलंकार का समन्वय है, जिससे नवीनता का सौन्दर्य सजीव रूप में खिल उठता है। जीवन के सांस्कृतिक क्रम में जिन नव-नव रूपों का उदय होता है, वे आधुनिक वस्त्रों के रूपों की भाँति उदासीन नहीं हैं। उन रूपों में हमारा रचनात्मक योग रहता है।

अधिकांश रूपों की रचना एक परिवार और कुल के लोग स्वयं करते हैं। जिन रूपों की रचना हम स्वयं नहीं करते, उनके निर्माताओं के साथ परिचय के नाते हमारा आत्मीय भाव रहता है। प्राय: वे निर्माता ही वस्तुओं के विक्रेता होते हैं। अत: इन वस्तु रूपों की रचना में आत्मीय भाव से हमारा योग साक्षात हो जाता है। आधुनिक व्यापार के निर्माताओं के साथ परोक्ष भाव होने के कारण ऐसा सम्बन्ध सम्भव नहीं होता। नये-नये निमित्त रूपों की नवीनता को सम्पन्न और सजीव बनाते हैं। इन रूपों की रचना में हमारा सक्रिय योग इनके सौन्दर्य में रस का संचार करता है। इस सक्रियता का श्रम भी सौन्दर्य में योग देता है। किन्तु दूसरी ओर यह श्रम इतना नहीं है कि उसका आयास सौन्दर्य के सहज भाव को नष्ट कर दे, जैसा कि परिवर्तन के कुछ आधुनिक प्रयत्नों में होता है। जीवन की एकरूपता और एकरसता से ऊबकर हम किसी अल्पकालीन परिवर्तन की योजना बनाते हैं। किन्तु वह योजना पूर्णत: व्यक्तिगत होने के कारण मनुष्य के सामान्य संकल्प और उद्योग के लिए एक भार बन जाती है। इसी कारण उसका बहुत कुछ सौन्दर्य और रस नष्ट हो जाता है। इस परिवर्तन से प्रफुल्लित होने के स्थान पर हम श्रान्त हो जाते हैं। किन्तु संस्कृति के रूप व्यक्तिगत नहीं होते। सामाजिक परम्परा की प्रेरणा उनके संकल्प को सहज बना देती है। संस्कृति के इन रूपों में व्रतों की संख्या सबसे अधिक है। संस्कार, पर्व आदि की संख्या वर्ष में इतनी अधिक नहीं होती। ये परम्परा और व्यवहार दोनों में ही सामाजिक है। सामाजिक संकल्प एक असाधारण वस्तु है। अत: उसको अधिक शीघ्रता से संचालित नहीं किया जा सकता। ऐसा करने पर वह नीरस हो जाता है, जैसा कि आधुनिक जनतन्त्र में हो रहा है। अधिक शीघ्रता से प्रेरित करने पर साधारण संकल्प की असाधारणता का सौन्दर्य भी नष्ट हो जाता है। व्रत केवल परम्परा की दृष्टि से सामाजिक हैं। आचार की दृष्टि से वे व्यक्तिगत हैं। बच्चों का व्रतों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए अनेक व्रत उत्सव बन गये हैं। बच्चों की रुचि उत्सव में ही होती है। साधना उनके योग्य नहीं होती। अधिक से अधिक परिवार के वयस्क लोग व्रत में भाग ले सकते हैं। व्रत में भाग लेने के

लिए कुल के सम्बन्धियों को निमन्त्रित नहीं किया जाता। सामाजिक संकल्प परम्परा के प्रभाव से सहज अवश्य बन जाता है, उसमें व्यक्ति की इच्छा का अध्यवसाय बहुत कम होता है। परम्परा उसकी एक प्रबल प्रेरणा रहती है। परम्परा की प्रेरणा का यह योग व्रतों में भी रहता है। अतः इनके व्यक्तिगत संकल्प में भी सहज भाव का बहुत कुछ सन्निधान है। फिर भी व्रत व्यक्तिगत संकल्प पर ही आश्रित है। व्यक्तिगत संकल्प अधिक शीघ्रता से जागरित किया जा सकता है। वही संकल्प का मूल रूप भी है। अतः जीवन में सक्रियता और सजीवता के सौन्दर्य की रक्षा के लिए व्यक्तिगत संकल्प को सजग बनाये रखना आवश्यक है। आधुनिक व्यवस्था में मनुष्य इतना पराधीन हो गया है, कि व्यक्तिगत संकल्प की सक्रियता बहुत मन्द हो रही है। इसीलिए जीवन यांत्रिक, उदासीन और नीरस बन रहा है। व्रतों की विपुल परम्परा इस व्यक्तिगत संकल्प को ही सजग रखकर तथा सबल बनाकर सौन्दर्य और रस के स्रोतों को प्रवाहित रखती है। पर्वों, संस्कारों आदि के सामाजिक संकल्प की समग्र विभूति व्यक्तिगत संकल्प को भी अत्यन्त सम्पन्न बनाती है। व्यक्ति और समाज का यह अद्‌भुत सामंजस्य ही इनके अपार सौन्दर्य का रहस्य है। बालकों और किशोरों के उल्लास और उत्सव के अवसर होने के कारण पर्वों और संस्कारों में असाधारण परिग्रह की नवीनता होती है। असाधारण राजसी भोजन बनते हैं, असाधारण वस्त्र धारण किये जाते हैं, किन्तु व्रतों की नवीनता परिग्रह की नहीं, वरन् त्याग की नवीनता है। वस्त्रों की अपेक्षा इसका संन्बध भोजन, आचार, विधि आदि के रूपों से अधिक है। भोजन में सात्विकता अभीष्ट है, क्योंकि वह साधना के अनुरूप है; फिर भी व्रतों के भोजन में एक असाधारणता की नवीनता होती है। सामान्यतः भोजन की व्यवस्था इतनी स्थिर हो गयी है, कि उसमें नवीनता की कल्पना कठिन है। फिर भी व्रतों की योजना में एक अद्‌भुत रूप में इस नवीनता का सन्निधान किया गया है। सात्विकता के साथ भी व्रतों के भोजन में सरसता और सौन्दर्य है। भोजन के सौन्दर्य की महिमा इसलिए अधिक है, कि वस्त्रों के सौन्दर्य के विपरीत सक्रियता और रचनात्मकता पर आश्रित होने के कारण यह सौन्दर्य अधिक सजीव

होता है। रचनात्मक सौन्दर्य से युक्त व्रतों का सात्विक भोजन साधारण दैनिक भोजन की एकरूपता और एकरसता में नवीनता का सौन्दर्य उत्पन्न करता है। व्रतों की संख्या बहुत है। सभी व्रतों के आहार समान नहीं हैं। ऋतुओं के अनुसार भी ये आहार बदलते रहते हैं। सम्पन्न प्रकृति की कृपा से और भारतीय संस्कृति की सभी क्षेत्रों में समृद्धि के कारण साधारण दैनिक भोजन भी भारतवर्ष में प्रायः बदलता रहता है। किन्तु व्रतों के भोजन की असाधारणता इस नवीनता के सौन्दर्य में असाधारण योग देती हैं और एक अद्‌भुत चमत्कार उत्पन्न करती है। विधि-आचार आदि की नवीनता से युक्त व्रत हमारे समग्र जीवन में ही समय-समय पर नवीनता का सौन्दर्य उत्पन्न करते रहते हैं।

दैनिक भोजन और साधारण जीवन क्रम में परिवर्तन की नवीनता उत्पन्न करके प्रतिमास में कई बार आने वाले व्रत परिचित व्यवस्था और काल की गति से उदासीन होने वाले जीवन में निरन्तर नवीन सौन्दर्य के स्रोत प्रवाहित करते हैं। व्यक्तिगत संकल्प पर आश्रित होने के कारण व्रतों की साधना इस सौन्दर्य को एक दृढ़ आधार देती है। इसी आधार पर पर्वों, संस्कारों आदि का सौन्दर्य भी प्रकाशित होता है। साधना के रूप में होने के कारण व्रतों के सौन्दर्य के सौन्दर्य में एक पवित्रता है। लौकिक जीवन के दैनिक क्रम में नवीनता के सौन्दर्य का संचार करना व्रतों का एक मात्र उद्देश्य नहीं है। जीवन की लौकिकता में धार्मिक और आध्यात्मिक भाव की महिमा को प्रकाशित करना उनका अधिक प्रमुख लक्ष्य है। इस लक्ष्य के मार्ग में ही सरलता और सात्विकता के प्रसंग में लौकिक जीवन के कुछ ऐसे रूप आ जाते है, जो जीवन में नवीनता के सौन्दर्य का आधान करते हैं। भोजन और चर्या के रूप में जीवन का यह सरल और सात्विक रूप एक ओर नवीनता के सौन्दर्य मे जीवन को अधिक सरस बनाता है और दूसरी ओर अध्यात्म के अनुरूप जीवन की भूमिका रचता है। यही भूमिका लौकिक जीवन और अध्यात्म की संधि है। इसी भूमिका में अध्यात्म के मूल से संस्कृति का कल्प वृक्ष फलता-फूलता है। व्यक्तिगत और तपोमय होते हुए भी सांस्कृतिक सौन्दर्य से युक्त होकर व्रतों में अध्यात्म का रूप सहज और सुन्दर बन गया है।

अध्यात्म की मौलिक कठिनता तो अपरिहार्य है, फिर भी व्रतों के सांस्कृतिक परिवेश में कुछ मृदुल बनकर यह अधिक सुगम हो गया है। इसी सुगमता के कारण व्रतों के रूप में धर्म और अध्यात्म भारतीय परम्परा में इतने लोकप्रिय रहे हैं।

व्रतों को हम धर्म और अध्यात्म का सांस्कृतिक रूप कह सकते हैं। धर्म और अध्यात्म पूर्णतः व्यक्तिगत साधनाएँ हैं। अपने व्यक्तिगत रूप में ये कठिन और नीरस बन जाते हैं। व्रतों के सांस्कृतिक रूप में ये अधिक सरस और सजीव होती हैं। कुछ व्रतों में विशेषतः स्त्रियों के व्रतों में सांस्कृतिक भाव अध्यात्म से भी अधिक प्रमुख हो जाता है। धर्म और अध्यात्म की व्यक्तिगत साधना की तुलना में सामाजिकता, सुगमता, मृदुलता और सरसता व्रतों की विशेषताएँ हैं। इस दृष्टि से वे पूजा, तप, अनुष्ठान आदि से भिन्न हैं। व्यापक दृष्टि से पूजा, तप, अनुष्ठान आदि में भी व्रत का आधार है। यह व्रत का संकल्प रूप है, जो आचार के इन रूपों में भी व्याप्त है। तप और अनुष्ठान में तो स्पष्ट रूप से दृढ़ संकल्प का आधार है। किन्तु पूजा में भी संकल्प की निश्चयात्मक भावना का अवलम्ब है। पूजा प्रकट रूप में एक व्यक्तिगत साधना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने इष्ट देव की स्वतन्त्र रूप से अर्चना करता है। भारतीय परम्परा में सामूहिक पूजा की प्रथा नहीं है। सामाजिक रूप से भी जो पूजा की परम्परायें हमारे यहाँ प्रचिलित हैं, वे भी सामूहिक नहीं हैं। शिवरात्रि आदि अवसरों पर असंख्य जन एक साथ सामूहिक रूप से नहीं, वरन् क्रम से और स्वतन्त्र रूप से पूजा करते हैं। पूजा की व्यक्तिगत साधना में भी विधि, आचार के कुछ विशेष रूपों का सामंजस्य है, जो उसे सांस्कृतिक सौन्दर्य प्रदान करता है। फिर भी पूजा का मर्म व्यक्तिगत साधना और आन्तरिक आराधना ही है। व्रत भी किसी सीमा तक व्यक्तिगत और आन्तरिक साधना है। उसका प्रयोजन भी पूजा की भाँति आत्मा में जीवन के तत्व का प्रकाश है। किन्तु व्रतों के अनुष्ठान में सामाजिक और सांस्कृतिक रूपों में सौन्दर्य का समवाय पूजा की अपेक्षा अधिक है। इसीलिए जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि के समान अनेक व्रत सामाजिक और सांस्कृतिक पर्व बन गये हैं।

साधना और त्याग व्रत के मर्म हैं। इस दृष्टि से तप के साथ भी व्रत की कुछ समानता है। तप में भी त्याग और साधना प्रमुख हैं। 'त्याग' प्रकृति के सुखों, आकर्षणों और प्रलोभनों से विरति है। यह तप का निषेधात्कक पक्ष है। साधना अन्तर्मुखी भावना है, जो आत्म-तत्व का अनुसंधान करती है। यह तप का भावात्मक पक्ष है। व्रत की विरति में तप की जैसी कठोरता तो नहीं है, फिर भी दैनिक प्रकृति से कुछ विरत होकर आत्मानुसंधान करना व्रत का भी लक्ष्य है। अत: व्रतों में भी तप का अंश रहता है। दूसरे प्रकार से तप को भी व्रत कहा जा सकता है। व्रत का मूल भाव संकल्प अथवा निश्चय है। तप के लिये बड़े दृढ़ संकल्प और निश्चय की अपेक्षा होती है। तप का साधन करने वाले को इसी लिये 'तपोव्रत' कहा जाता है। किन्तु तप व्रत की अपेक्षा अधिक कठोर है। तप का निषेधात्मक पक्ष सामान्य व्रतों की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। व्रतों में भी कृच्छचान्द्रायण आदि कुछ ऐसे व्रत अवश्य हैं, जो तप के समान अथवा उससे भी अधिक उग्र हैं। किन्तु ऐसे व्रत प्रायश्चित्तों में ही अधिक होते हैं। सामान्य व्रत न इतने कठोर हैं और न इतने दीर्घकाली व्यापी हैं। अधिकांश व्रतों की अवधि एक दिन की है। एक दिन के भीतर ही कुछ उपवास और कुछ साधना से व्रत पूर्ण हो जाता है। यद्यपि ऐसे व्रतों की आवृत्ति होती रहती है और वर्ष में अनेक व्रत होते हैं; फिर भी व्रत तप के समान निरन्तर और कठोर साधना नहीं है। व्रत की अपेक्षा तप एकान्त भी अधिक है। तप की कठोरता में कुछ क्लेश का भी आभास है। व्रत में त्याग अवश्य होता है। किन्तु क्लेश आवश्यक नहीं है। सामाजिक भाव और सांस्कृतिक सौन्दर्य के योग में व्रत के त्याग का अल्प क्लेश भी बहुत मन्द हो जाता है। इससे मृदुल होकर व्रत की साधना में एक पवित्र सौन्दर्य का उदय होता है। कठोरता एकान्त और क्लेश के कारण तप एक व्यक्तिगत साधना ही रहा, वह संस्कृति का अंग नहीं बन सका। मृदुल और सुन्दर बनकर त्याग-पूर्ण होते हुए भी व्रत संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग बन गये। इनकी साधना संस्कृति के सौन्दर्य में पवित्रता और शान्ति का संचार करती है।

अनुष्ठान भी एक प्रकार का तप अथवा व्रत है। उसके लिए भी दृढ़ संकल्प और निश्चय की आवश्यकता है। इस दृष्टि से वह व्रत है।

अनुष्ठान के लिए भी त्याग सामान्य व्रतों से अधिक कठोर होता है। इस दृष्टि में वह तप के अधिक निकट है। अधिकांश अनुष्ठान तप के समान दीर्घकाली व्यापी होते हैं। अनुष्ठानों के निषेधात्मक और भावात्मक दोनों पक्ष ही बहुत प्रबल होते हैं। वे भी तप के समान ही व्यक्तिगत होते हैं। मृदुल और सामाजिक व्रतों के सांस्कृतिक आचार से उनका भेद स्पष्ट है। किन्तु वे तप से भी कुछ भिन्न हैं। तप के त्याग और क्लेश का उद्देश्य आत्म शोधन और आत्मानुसंधान ही अधिक होता है। यदि उनके उद्देश्य में कुछ अलौकिकता भी होती है, तो वे मुख्यत: आध्यात्मिक हैं। किन्तु अनुष्ठान कई प्रकार से अलौकिक होते हैं। अनेक अनुष्ठानों में देवताओं की सिद्धि का लक्ष्य रहता है। जिनमें यह लक्ष्य नहीं होता, उनमें अलौकिक सिद्धियों का उद्देश्य रहता हैं। वह तप की अपेक्षा अधिक रहस्यमय भी है। उसके उपकरण और उसकी विधियाँ भी विचित्र और विलक्षण होती हैं। एक ओर जहाँ त्याग की दृष्टि से प्रकृति से विमुख होकर अनुष्ठान किये जाते हैं, वहाँ दूसरी ओर अनेक अद्भुत उपकरणों का अवलम्ब उनमें लिया जाती है। इस दृष्टि से तप अनुष्ठान की अपेक्षा अधिक सरल है। उसमें उपकरणों का योग कम रहता है। व्रतों के उपकरण इतने विचित्र और विलक्षण नही होते। केवल नवीनता की दृष्टि से व्रतों की चर्या और उनके उपकरणों को हम असाधारण कह सकते हैं, अन्यथा वे विलक्षण होकर भी हमारे साधारण जीवन के निकट हैं। इसीलिए वे हमारे सांस्कृतिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग बन गये हैं। तप और अनुष्ठान व्रतों की अपेक्षा अधिक धार्मिक और आध्यात्मिक होते हैं। वे व्यक्तिगत साधना के उत्कृष्ट रूप हैं। व्रतों में भी कुछ अधिक धार्मिक और आध्यात्मिक होते हैं। किन्तु लोक-परम्परा में इनका रूप भी संस्कृतिक बन गया है। अधिकांश व्रतों की साधना के क्षितिज पर सांस्कृतिक सौन्दर्य के ज्योतिर्लोक प्रकाशिक हैं।

सांस्कृतिक होने के कारण व्रतों की व्यक्तिगत साधना में भी सामाजिक भाव का समवाय है। व्रतों का सामाजिक भाव उनके मूल स्वरूप का अंग नहीं है। किन्तु उनके स्वरूप के मूलों से पल्लवों और पुष्पों के समान विकसित हुआ है। वतों की व्यक्तिगत साधना मूलों के समान ही

गहन और गुप्त होता है, तथा अपनी रहस्यमयी शक्ति से सामाजिक और सांस्कृतिक भावों की स्फूर्ति और आत्मा के सौन्दर्य का संचार करती है। अधिकांश व्रतों में साधना का बीज सामाजिक और सांस्कृतिक रूपों में पल्लवित तथा पुष्पित हुआ है। अतः व्रतों का आचार से ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। शास्त्रों में आचार को प्रथम धर्म माना है। वस्तुतः आचार ही धर्म का मर्म है। आचार का अर्थ मर्यादा पूर्ण व्यवहार है। आचार की यह मर्यादा प्रकृति का अनुशासन है। मर्यादा प्रकृति के समुद्र की वेला है, जिसके भीतर ही जीवन के ज्वार तरगित होते हैं। मन का संस्कार बनकर यह मर्यादा शील का स्थायी रूप लेती है। यह शील ही आचार का आन्तरिक सार है। इसे चरित्र भी कहते हैं। शील का निर्माण भी सकल्प के बल से होता है। दूसरी ओर आचार में शील के व्यवहार की प्रेरणा भी संकल्प में ही रहती है। संकल्प व्रत का स्वरूप और आधार है। इस प्रकार व्रत का आचार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। लोक-व्यवहार तो सदा सामाजिक होता है। किन्तु आचार व्यक्तिगत भी हो सकता है। व्रत आदि की साधना के अनुरूप व्यक्तिगत आचार चाहे निषेधात्मक रूप में सामाजिक हो, किन्तु भावात्मक रूप में उसकी सामाजिकता प्रकट नहीं है। भावात्मक रूप में व्रत के नियमों का अनुशीलन व्यक्ति के कुछ आत्मगत आचारों तक ही सीमित है। किन्तु इस व्यक्तिगत आचार में भी संकल्प की वही शक्ति है, जो सामाजिक आचार को संभव बनाती है। व्यक्तिगत आचार में सम्पन्न होकर यह संकल्प सामाजिक सदाचार की भी दृढ़ भूमिका बनाता है। इस प्रकार यदि व्रत का आचार सामाजिक सदाचार का साक्षात् रूप ही है, तो भी व्रत के आचार में सामाजिक सदाचार की शिक्षा और प्रेरणायें सन्निहित है। कुछ व्रतों का रूप भी ऐसा है कि सामाजिक सदाचार उनके अनुष्ठान का ही अंग है। नवरात्र के व्रत में कन्याओं और कुमारों की पूजा की जाती है। वर्ष के प्रथम नवरात्र में व्रत की समाप्ति मातृ पूजा से होती है। गौरी पूजा के व्रतों में सौभाग्यवती स्त्रियाँ ज्येष्ठाओं का वन्दन करती है। ऐसे सांस्कृतिक व्रतों में सन्निहित आचार का सूत्र सामाजिक सदाचार का आधार है। किन्तु अन्यव्रतों में व्यक्तिगत आचार का अनुशीलन भी

संयम और संकल्प की शिक्षा के द्वारा सामाजिक सदाचार का बीज बन
है। व्रतों में सम्पन्न होने वाली पवित्रता और निष्ठा की भावना के द्वा
ही सामाजिक सदाचार का शील मनुष्य की विभूति बन सकता है
स्वरूप में सामाजिक न होते हुए भी व्रतों का संकल्प और संयम स्वार्थ अ
संघर्षों में अभीष्ट सामाजिक सदाचार का स्रोत है।

जिस प्रकार व्रतों के व्यक्तिगत आचार में सामाजिक सदाचार
बीज अंकुरित होते हैं, उसी प्रकार व्रतों की व्यक्तिगत साधना के क्षिति
पर सांस्कृतिक सौन्दर्य के दिव्य लोक भी प्रकाशित होते हैं। संस्कृ
सौन्दर्य और श्रेय की समन्वित साधना है। सौन्दर्य से युक्त होने के कार
यह साधना एकान्त अनुष्ठान नहीं, वरन् एक सामाजिक उत्सव है।
उत्सव में आनन्द के स्रोत प्रवाहित होते हैं। इस प्रकार संस्कृति सौन्
श्रेय और आनन्द का संगम है। संस्कृति का सौन्दर्य कला के सौन्दर्य
समान ही विशेष रूपों की आराधना में निहित है। दोनों में इतना अंत
है कि जहाँ कला में नये-नये रूपों की उद्भावना अभीष्ट है और रूपों
इस नवीनता में ही कला का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है, वहाँ संस्कृति
चिरन्तन रूपों की आराधना होती है। संस्कृति के सौन्दर्य की सम्पन्न
इन रूपों की अनेकता और जटिलता में प्रकट होती है। इतना अवश्य
कि रूपों की अनेकता और जटिलता के कारण संस्कृति की परम्परा
निर्वाह कठिन होता है। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि जिस प्रक
बहुसंख्यक तथा जटिल और दीर्घ मूलों वाले वृक्ष दीर्घ-जीवी होते हैं, उ
प्रकार अनेक और जटिल रूपों वाली संस्कृति भी अधिक स्थायी होती है
भारतीय संस्कृति के दीर्घ-जीवी होने का एक यह भी रहस्य है। भारती
संस्कृति के रूप-सौन्दर्य की विविधता और जटिलता संस्कारों और व्र
में विशेष रूप से प्रकट होती है। भारतीय संस्कृति के प्रतीक रूप
अत्यन्त सरल हैं; यद्यपि संख्या में वे भी अनेक हैं। ये हमारे दैनि
आचार के अवलम्ब हैं। अतः रूप में इनका सरल होना आवश्यक है
जटिल रूपों का व्यवहार प्रतिदिन तथा दैनिक व्यवहार में क्षण-क्षण प
नहीं हो सकता। चरण-वन्दना में दक्षिण और वाम करों से क्रमश
दक्षिण और वाम चरण का स्पर्श करने की एक छोटी सी जटिल

भी दैनिक व्यवहार में प्रचलित न रह सकी। तिलक के सम्वन्ध में अनामिका से तिलक करने की एक छोटी सी जटिलता का स्मरण और पालन भी सब लोग नहीं कर पाते। इसी प्रकार स्वस्तिक के विन्यास में पार्श्व रेखाओं की दिशा की अल्पतम जटिलता में भी वहुत से लोग भूल कर जाते हैं। किन्तु व्रतों और संस्कारों की भाँति जो कार्य दैनिक कर्म नहीं हैं, वरन् समय-समय पर अवकाश से जाते हैं, उनमें कुछ सीमा तक जटिलता का निर्वाह किया जा सकता है। संस्कृति के रूपों की जटिलता संस्कृति को सम्पन्न वनाने के लिये अभीष्ट भी है। यद्यपि दैनिक व्यवहार के रूपों की सरलता भी श्वास की सरलता के समान सस्कृति की आयु का आधार है। व्रतों और संस्कारों में भी व्रत प्राय: प्रत्येक मास में होते हैं और वर्ष में उनकी संख्या वहुत होती है। व्रतों की तुलना में एक परिवार में संस्कारों की संख्या इतनीं अधिक नहीं होती। व्रत एक आचार रहे हैं, जिनके लिए कोई प्राकृतिक निमित्त अपेक्षित नहीं हैं और जिनका पालन सभी लोग कर सकते हैं। संस्कार जन्म, विवाह आदि के वाह्य निमित्तों पर अवलम्वित हैं। ये वाह्य निमित्त एक परिवार में प्रति वर्ष एक-दो वार से भी कठिनाई से आते हैं। संस्कारों की विरलता के कारण उनमें रूप की जटिलता का सन्निधान अधिक किया गया है। वर्ष में एक-दो वार इस जटिलता का निर्वाह कठिन नहीं हैं और दूसरी ओर वह संस्कृति के सौन्दर्य को सम्पन्न वनाता है। व्रत प्रतीकों की भाँति दैनिक व्यवहार के माध्यम नहीं हैं, वहाँ दूसरी ओर वे संस्कारों की भाँति विरल भी नहीं हैं। अत: न उनका प्रतीकों की भांति अत्यन्त सरल होना अपेक्षित है और न संस्कारों की भाँति अधिक जटिल होना उचित है। संख्या की दृष्टि से व्रतों के आचार की जटिलता उनके अनुरूप है और उसका निर्वाह सरलता से सम्भव है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह संभावना सत्य प्रमाणित होती रही है। व्रत सामान्य होते हुए भी व्यक्तिगत आचार हैं; किन्तु उनकी जटिलता इतनी व्यवहार्य है, कि साधारण जन सुगमता से उसका निर्वाह करते आये हैं। संस्कारों के रूप की जटिलता की भाँति व्रतों के रूप की जटिलता के निर्वाह के लिए पुरोहितो की सहायता वहुत कम अपेक्षित होती है। व्रतों की जटिलता

संस्कारों की जटिलता की भाँति शास्त्रीय विधियों की जटिलता न होकर लौकिक उपकरणों, आचारों आदि की जटिलता है, जिसका निर्वाह प्रत्येक व्यक्ति सुगमता से कर सकता है। जटिलता की यह व्यावहारिकता और माध्यमिकता भी उनके सौन्दर्य का रहस्य है। उनके आधार पर ही व्रतों का आध्यात्मिक तत्व लौकिक आचार में चरितार्थ होता रहा है। इसी सहज सौन्दर्य के समवाय से धार्मिक और आध्यात्मिक होते हुए भी व्रत हमारी लोक-संस्कृति के अमूल्य रत्न बन गये हैं। इन दिव्य रत्नों की माला प्रत्येक भारतीय के हृदय का अलंकार है। व्रतों का यह रूप सौन्दर्य, विधि, उपकरण, आचार, देवता, निमित्त, काल, स्थान, आदि की विशेषताओं पर अवलम्बित है।

व्रत का सामान्य रूप संकल्प और आत्मा का अनुसंधान है। जीवन के साधारण और दैनिक रूप से कुछ विरत होकर एक नवीन भूमिका में नये भावों की आराधानता व्रतों का मूल मन्तव्य है। किन्तु सभी व्रतों का आत्मानुसंधान दर्शनों के मोक्ष की भांति विशुद्ध रूप में आध्यात्मिक नहीं है। व्रतों के अध्यात्म का रूप मानवीय, सामाजिक, सांस्कृतिक है। इसीलिए अधिकांश व्रतों में आध्यात्मिक साधना में सांस्कृतिक भावों का समन्वय है। ये भाव लौकिक उपकरणों में ही सम्पन्न होते हैं। इसीलिए व्रतों का अनुष्ठान लौकिक उपकरणों की भूमिका में ही होता है। इन उपकरणों की विशेषता और विविधता नवीनता के उल्लास के साथ-साथ एक कलात्मक सौन्दर्य का समवाय भी व्रतों में रहता है। विशेष व्रतों के साथ रूपों की विशेषतायें संयुक्त होकर एक परम्परा का निर्माण करती हैं और उनके सांस्कृतिक सौन्दर्य को बढ़ाती हैं। रूप की यह विशेषता सबसे पहले व्रतों की विधि में दिखाई देती। यद्यपि सभी व्रतों का सामान्य उद्देश्य एक ही है। वह उद्देश्य संकल्प के बल से आत्मा के भाव का जागरण है। फिर भी सभी व्रतों की विधि समान नहीं है। विभिन्न व्रतों में अलग-अलग विधियों का अनुसरण किया जाता है। किसी व्रत में मौन अभीष्ट है, तो किसी में कोई कथा कही जाती है, किसी में नक्षत्रों का दर्शन किया जाता है, तो किसी में चन्द्रमा का दर्शन किया जाता है। सामान्य एकादशी अथवा प्रदोष के समान किसी व्रत में कोई

ऐसी विशेष विधि नहीं है। किसी में किसी विशेष वृक्ष की परिक्रमा की जाती है। इस प्रकार विभिन्न व्रतों में अलग-अलग विधियों का अनुसरण किया जाता है। विधि की यह विविधता व्रतों के सांस्कृतिक सौन्दर्य को बढ़ाती है और उनके सामान्य आध्यात्मिक उद्देश्य की एक-रूपता-जन्य नीरसता में सरसता का संचार करती है।

उपकरण, देवता, काल, स्थान आदि की विविधता को भी एक प्रकार से व्रतों के रूप अथवा विधि की विशेषता का ही अंग मान सकते हैं। तत्व की तुलना में जो अतिशय है, उसे ही रूप कह सकते हैं। इस अतिशय की अधिकता उसकी रूपात्मकता को बढ़ाती है। आध्यात्मिक उद्देश्य व्रतों का तत्व है, उसकी तुलना में विधि उपकरण आदि रूपात्मक अतिशय है। इसीलिये ये व्रतों के अध्यात्म में सांस्कृतिक सौन्दर्य के विधायक हैं। अध्यात्म का क्षेत्र पूर्णतः स्वतन्त्र है। उसकी साधना किन्हीं उपकरणों पर अवलम्बित नहीं है। अतः उपकरणों की विशेषता व्रतों का रूपात्मक अतिशय है। ये उपकरण व्रतों के अध्यात्म के साथ प्रकृति का समन्वय करते हैं और अपनी विशेषता के द्वारा व्रतों के आचार में सांस्कृतिक सौन्दर्य का सन्निधान करते हैं। भिन्न-भिन्न व्रतों की विधि और उनके आचार के उपकरण अलग-अलग हैं। पारण की सामग्री और पूजा के उपकरण दोनों ही रूपो में यह उपकरणों की विशेषता दिखाई देती है। 'निर्जला एकादशी' के समान किसी व्रत में जल का भी ग्रहण नहीं होता और वह पूर्णतः निराहार होता है। किसी व्रत में फलाहार किया जाता है। कुछ वतों में कुछ विशेष आहारों का विधान है, कुछ में साधारण अन्न का भोजन भी मान्य है। इस प्रकार निर्जल से लेकर साधारण भोजन तक पारण-सामग्री एक क्रमिक परम्परा है, जो निर्जलता के प्रकृति-शून्य त्याग को साधारण जीवन से क्रमिक सोपानों के द्वारा मिलाती है।

देवताओं की पूजा के उपकरणों की विशेषता और विविधता उपकरणों की विशेषता के सौन्दर्य को दिव्य और समृद्ध बनाती है। अनेक व्रतों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न देवताओं से है। उन देवताओं का रूप और उनकी पूजा के उपकरण अलग-अलग हैं। देवी की पूजा लाल पुष्पों

और ज्योति से होती है। शिव की पूजा आक, धतूरे के पुष्पों तथा बेल-पत्रों से होती है। देवी पर चने का प्रसाद चढ़ाया जाता है, तो शिव पर फलों का प्रासाद चढ़ता है। सत्यनारायण को पंचामृत, गेहूँ का चूर्ण और कदली फल का प्रासाद प्रिय है। शिव पर जल चढ़ाया जाता है। अन्य देवताओं पर जल नहीं चढ़ाया जाता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की स्तुतियों से भिन्न-भिन्न देवताओं की वन्दना की जाती है। चाहे सभी देवता एक ही ईश्वरीय शक्ति के प्रतिनिधि हों, किन्तु उनका रूप, उनका चरित, उनकी, काया और उनकी पूजा की विधि और उसके उपकरण भिन्न-भिन्न हैं। यह विविधता ही व्रतों को सस्कृति का रूपात्मक सौन्दर्य प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्रतों के निमित्त, प्रयोजन, स्थान, काल आदि भी अलग-अलग हैं। कोई व्रत एकादशी, प्रदोष आदि के समान सामान्य हैं और उसका कोई विशेष निमित्त नहीं है। किन्तु अनेक व्रतों के विशेष निमित्त हैं। एकादशियों में भी प्रत्येक के अलग-अलग नाम हैं। कोई पुत्रदा एकादशी है, तो कोई इन्दिरा एकादशी है, तो कोई रंगभरी एकादशी है। स्त्रियों के अधिकांश व्रत पुत्रों की मंगल-कामना के निमित्त होते हैं। व्रतों का स्थान से अधिक सम्बन्ध नहीं है। उनका पालन कहीं भी किया जा सकता है। फिर भी कुछ व्रतों का सम्बन्ध कुछ विशेष स्थानों से है। आमलकी एकादशी में वन या उपवन में जाकर आमले की परिक्रमा करते हैं। किसी व्रत में तुलसी की परि-क्रमा की जाती है। शिव के व्रत में शिव का दर्शन और उनकी पूजा के लिए मन्दिर में जाना होता है। इस प्रकार बहुत से व्रतों का सम्बन्ध कुछ विशेष स्थानों से हो जाता है। अनेक व्रतों का सम्बन्ध कुछ विशेष कालों से भी है। एकादशी के समान कुछ व्रत मध्यान्ह के व्रत भी हैं। कुछ प्रदोष के समान सायंकाल के व्रत हैं। कुछ व्रतों का पारण संध्या काल में तारकोदय अथवा चन्द्रोदय की वेला में होता है। करक-चतुर्थी के व्रत के समान कुछ व्रतों का समय चन्द्रोदय के विलम्ब के कारण रात्रि के प्रथम प्रहर के अन्त में होता है। जन्माष्टमी का समय श्री कृष्ण के जन्म-काल के अनुरूप मध्यरात्रि है। निर्जला एकादशी के समान कुछ व्रतों की अवधि पूरे आठ पहर की है। इस प्रकार व्रतों के काल सम्बन्ध

में भी विशेषता और विविधता है। ये सभी विशेषतायें व्रतों के रूप सौन्दर्य को बढ़ाती हैं और उनकी धार्मिक निष्ठा में सांस्कृतिक सौन्दर्य का समवाय करती हैं। संस्कृति के सौन्दर्य में अन्वित होकर व्रतों का अध्यात्म सहज और सुग्राह्य बन जाता है। अध्यात्म का यह रूप उसकी आन्तरिक साधना को लौकिक जीवन के निकट ले आता है तथा इस प्रकार उसे सजीव और सुगम बना देता है। जिस प्रकार पृथिवी का रस और गन्ध अनेक प्रकार के पुष्पों में खिलकर प्रकृति के सौन्दर्य को रूप और वर्ण की विविधता के द्वारा बढ़ाता है, उसी प्रकार अध्यात्म का रस और तत्व व्रतों के विधि, आचार, उपकरण, काल आदि की विविधता से युक्त होकर सुन्दर बनता है। रूपों की विविधता और समृद्धि से युक्त होकर एकरूप अध्यात्म सरस और सुन्दर बनकर जीवन और संस्कृति की विभूति बनता है।

अध्याय–६

तीर्थों की माहिमा

अध्याय–६

तीर्थों की महिमा

भारतीय संस्कृति की रूप-सम्पन्नता की भाँति भारतवर्ष की प्रकृति भी अपनी विविधता में अत्यन्त रमणीय है। प्रकृति की इस विशालता और विविधरूपता का भारतीय संस्कृति को विपुल रूपों से सम्पन्न बनाने में कुछ योग रहा हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। संस्कृति के रूपों की विविधता और विपुलता प्रकृति की विचित्रता से प्रेरित होने के साथ-साथ चेतना की समृद्धि को भी आकार देती है। भारतीय संस्कृति में प्रकृति के आधार में संस्कृति की रूप सम्पन्नता चेतना की इसी समृद्धि की ही द्योतक है। सभी क्षेत्रों में प्रकृति के रूपों की विपुलता में संस्कृति के रूपों के लिये उपयुक्त अवलम्ब प्रदान किया है। चेतना के सन्तुलन और प्रकृति के संयोग के द्वारा भारतीय संस्कृति में प्रकृति का अद्भुत सामंजस्य है। इस सामंजस्य के द्वारा भारतवर्ष की विपुल और सुन्दर प्रकृति सुन्दरतर बन गयी है। दूसरी ओर संस्कृति अधिक सजीव और यथार्थ बन कर लोक-जीवन की सहज विभूति बन गयी है, क्योंकि अधिकांश लोक-जीवन प्रकृति के अंचल में ही बीतता है। नागरिक सभ्यता के विस्तार के पूर्व प्राचीन भारतवर्ष के जीवन में प्रकृति का सम्पर्क अधिक व्यापक और घनिष्ठ था। नागरिक सभ्यता में भी प्रकृति का आकर्षण और सम्पर्क बना रहा। संस्कृति के अनेक रूप प्रकृति के साथ इस सम्बन्ध का निर्वाह करते रहे हैं। संस्कृति के साथ प्रकृति का यह सामंजस्य इतने विशाल और दृढ़ आधार पर स्थापति हुआ है, कि आज की वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता में भी वह अपने सौन्दर्य की महिमा से आकर्षित करता है।

संस्कृति के साथ-साथ धर्म का भी प्रकृति से गहरा सम्बन्ध है। धर्म एक आत्मिक साधना है। संस्कृति की भाँति प्रकृति के रूप धर्म के अवलम्ब नहीं बन सकते। संस्कृति आध्यात्मिक होने के साथ-साथ लौकिक

भी है। धर्म यदि अलौकिक नहीं, तो पूर्णतया आध्यात्मिक अवश्य है। किन्तु भारतीय परम्परा में धर्म भी संस्कृति के अंचल में पला है। अतः वह संस्कृति के संस्कारो से प्रभावित है। जिस प्रकार संस्कृति की रूप सम्पन्नता का प्रकृति के विपुल और सुन्दर रूपों से सामंजस्य है, उसी प्रकार धर्म की साधना के पीठ भी प्रकृति के साम्राज्य में बने हैं। अन्य किसी रूप में नही तो अपनी सात्विकता और शान्ति के द्वारा प्रकृति धर्म की साधना के अनुकूल वातावरण का निर्माण अवश्य करती है। प्राचीन काल में धर्म और अध्यात्म की साधना के पीठ वनों में ही थे। वन्य आश्रमों के एकान्त और शान्तिपूर्ण वातावरण में तप और साधना करने वाले मुनियों की प्रतिभा से ही धर्म और अध्यात्म का पथ प्रकाशित हुआ है। प्राचीन काल में यह आरण्यक आश्रम भी धर्म के तीर्थ थे। इस उष्ण देश में नदियाँ अमृत की धारायें थी। उन्हीं के तट पर संस्कृति के तीर्थ निर्मित हुये थे और सभ्यता के क्षेत्र विकसित हुये थे। नदियाँ पर्वतों से निकलती हैं। निर्झरों और नदियों के उद्गम होने के कारण पर्वत भी धर्म और संस्कृति के पीठ बन गये हैं। हिमालय के शीतल अंचल में अनेक मुनियों के आश्रम थे। कैलाशपति शिव के चरणों में अध्यात्म के अनेक साधक निवास करते थे। यदि शिव-संस्कृति को प्राचीनतम मानें, तो यह कहा जा सकता है कि हिमालय के नदी तटों के पर्वतीय वनों से नदियों के साथ उतर कर ही धर्म और अध्यात्म की विभूति ब्रह्मावर्त में आई है।

अस्तु पर्वत और नदी तटों के सघन और शान्तिपूर्ण क्षेत्र अध्यात्म की साधना के पीठ और धर्म की आराधना के तीर्थ बने। संस्कृति के रूपों की विपुलता से प्रभावित धर्म ने प्रकृति के विशाल क्षेत्र में अपनी विपुल विभूति का विस्तार किया। भारतवर्ष में देवताओं और सम्प्रदायों की विपुलता का कारण धर्म पर संस्कृति का ही प्रभाव है। ये देवता प्रकृति के असंख्य पीठों में असंख्य रूपों में प्रतिष्ठित हुये। प्रकृति के अंचल में प्रत्येक सम्प्रदाय का तीर्थ बना। इन तीर्थों की यात्रा धार्मिक उपासना और आराधना का आवश्यक अंग बन गई, किन्तु नागरिक सभ्यता के क्षेत्र प्रकृति के इन तीर्थों से दूर होते गये। नदियों के मैदानों

में कृषि का विस्तार हुआ, तो असंख्य ग्राम बस गये। वे ग्राम भी नगरों की भाँति इन प्रकृति के पीठों से दूर थे। दूर और दुर्लभ होने के कारण प्रकृति के इन तीर्थों का महत्व और बढ़ गया। दूसरी ओर ग्रामीण और नागरिक सभ्यता के क्षेत्र में भी अनेक उपयुक्त स्थानों पर धर्म के पीठ बन गये। अपेक्षाकृत निकट होने के कारण इन तीर्थों की यात्रा सुगमतर थी। इस प्रकार धर्म और देवताओं की अनेकरूपता के प्रकाश में भारतवर्ष के विशाल भू-भाग में विभिन्न प्रकार के स्थानों पर असंख्य तीर्थों की स्थापना हुई। अवकाश और सुविधा के समय में इन तीर्थों की यात्रा धार्मिक पुण्य के साथ-साथ लौकिक आनन्द का भी स्रोत बनी।

किन्तु इन तीर्थों और इनकी यात्राओं का प्रयोजन केवल धार्मिक नहीं है। भारतवर्ष की संस्कृति इतनी प्राचीन और सम्पन्न है, कि धर्म और उसके सम्प्रदाय भी उसके अंचल में पले हैं, तथा उसके लक्षणों से प्रभावित हैं। संस्कृति का अंचल पकड़कर ही धर्म जीवन के पथ पर चल सका है। आज संस्कृति का अंचल छूट जाने के कारण ही उसका अस्तित्व संकट में है। तीर्थों का प्राचीनतम रूप भी धर्म के प्रयोजन से नहीं, वरन् संस्कृति के निमित्त से स्थापित हुआ था। संस्कृति के अंचल में पलने के कारण धार्मिक तीर्थों का प्रयोजन भी धार्मिक होने के साथ-साथ सांस्कृतिक भी है। प्रत्यक्ष रूप में धर्म के पीठ होते हुये भी अलक्षित रूप से ये तीर्थ और क्षेत्र जीवन के सांस्कृतिक प्रयोजनों को भी पूर्ण करते हैं। वस्तुतः किन्हीं प्रयोजनों के अलक्षित आकर्षण से इनकी प्रतिष्ठा रही है, और इनकी यात्रा भारतीय जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग रही है। प्रकृति के प्रशान्त वातावरण में स्थित होने के कारण ये तीर्थ पवित्र और शान्तिपूर्ण हैं। किन्तु इस पवित्रता में एक दिव्य सौन्दर्य है, जो प्राकृतिक होते हुये भी संस्कृति की आत्मा से अनुप्राणित है। परम्परा के अतिरिक्त अनेक तीर्थों में संस्कृति के सौन्दर्य का प्रकाश कला के रूप में भी विकसित हुआ है। कला का यह विस्तार विशेष रूप से मन्दिरों में दिखायी देता है। वैष्णव तीर्थों में कला के सौन्दर्य की विपुलता अधिक है, किन्तु अन्य रूपों में संस्कृति का सौन्दर्य सभी तीर्थों में व्याप्त है। कला के अतिरिक्त यह सौन्दर्य भाव के अतिशय और परम्परा के प्रस्तार के रूप में अधिक है।

संस्कृति के अंचल में पलने के कारण धर्म के तीर्थों का उदय जीवन की सम्भावनाओं में सहज रूप में हुआ है। स्वयं 'तीर्थ' पद की व्युत्पत्ति जीवन के साथ उसी की संगति को प्रमाणित करती है। नदियों के इस देश में एक ओर से दूसरी ओर जाने के लिये जिन स्थानों पर से पार जाना सुगम होता था, उन्हें तीर्थ कहते थे। संचरणशील ऋषियों और पथिकों के लिये इन स्थानों का बड़ा महत्व था। अनेक जनों के सम्मिलन से यह स्थान धीरे-धीरे सामाजिक केन्द्र बने। सुगम होने के कारण स्नान की सुविधा के लिये भी उन स्थानों का उपयोग होने लगा। सामाजिक जीवन और स्नान के क्षेत्र बनने के साथ-साथ इन स्थानों में देवताओं की स्थापना हुई। इस दिव्य देश में यह स्वभाविक था, कि जहाँ मनुष्यों का आवागमन रहता है. उन्हीं स्थानों पर निवास करना देवताओं को भी प्रिय है, क्योंकि ऐसे स्थानों पर विराजित होकर वे अधिक से अधिक जनों को अपनी कृपा का फल दे सकते हैं। उष्ण देश में नदियों का भी बड़ा महत्व है। वेदों में सरस्वती, गंगा, यमुना आदि नदियों की स्तुति के मंत्र हैं। उष्ण देश के लिये स्नान और पान दोनों की दृष्टि से शीतल एवं मधुर जल की नदियाँ अमृत की दिव्य धाराएँ हैं। अतः स्वाभाविक रूप में उनमें पवित्रता की भावना विकसित हुई। गंगा के सम्बन्ध में इस पवित्रता की भावना की पराकाष्ठा हुई। शिव के शीश पर उसे स्थान दिया गया है, और वह माता के समान पूज्य मानी जाने लगी। गंगा से प्रति इस स्वाभाविक पवित्र भावना के कारण के तीर्थ स्थलों के प्रति भी श्रद्धा की भावना होना स्वाभाविक था। भारतवर्ष की अन्य नदियों इन स्थानो में देवताओं की स्थापना मे यह पवित्रता की भावना और बढ़ी। सन्तरण के तीर्थ धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र बन गये। अधिकांश तीर्थ नदियों के तट पर ही स्थित हैं। किन्तु इनके अनुकरण पर वन्य और पर्वतीय प्रकृति के अन्य दुर्गम और रमणीय स्थानों पर भी तीर्थों की स्थापना हुई। प्रायः ये सभी तीर्थ देवताओं के निवास हैं। श्रद्धालु जन इन तीर्थों की यात्रा को अपार पुण्य का कारण मानते है।

नदियों के सन्तरण के सुगम स्थलों के आधार पर इन स्थानों पर धार्मिक केन्द्रों की स्थापना हुई और वे तीर्थ कहलाने लगे। किन्तु तीर्थ

पद की व्युत्पत्ति में पवित्रता के साथ-साथ सन्तरण का मौलिक भाव भी संलग्न रहा। सन्तरण के भौतिक अर्थ का विस्तार आध्यात्मिक क्षेत्र में हुआ। मनुष्य के लिये नदियों के सन्तरण की समस्या थी, जो इन तीर्थों से हल हुई। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से भवसागर को पार करने की समस्या उससे कम महत्वपूर्ण नहीं थी। इसके लिये ज्ञानी और कृपालु गुरुओं का अवलम्ब अपेक्षित था। वे ही अपनी ज्ञान की नौका से भव-सागर में डूबते हुये जनों को पार उतार सकते हैं। नदियों के तीर्थों की भाँति भव-सागर से पार होने में नौका अथवा सेतु के समान सहायक होने के कारण ये ज्ञानी गुरु भी 'तीर्थ' कहलाते थे। सन्तरण के तीर्थों के समान ये गुरु विद्या के तीर्थ थे। इसी परम्पराके आधार पर अनेक आचार्यों के नाम और पद के साथ 'तीर्थ' पद का संयोग मिलता है। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर महावीर स्वामी और उनके पूर्ववर्त्ती जन आचार्य तीर्थङ्कर कहलाते थे। अलुक् समाज के द्वारा 'तीर्थङ्कर' का अर्थ तीर्थ को बनाने वाला है। इन आचार्यों ने जिन तीर्थों का निर्माण किया, वे नदी के सन्तरण के तीर्थ नहीं थे। वे भवसागर से पार करने के धार्मिक और अध्यात्मिक तीर्थ थे। नदियों के सन्तरण-स्थलों पर जिन धार्मिक तीर्थों की स्थापना हुई है, उनमें भी इस आध्यात्मिक भावना का समावेश है। सन्तरण की सुविधा के साथ-साथ नदी तटों के तीर्थ भवसागर को पार करने के तीर्थ भी माने जाते हैं। इन तीर्थों की यात्रा और इनमें निवास करने से जो धार्मिक पुण्य होता है, वह भवसागर से पार करने के लिये नौका के समान है। इसी धार्मिक और आध्यात्मिक पुण्य के कारण इन तीर्थों की इतनी महिमा है।

भारतीय धर्म और संस्कृति में तीर्थों की इतनी विपुलता है और तीर्थ यात्राओं का इतना महत्व है, कि वे जीवन के एक गौरवमय अंग बन गये हैं। देश के विशाल भू-भाग में पर्वत, वन, नदी, तट आदि में असंख्य तीर्थ स्थित हैं। इन तीर्थों की यात्रा लोक-जीवन और संस्कृति में एक पुण्य और महत्वपूर्ण कर्म मानी जाती है। अनेक अवसरों पर और अनेक रूपों में सम्पन्न होने वाली ये यात्राएं जीवन में अपूर्व आनन्द और अद्भुत सौन्दर्य की प्रेरणाएं हैं। पर्वों और व्रतों के समान ही ये तीर्थ-यात्राएं

भारतीय संस्कृति में सौन्दर्य और आनन्द के प्रकाश की दिशायें है। संस्कृति के ये रूप-कुसुम सौन्दर्य के एक ही सूत्र में पिरोये हैं। एक ही माला के पुष्पों की भाँति इनका एक दूसरे से निकट का सम्बन्ध है। जिस प्रकार पर्वों, व्रतों, संस्कारों आदि का परस्पर सम्बन्ध है और उनमें एक का दूसरे में सगम होता है, उसी प्रकार तीर्थ भी संस्कृति की अनेक धाराओं के संगम हैं। वे केवल धर्म और अध्यात्म के ही क्षेत्र नही हैं। भारतवर्ष में धर्म संस्कृति के उदार और सुन्दर अंचल में पला है। इसी-लिये धर्म के इन क्षेत्र में अध्यात्म की धारा के साथ संस्कृति की अनेक धाराओं का संगम होता है। यद्यपि सभी पर्वों और व्रतों का सम्बन्ध तीर्थों से नहीं है, फिर भी अनेक पर्व और व्रत भिन्न-भिन्न तीर्थों में सम्पन्न होते हैं और इस प्रकार संस्कृति की त्रिवेणी का निर्माण करके इन तीर्थों को तीर्थराज बनाते हैं। जिस प्रकार पर्व और व्रत एक दूसरे से मिलकर संस्कृति के सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार पर्व और व्रत के क्षेत्र बनकर अनेक तीर्थ धर्म और अध्यात्य में संस्कृति के सौन्दर्य का अन्वय करके जीवन के आनन्द को समृद्ध करते हैं। पर्वों और व्रतों से सम्बन्धित होकर तीर्थों की यात्रा और साधना लोक के सांस्कृतिक जीवन में अप्रायाम अन्वित हो गयी है। तीर्थों की यात्रा विशेष संकल्प और उद्योग के द्वारा ही की जाती है। किन्तु अनेक तीर्थों की यात्रा पर्वों और व्रतों के सम्बन्ध में अनायास ही होती है। सामाजिक समात्मभाव और सांस्कृतिक रूपों के सौन्दर्य से युक्त होकर अनेक व्रत अपने आध्यात्मिक मर्म में सुरक्षित रहते हुये भी, सामाजिक पर्वों के समान उल्लास के अवसर बन गये हैं। इन व्रतों के समारोह पर्वों के समान ही होते हैं, यद्यपि इस समारोह के सौन्दर्य में साधना का मर्म छिपा रहता है। इसी प्रकार इनमें कुछ व्रतों का सम्बन्ध तीर्थों से भी है। अमावस्या और पूर्णिमा के समान अनेक व्रतों का सम्बन्ध तीर्थों के स्नान से है। जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि के समान कुछ व्रतों का सम्बन्ध देवताओं के दर्शन से है। इस प्रकार अनेक रूपों में व्रतों से सम्बद्ध होकर तीर्थों के धर्म-क्षेत्र संस्कृति के पीठ भी बन जाते हैं। एक ओर पर्वों में सांस्कृतिक सौन्दर्य की प्रचुरता है, दूसरी ओर तीर्थों में धर्म की प्रधानता है। व्रत संस्कृति और धर्म

के सेतु हैं। व्रतों में समाहित होकर पर्वों का सांस्कृतिक सौन्दर्य तीर्थों में भी प्रकाशित होता है और धर्म के इन क्षेत्रों को संस्कृति का पीठ बनाता है।

धर्म और संस्कृति का यह समन्वय भारतीय परम्परा की विशेषता है। इसी समन्वय के कारण धर्म के अनेक प्रधान क्षेत्र ही सभ्यता, संस्कृति विद्या, कला आदि के विशाल केन्द्र हैं। इस समन्वय का मूल धर्म, संस्कृति आदि के एक सजीव दृष्टिकोण में है। समन्वय जीवन का साक्षात् स्वरूप है। सत्ता और शक्ति की अनेक धाराओं के संगम और सामंजस्य की एक-निष्ठता से ही जीवन अपना आकार और अस्तित्व ग्रहण करता है। संगम और सामंजस्य का यह सजीव रूप ही भारतीय परम्परा में धर्म, संस्कृति आदि की धाराओं में चरितार्थ हुआ है। यह समन्वय संस्कृति के उदार और स्निग्ध अंचल में सम्पन्न हुआ है। संस्कृति ही भारतीय जीवन की मूल प्राचीनतम आस्था है। यह धारणा पूर्णतः असत्य और भ्रमपूर्ण है कि भारतवर्ष एक धर्म प्रधान देश है। पश्चिमी साम्राज्यवाद के समर्थक ईसाई विद्वानों की चतुराई और भारतवासियों की मूर्खता के कारण इस भ्रम का प्रचार हुआ। भारतीय जीवन में धर्म का जो महत्वपूर्ण स्थान है, उसमें इस भ्रम को आधार मिला। किन्तु सत्य यह है कि धर्म भारतीय जीवन और सस्कृति का अवलम्ब नहीं है, वरन् स्वयं धर्म संस्कृति के अंचल में पला है। सांस्कृतिक सौन्दर्य से समन्वित होने के कारण ही धर्म को जीवन में इतना आदरपूर्ण और व्यापक स्थान मिल सका। धर्म की महिमा संस्कृति के सौन्दर्य से ही प्रकाशित है। संस्कृति की सौन्दर्य-सृष्टि जीवन के सप्राण सिद्धान्तों पर अवलम्बित होने के कारण अत्यन्त सजीव है। धर्म को भी सजीवता का अनुदान संस्कृति से ही मिला है। इसी अनुदान से धर्म इतने दिन तक जीवित रहा है। आज वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता के प्रभाव से संस्कृति का वह अंचल ही जर्जर हो रहा है। संस्कृति के अंचल की छाया क्षीण हो जाने के कारण ही धर्म भी मातृहीन बालक की भाँति उपेक्षित हो रहा है।

भारतीय संस्कृति का समन्वय सूत्र समृद्धिशील जीवन के अनुरूप है। जीवन अनेक इकाइयों का समुदाय नहीं है, वस्तुतः एक ही इकाई

के विभाजन से जीवन के रूप का विकास होता है। जिन अनेक इकाइयों का जीवन के रूप में गठन होता है, वे एक दूसरे से संश्लिष्ट होकर एक-प्राय: बन जाती है। संगठन की इस एकता का नाम ही जीवन है। विभाजन, संगठन और विश्राम का यह क्रम जीवन में गतिशील है। गति के क्रम में ही इकाइयों का विभाजन होता है। इस विभाजन के साथ इकाइयों के संश्लेषण से जो समन्वित व्यवस्था बनती है, वही जीवन का रूप है। जीवन के क्रम में एक अवधि तक इस व्यवस्था का विकास होता है। यह विकास ही जीवन की मुख्य गति है। विभाजन और संघठन के क्रम में जीवों के शरीर के जिन अंगों का प्रस्फुटन होता है, उनका एक ओर अपना विशेष रूप और धर्म है। किन्तु दूसरी ओर वे जीवन की एक ही प्राण-शक्ति से अनुप्राणित रहते हैं। इस सामान्य शक्ति के अंचल में ही उनका अस्तित्व और धर्म पलता है। इसी प्रकार संस्कृति भी मनुष्य के समृद्धिशील जीवन की एक व्यापक और सामान्य शक्ति है, जिसके अंचल में जीवन के अनेक अंग पलते हैं। उसमें विकल्प और स्वतन्त्रता के लिये स्थान नहीं है। अत: विभाजन, संगठन और व्यवस्था के एक निश्चित रूप में जीवन का विकास होता है। किन्तु सांस्कृतिक जीवन के क्षेत्र में ऐसी कठोर निश्चयात्मकता नहीं है, वह स्वतन्त्रता का क्षेत्र है। अत: उसका विकास स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन के अनुरूप अथवा उसके विपरीत हो सकता है। जीवन के अनुरूप संस्कृति का विकास होने पर उसके अंगों का संस्कृति के सामान्य रूप से ऐसा ही घनिष्ठ समवाय रहता है, जैसा कि जीवों के अंगों का उनके प्राणों अथवा उनकी आत्मा के साथ रहता है। जीवन के विपरीत संस्कृति के विकास में अंगों का यह संश्लेष नहीं रहता। इस संश्लेष के न रहने पर संस्कृति का क्या रूप रहता है, यह समझना कठिन है। आत्मा के समान संस्कृति का अपना स्वरूप अवश्य है। किन्तु जिस प्रकार अंगों के संगठन के अतिरिक्त प्राणों अथवा आत्मा का अस्तित्व नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार सांस्कृतिक जीवन के जो अंग संस्कृति की आत्मा से अनुप्राणित रहते हैं, उनसे अतिरिक्त संस्कृति के रूप की कल्पना करना कठिन है। अंगों के पृथक हो जाने पर जिस प्रकार जीवन का रूप विनष्ट हो जाता है, तथा

प्राणों और आत्मा का अस्तित्व भी सन्दिग्ध हो जाता है, उसी प्रकार धर्म, दर्शन, आचार, कला, साहित्य आदि अंगों के पृथक हो जाने पर संस्कृति के अस्तित्व की कल्पना कठिन है, और दूसरी ओर संस्कृति के समवाय के बिना इनके भी सप्राण और सजीव रहने की संभावना नहीं है। वर्तमान युग में कई कारणों से संस्कृति का इन अंगों से अथवा इन अंगों का संस्कृति से विश्लेष हो रहा है। इसलिये ये अंग निर्जीव होकर विशीर्ण हो रहे हैं और दूसरी ओर संस्कृति विलीन हो रही है।

पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में अरिस्टोटल के तार्किक और बौद्धिक प्रभाव के कारण विश्लेषण ही प्रधान रहा। तर्क और बुद्धिवाद स्वयं निर्जीव नहीं हैं, तो जीवन का विश्लेषण करके उन्हें अवश्य निर्जीव बना देते हैं। विज्ञान के बुद्धिवाद का भी यही परिणाम है। बुद्धि और तर्क की यह गति जीवन के विपरीत है, क्योंकि जीवन का रूप संश्लेषण और समवाय है। इसीलिये तर्क और बुद्धि के प्रभाव में विकसित होने वाली पश्चिमी सभ्यता में संस्कृति तथा उसके अंगों का सम्बन्ध जीवन के विपरीत है। इसका आशय यह है कि संस्कृति के अंग संस्कृति के सामान्य रूप से जीवन के अंगों की भाँति संश्लिष्ट और समवेत नहीं अर्थात इसके विपरीत वे संस्कृति के सामान्य रूप से पृथक और स्वतन्त्र हैं। संस्कृति के अंग शरीर के अंगों की भाँति पूर्णतः पराधीन नहीं हैं। अतः संस्कृति के सामान्य रूप से पृथक होने पर भी वे पूर्णतः निर्जीव नहीं होते। उनमें अपनी स्वतन्त्र क्रिया की भी सम्भावना रहती है। इसी क्रिया पर इन अंगों का इतिहास और विकास निर्भर है। किन्तु इन अंगों के पृथक हो जाने पर संस्कृति का अस्तित्व और स्वरूप सुरक्षित रहना कठिन है। पश्चिमी परम्परा में जिसे संस्कृति कहा जाता है, उसमें संस्कृति का रूप खोज सकना कठिन है। उसमें बहुत कुछ तो सभ्यता के बाह्य रूप का विकास है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक सम्वेदना और विलास की कलामयी विधियों को भी संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है। धर्म, दर्शन, कला आदि के विविध रूपों को भी संस्कृति के अन्तर्गत गिना जाता है। ये संस्कृति के अंग अवश्य हैं, किन्तु इनका अपना रूप भी है। पश्चिमी परम्परा में ये सब पुष्प संस्कृति के वृन्त से

अलग हो गये और उनका पृथक विकास हुआ है। यह सम्भव है कि कहीं-कहीं इन अंगों पर संस्कृति का प्रभाव हो और कहीं संस्कृति इनसे प्रभावित हो। किन्तु अपने मुख्य रूप में यह अलग-अलग ही विकसित होते रहे हैं। इनमें प्रायः सभी पर अरिस्टोटल के पृथक-पृथक ग्रन्थ हैं। इन सबका पृथक इतिहास है। पश्चिमी मत में इन अंगों के पृथक और स्वतन्त्र विकास को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। बौद्धिक दृष्टि से यह ठीक है। बुद्धि का स्वभाव विश्लेषण है और उसके अनुसार विश्लेषण युक्त विधियाँ महत्वपूर्ण हैं। इस विश्लेषण से इन अंगों का विकास भले ही अधिक स्वतन्त्र रूप से होता हो, किन्तु संस्कृति के सजीव और पूर्ण रूप की समृद्धि इससे अवश्य नहीं होती। इस विश्लेषण का ही यह फल है कि विभिन्न प्रकार के रूपों के अतिशय की आराधना की परम्परा के अर्थ में पश्चिम में संस्कृति का इतना समृद्ध रूप नहीं मिलता, जितना कि भारतवर्ष में मिलता है। संस्कृति के स्वरूप में कला आदि अंगों का योग अवश्य रहता है, किन्तु संस्कृति की महिमा अपने स्वरूप की समृद्धि पर ही निर्भर है। संस्कृति मानव जीवन का सुन्दर और जीवन्त रूप है। उसी की आत्मा से अनुप्राणित होकर संस्कृति के अंग सजीव, स्वस्थ और सुन्दर बनते हैं। आधुनिक काल में इन अंगों का स्वतन्त्र विकास अधिक वेग से हुआ है। किन्तु संस्कृति की प्रेरणा से दूर हो जाने के कारण यह समस्त विकास सुन्दर और श्रेयोमय नहीं हुआ है। इन अंगों के स्वतन्त्र और अतिरंजित विकास को पिशाच के अंगों के अनर्गल विकास की भाँति विद्रूप भी कहा जा सकता है। संस्कृति से स्वतन्त्र अपने आप में इन अंगों का अनर्गल विकास वास्तव में कितना महत्वपूर्ण है, यह विचारणीय होने के साथ-साथ सन्दिग्ध भी है।

कला, साहित्य आदि की आधुनिक धाराओं पर तो पश्चिम का प्रभाव बहुत है, अतः आधुनिक युग में भारतवर्ष में भी इनका बहुत कुछ स्वतन्त्र विकास हुआ है। संस्कृति के वृन्त से अलग हो जाने के कारण इन अंगों में बहुत कुछ निर्जीवता आ गयी है, किन्तु प्राचीन भारतीय परम्परा में ये सभी अंग वृन्त में पुष्पों की भाँति संस्कृति से संश्लिष्ट और उसमें समवेत हैं। संस्कृति के वृन्त में गुम्फित होने के कारण ये सब

अंग उसकी आत्मा के रस से ओत-प्रोत हैं। अतः वे बहुत कुछ स्वच्छ, सुन्दर और श्रेयोमय हैं। भारतीय परम्परा में हम प्राचीन की ओर जितना अधिक बढ़ते हैं, उतना ही हमें संस्कृति के साथ इन अंगों का संश्लेष अधिक मिलता है। मनुष्य की बुद्धि ने भारतीय परम्परा में भी इनका विश्लेषण और स्वतंत्र विस्तार करने का प्रयत्न किया। किन्तु वह उतना सफल न हो सका, जितना कि पश्चिम में हुआ। इसका कारण यह है कि बुद्धि का यह व्यापार आरम्भ होने के पूर्व भारतवर्ष में संस्कृति के संस्कार और प्रभाव बहुत प्रबल थे। इस कारण इन सभी अंगों में संस्कृति की प्रेरणा और उसका प्रभाव प्रचुर रहा। भारतीय परम्परा के प्राचीनतम रूप में यह संश्लेषण इतना पूर्ण है, कि इन अंगों को पृथक कर सकना भी कठिन है। वेद भारतीय परम्परा के सबसे प्राचीन रूप हैं। उनमें भारतीय संस्कृति की प्राचीनतम परम्परा साक्षात् रूप में सुरक्षित है। भारतीय संस्कृति, साहित्य, काव्य, कला, दर्शन, इतिहास आदि सबका आरम्भ वेदों से माना जाता है। इसका कारण यही है कि वेदों में इन सबके सूत्र विद्यमान हैं। किन्तु वे इन सब अंगों के संकर अथवा समुदाय नहीं हैं। वस्तुतः वेद भारतीय संस्कृति के वाङ्मय रूप हैं। भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण आत्मा मानो वेद की वाणी में मुखरित हो उठी है। यह संस्कृति का सर्वांग सम्पन्न और समृद्ध रूप है। इसीलिये इसमें सभी अंगों के अंकुर और मुकुल मिलते हैं।

वेदों के बाद भी भारतीय परम्परा का जो विकास हुआ है, उसमें यद्यपि मनुष्य की बुद्धि ने संस्कृति के अंगों का पृथक-पृथक निरूपित और विकसित करने की चेष्टा की है। किन्तु संस्कृति की एक समृद्ध परम्परा से प्रसूत होने के कारण इनके स्वतन्त्र विकास में भी संस्कृति के संस्कारों का बहुत प्रभाव है। धर्म और दर्शन तो भारतीय परम्परा में इतने संश्लिष्ट रहे हैं, कि उन्हें पृथक करना कठिन है। कला और साहित्य में भी धर्म और दर्शन का प्रभाव है। धर्म में काव्य और कला तथा दर्शन के तत्व प्रचुर मात्रा में समवेत हैं और इन सब में संस्कृति की परम्पराओं और उसके संस्कारों का प्रभूत प्रभाव है। इस सब संश्लेष के

कारण संस्कृति के अंगों के विशुद्ध रूपों का निर्धारण और इस रूप में इनके विकास का निरूपण करना कठिन है। एक अंग में दूसरों का प्रसंग आता है और सब में संस्कृति के संस्कारों की छाया है। भारतीय परम्परा के पश्चिमी आलोचक इस संश्लेष और समवाय को दोष मानते हैं। यदि बुद्धि का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण ही अन्तिम सत्य है, तो निस्सन्देह यह दोष है। किन्तु बुद्धि जीवन का सम्पूर्ण सत्य नहीं है। बुद्धि के अतिरिक्त उसकी श्रेष्ठता और किसी को मान्य नहीं हो सकती। बुद्धि की श्रेष्ठता का प्रमाण और समर्थन केवल एक बौद्धिक सन्तोष है। सम्पूर्ण और साक्षात जीवन बुद्धि से अधिक व्यापक है। बुद्धि केवल उसका एक अंग है। जीवन और संस्कृति के साक्षात और सम्पूर्ण रूप में अंग स्वतन्त्र नहीं होते तथा न उनका अनर्गल विकास होता है। संस्कृति की समान आत्मा से अनुप्राणित होकर ये एक सीमित, किन्तु स्वस्थ और सुन्दर रूप में विकसित और संचालित होते हैं। भारतीय परम्परा में संस्कृति और उसके अंगों का जो संश्लिष्ट और समवेत विकास हुआ है, वह जीवन के अनुरूप है। वह संस्कृति अधिक जीवन्त और वे अंग अधिक सजीव हैं। कला, साहित्य, दर्शन आदि संस्कृति के अंगों में ही नहीं, वरन् पर्व, संस्कार, व्रत आदि भारतीय संस्कृति के अपने रूपों में भी यह समन्वय का सूत्र विद्यमान है। इसीलिये इन रूपों में भी एक का दूसरे में समवाय है। व्रतों की व्यक्तिगत और आध्यात्मिक साधना में पर्वों का सामाजिक उल्लास समवेत हो गया है। संस्कारों में पर्व और व्रत दोनों के स्वरूप का सामंजस्य है। इसी प्रकार तीर्थ यात्रा के रूप में भी पर्व और व्रत दोनों की आत्मा की प्रेरणा है।

भारतीय संस्कृति के इस समन्वय का रूप वैसा नहीं है, जैसा कि सामासिक संस्कृति के समर्थक मानते हैं। सामासिक संस्कृति का अभिप्राय यह है कि संस्कृति का रूप मौलिक और स्थिर नहीं होता, वरन् समय समय पर नयी धाराओं के योग से विकसित होता है। कुछ विद्वानों के मत में भारतीय संस्कृति इस अर्थ में सामासिक है, कि उसका कोई मौलिक और स्थिर रूप नहीं है। वह कई संस्कृतियों के योग से बनी है, जिस प्रकार कई पदों का योग से समास बनता है। समास कई प्रकार के होते

है। भिन्न-भिन्न समासों में जिन पदों का योग होता है, उनकी प्रधानता आदि का सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न होता है। सामासिक संस्कृति किस समास के अनुरूप है और इसमें संयुक्त होने वाली संस्कृति की धाराओं का गुण-प्रधान सम्बन्ध कैसा है, यह भी बताने की आवश्यकता है। संस्कृति केवल धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि का समुदाय नहीं है, उसका अपना मौलिक स्वरूप है। यह स्वरूप संस्कृति की आत्मा है, जिससे कला, साहित्य आदि सांस्कृतिक के अंग अनुप्राणित होते हैं। संस्कृति की सामासिकता को प्रमाणित करने के लिये केवल इन अंगों पर कुछ अंश में दूसरी संस्कृतियों का प्रभाव दिखा देना पर्याप्त नहीं है। इन संस्कृतियों के मौलिक रूपों को स्पष्ट करना और भारतीय संस्कृति की आत्मा पर इनके प्रभाव को भी बताना आवश्यक है। सभ्यता, बाहरी आचार, दार्शनिक सिद्धान्त आदि को संस्कृति मानने की भूल प्रायः होती है। इसी कारण संस्कृतियों के मिश्रण और समास की चर्चा होती है। रूपों के जिस अतिशय की आराधना की परम्परा संस्कृति का मूल आधार है, उसके सम्बन्ध में समास और विकास दिखाने पर ही सामासिक संस्कृति का पक्ष बल ग्रहण कर सकता है। भारतवर्ष में जिन जातियों का आगमन हुआ उनमें बहुत सी जातियाँ यहाँ के निवासियों में घुल-मिल गयीं। रूपों के कौन से अतिशय उनकी आराधना के अवलम्ब थे, आज इसका कोई चिन्ह शेष नहीं है। उन जातियों का पृथक अस्तित्व भी न रह सका। एक दो जातियाँ ही ऐसी हैं, जिनका पृथक अस्तित्व सुरक्षित रहा और उनमें संस्कृति के कुछ मौलिक रूप मिल सकते हैं। किन्तु इन रूपों का प्राचीन भारतीय संस्कृति के ऊपर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। इन एक दो जातियों के अतिरिक्त शेष भारतीय समाज में रूपों के जिन अतिशय की आराधना संस्कृति की परम्परा के रूप में आज भी वर्तमान है, उसका मूल सूत्र और आधार वैदिक तथा प्राचीनतम भारतीय संस्कृति में मिलता है। अनेक ऐतिहासिक परिवर्तनों की आँधियों में भी प्राचीन संस्कृति के ये रूप अक्षुण्ण बने रहे। इन रूपों में आज भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यद्यपि काल की आँधियों से इन रूपों की आराधना के मूल में प्रवाहित होने वाले रस-स्रोत अवश्य कुछ मन्द हो गये हैं। इसका कारण भी

किन्हीं अन्य संस्कृतियों का मिश्रण अथवा प्रभाव नहीं, वरन् युद्ध और वैज्ञानिक सभ्यता का सामान्य प्रभाव है। वैदिक और पौराणिक युग में रूपों के जो अतिशय भारतीय संस्कृति के मुख्य आधार थे, उनमें पिछले २-३ हजार वर्षों में कोई परिवर्तन अथवा कोई विकास नहीं हुआ है। वस्तुतः इन रूपों में विकास और परिवर्तन संस्कृति के स्वरूप के अनुरूप नहीं है। रूपों का परिवर्तन अथवा विकास कला का लक्षण है। किन्तु संस्कृति का स्वरूप ही चिरन्तन रूपों की आराधना है। प्रतीकों, रंगों, आकारों आदि के कुछ रूप ऐसे हो सकते हैं, जिनमें यदि परिवर्तन नहीं तो उनकी संख्या में कुछ वृद्धि अवश्य हो सकती है। क्योंकि इन रूपों में विकल्प और वृद्धि होने से कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता। किन्तु व्यवहार विधि, आचार आदि के रूप क्रियात्मक होने के कारण ऐसे होते हैं, कि इनमें परिवर्तन चाहे सम्भव हो, किन्तु मिश्रण सम्भव नहीं है। भारतीय संस्कृति में ये क्रियात्मक रूप चिरन्तन काल से तथावत् चले आ रहे हैं। इनमें न कोई परिवर्तन है और न इसकी संख्या में कोई वृद्धि है। अन्य रूपों में भी जो क्रियात्मक नहीं हैं कोई परिवर्तन अथवा वृद्धि नहीं है। जिन रूपों की आराधना अधिकांश भारतीय समाज में की जाती है, वे चिरन्तन काल से उसी रूप में चले आ रहे हैं। इस स्थिति को देखते हुये सामासिक संस्कृति का पक्ष अत्यन्त दुर्बल है। इस मत के पीछे एक मौलिक भ्रम संस्कृति की परिभाषा है। वस्तुतः जिन रूपों की आराधना में संस्कृति का आधार है, उनमें मिश्रण और समास नहीं होता। भारतीय संस्कृति के इतिहास में ऐसा हुआ भी नहीं है। इस मत के पीछे एक दूसरा भ्रम यह है कि समाज के वर्गों के अलग-अलग रहने पर और उनके बीच किसी प्रकार का निकट सम्पर्क न रहने पर भी संस्कृतियों के समास की कल्पना की जाती है। साहसपूर्ण होने के साथ-साथ यह कल्पना भ्रम पूर्ण भी है। इस कल्पना में यही भ्रम है कि समाज के वर्गों के सम्पर्क के बिना समान संस्कृति सम्भव नहीं है। संस्कृति समाज के एक वर्ग के द्वारा समान रूपों की आराधना है। समाज के जिन वर्गों में घनिष्ट सम्पर्क नहीं है और जो भिन्न-भिन्न रूपों की आराधना करते हैं, उनके बीच एक सामासिक संस्कृति की कल्पना दुःसाहस और भ्रम है। समाज

के जिन वर्गों को लेकर सामासिक संस्कृति का समर्थन किया जाता है, वे एक ही भूमि-भाग में रहते हैं और उनमें कुछ आर्थिक सम्बन्ध है, इसके अतिरिक्त उनके बीच कोई सामाजिक अथवा सांस्कृतिक सम्पर्क नहीं है। वे जिन रूपों की आराधना करते हैं, वे एक दूसरे से भिन्न ही नहीं, वरन् प्राय: एक दूसरे के विपरीत भी है। ऐसी स्थिति में उनकी संस्कृतियों का समास सम्भव नहीं है। यदि कोई समास सम्भव ही हो सकता है, तो वह 'द्वन्द्व समास' है, जिसमें दोनों पद प्रधान होते हैं। किन्तु द्वन्द्व समास में भी समान क्रिया में दोनों समस्त पदों का अन्वय होता है। जैसे 'राम-लक्ष्मण दोनों वन को जाते हैं' अथवा दोनों गुरु की वन्दना करते हैं। समाज के इन भिन्न वर्गों का इस प्रकार समान क्रिया के प्रसंग में अन्वय संस्कृति के क्षेत्र में सम्भव नहीं है। अत: वस्तुत: सामासिक संस्कृति की कल्पना केवल एक महान भ्रम है।

अस्तु भारतीय संस्कृति इस अर्थ में समन्वय मूलक है, कि संस्कृति के विभिन्न अंगों में उसकी आत्मा का वैभव व्याप्त है। धर्म, अध्यात्म, कला आदि अपने आप में विकासशील होते हुये भी संस्कृति के उदार अंचल में ही पले हैं और संस्कृति के रूप-संस्कारों को अपने इतिहास में संजोये हुये हैं। संस्कृति का शुद्ध और सामान्य रूप तो उन पर्वों में मिलता है, जिनमें धर्म अथवा अध्यात्म का कोई अर्न्तभाव नहीं। रक्षा-बन्धन, दीपावली और होली इन पर्वों के मुख्य उदाहरण हैं। किन्तु सांस्कृतिक सौन्दर्य की आभा के अंचल में अनेक आध्यात्मिक व्रत भी पर्वों के समान सामाजिक तथा सांस्कृतिक बन गये हैं। व्रतों के इस रूप में संस्कृति और अध्यात्म, सौन्दर्य और शान्ति का समन्वय है। तीर्थ यात्राएें मूलत: धार्मिक हैं। धर्म के पीठों के रूप में ही तीर्थों की स्थापना हुई। और इन तीर्थों की यात्रा धर्माचार का एक प्रमुख अंग है। पवित्रता की भावना धर्म का मूल मर्म है। परिचित जीवन के वातावरण से भिन्न और दूर प्रकृति के क्षेत्र में स्थित तीर्थ प्रकर्ष और नवीनता के साथ यह पवित्रता की भावना जाग्रत करते हैं। पर्वों और व्रतों का समृद्ध सौन्दर्य तो इन वन्य यात्राओं में समाहित नहीं हो सकता, फिर भी सांस्कृतिक सौन्दर्य के अनेक रूप तीर्थ-यात्राओं के धार्मिक अभियानों में भी सूक्ष्म सरल रूपों में

समन्वित है। अतः मुख्यतः धार्मिक होते हुये भी तीर्थ-यात्राएँ धार्मिक परिधि में रहते हुये भी सांस्कृतिक क्षितिजों का स्पर्श करती हैं। इन यात्राओं के धार्मिक पुण्य का फल पवित्र होने के साथ-साथ सांस्कृतिक सौन्दर्य से भी युक्त है।

जिस प्रकार व्रतों के समारोह में भी अध्यात्म का मर्म सुरक्षित है, उसी प्रकार तीर्थ यात्राओं के सामाजिक और सांस्कृतिक सौन्दर्य में भी धर्म का मूल भाव सुरक्षित है। तीर्थ यात्राओं का मुख्य रूप और उद्देश्य धार्मिक ही है। किन्तु भारतीय परम्परा में संस्कृति ही मनुष्य-सभ्यता की माता है और उसी के अंचल में धर्म, कला आदि सब पले हैं। अतः तीर्थ यात्राओं के वन भी सांस्कृतिक सौन्दर्य के पुष्पों से सुवासित हैं। फिर भी तीर्थों और उनकी यात्राओं का मर्म धर्म ही है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मूर्तियों और मन्दिरों के निर्माण में कला का सौन्दर्य केवल धर्म का अलंकार है। तीर्थों और उनकी यात्राओं के धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्षों के विवरण के पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है, कि इस धर्म का रूप धर्म के अन्य प्रचलित रूपों से भिन्न है। सामान्यतः धर्म का प्रयोग अंग्रेजी के रिलीजन के अर्थ में होता है। 'रिलीजन' एक पश्चिमी परम्परा का शब्द है। उसका प्रयोग ईसामसीह, मोहम्मद साहब आदि के द्वारा प्रवर्तित मतों के अर्थ में होता है। अलौकिक आस्था इन मतों का मूल आधार है। इस आस्था के तीन अवलम्ब हैं। एक पैगम्बर, जो धर्म का सन्देश लेकर विश्वदूत के रूप में पृथिवी पर आता है। दूसरा एक ग्रन्थ जिसमें वह ईश्वरीय सन्देश का संविधान करता है। तीसरा ईश्वर का एक विशेष रूप जिसका इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया गया है। इन तीन बातों को मानने पर ही एक मनुष्य इन मतों का अनुयायी बन सकता है। इनको न मानने पर उसके लिये इस धर्म के समाज में ही नहीं, इस भू-मंडल पर भी स्थान नहीं है। एक धर्म के अनुसार उसका कल्याण नहीं होगा, तो दूसरे धर्म के अनुसार वह मृत्यु का अधिकारी है। धर्म की यह धारणा मानवीय दृष्टि से विडम्बना और धार्मिक दृष्टि से संकीर्णता पर आश्रित है। विडम्बना का मूल कारण यह है। ईश्वर का दूत पृथिवी पुत्रों के लिये ईश्वर के समान पूज्य मान

जाता है। पुरुष होते हुये भी वह पुरुष विशेष है, जो स्वयंभूभाव से मनुष्यों का उद्धारक बन जाता है। यहाँ विषमता का विन्दु है। सन्देश वाहक और उद्धार कर्त्ता धर्म। प्रवर्तक अपनी आत्म-प्रमाणित श्रेष्ठता के द्वारा मानवीय समानता का खंडन करता है। वह ईश्वर का पुत्र होने के कारण हमारा वन्धु नहीं, वरन् हमारा नायक है। धार्मिक नायकत्व से ही समाज में राजनीतिक अधिनायकवाद उत्पन्न हुये हैं और समाज की समता तथा स्वतन्त्रता खंडित हुई है। इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है कि ईश्वर किसी एक पुरुष को अपना सन्देह वाहक वनाने का पक्षपात क्यों करता है। ईश्वर सर्व शक्तिमान है और सबके हृदय में व्यापक है। वह अपनी इच्छा मात्र से अनायास सब को सन्देश भेज सकता है। आत्मा के रूप में ईश्वर का अंश सब में विद्यमान है और सब की चेतना में ईश्वर के दिव्य सन्देश की शिखा दीप्त हो रही है। वेदान्त का यह अमृतसत्य धर्म का अन्ततंम मर्म है। ऊपर से किसी श्रेष्ठ देवदूत के यहाँ से आने वाला सन्देश हमारा कल्याण नहीं कर सकता। कल्याण करने वाला सन्देश तो हमारी आत्मा के प्रकाश के रूप में हमारे भीतर से ही उदित होगा। आत्मा के इस जागरण में किसी बन्धु का स्नेहपूर्ण भाव सहायक हो सकता है। किसी नायक की श्रेष्ठता का दर्प इस सम्बन्ध में हमारा हित नहीं कर सकता। जिन मतों के अनुयायियों में बन्धुभाव अधिक है, उनके भी मसीहा नायक ही हैं। वे समानता के भाव से सबके बन्धु नहीं। इसके विपरीत जो वेद भारतीय संस्कृति के आधार हैं, वे दिव्य सन्देश होते हुये भी किसी एक मसीहा के द्वारा नही आये हैं। वेदों के ऋषि अनेक हैं। धर्म के अलौकिकता के नाते इन वेदों को दिव्य सन्देश माना जाता है। किन्तु वस्तुतः वे लौकिक जीवन के ही सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रहस्यों के भाण्डार हैं। दूसरे इन वेदों के निर्माता ऋषि ईश्वर के पुत्र बनकर नही आये थे। वे हमारे पूर्वजों के बन्धु अर्थात् हमारे भी बन्धु थे। हम लोग उन्हीं ऋषियों की सन्तान हैं। हमारी गोत्र-परम्परा इसका प्रमाण है। बन्धु-भाव से ही इन ऋषियों ने वेद मंत्रों की रचना की है। वेद के अधिकांश मंत्रों में गायत्री मंत्र के समान उत्तम पुरुष के बहुवचन का प्रयोग मिलता है। बन्धुभाव की स्थिति और समानना की

भूमि में ही वेदों की रचना हुई है। समता और स्वतन्त्रता के कारण ही वेद ग्रन्थ दिव्य सन्देशों की भांति केवल एक सीमित धर्म के स्तम्भ नहीं बने, वरन् एक विशाल और समृद्ध संस्कृति के आधार हैं।

हो सकता है। वैदिक काल में शिक्षा और संस्कृति बहुत समृद्ध थी। वेदों की सामूहिक रचना इसका प्रमाण है। शिक्षितों के समाज में कोई नायक अथवा उपदेशक बनकर खड़ा नहीं हो सकता है। शिक्षा और संस्कृति की समृद्धि के कारण ही बुद्ध का धार्मिक अधिनायकवाद-भारतवर्ष में असफल हुआ। वेदों के मंत्रों और शाखाओं की विपुलता तथा उनकी सामूहिक रचना और यज्ञ के अवसरों पर उनका व्यावहारिक उपयोग वैदिक युग की शिक्षा के धरातल का संकेत करता है। आज राजनीतिक सत्ता और शक्ति के केन्द्रित होने के कारण शक्ति के संगठन के द्वारा राजनैतिक अधिनायकवाद सम्भव है। राजनीतिक अधिनायकवाद के प्रभाव से मानसिक अधिनायकवाद भी कुछ काल के लिये स्थापित किया जा सकता है। किन्तु मनुष्य की चेतना स्वरूप से ही स्वतन्त्र हैं। इसीलिये राजनीति और विचार दोनों के क्षेत्र में क्रान्तियाँ होती है। शक्ति के द्वारा कुछ समय के लिये किसी एक धारणा का आरोपण किया जा सकता है, किन्तु स्वरूप से मनुष्य-चेतना स्वतन्त्र है और वह स्वभाव से समानता की आकांक्षा करती है। शिक्षा के द्वारा चेतना सजग होती है। सजग चेतना के लिये विषमता असह्य होती है। इसीलिये आज की जाग्रत चेतना श्रेष्ठता से अधिक समानता में विश्वास रखती है। आज के युग में सत्ताधारी शासकों का प्रभुत्व कितना ही हो, किन्तु शिक्षित और सजग मानवीय चेतना अन्त:करण से श्रेष्ठता के प्रति सम्मान नहीं रखती। प्राचीनकाल से जो महापुरुष पूजे जाते रहे हैं, उनकी भी लोक मानस में आज उतनी प्रतिष्ठा नहीं है, जितनी कि पहले थी।

प्राचीनकाल में जिन धर्मों का प्रचार हुआ उनकी वास्तविक महत्ता समझने के लिये उन लोगों की शिक्षा और चेतना की स्थिति को भी देखना आवश्यक है, जिनके बीच इन धर्मों का प्रचार हुआ। धार्मिक अधिनायकवाद के आधार पर उपदेश और अधिकार के द्वारा जिन धर्मों का प्रचार हुआ, उन धर्मों से प्रभावित होने वाले लोग सम्भवत: शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से अधिक उन्नत नहीं थे। कदाचित् ऐतिहासिक दृष्टि से धर्म के इस रूप का आरम्भ महावीर और बुद्ध से हुआ। कुछ

लोगों का विश्वास है कि शंकराचार्य के विरोध के कारण बौद्धधर्म का भारतवर्ष से निर्वासन हुआ। कुछ लोग बौद्धधर्म के आन्तरिक पतन को भी इसका कारण मानते हैं। इन दोनों ही मतों में कुछ सत्य हो सकता है, किन्तु इससे अधिक महत्वपूर्ण सत्य यह है कि सम्भवत: बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज के अधिक शिक्षित और सचेतन वर्ग को बहुत प्रभावित नहीं किया। समानता के आकांक्षी होने के कारण शिक्षा में उन्नत समाज धर्म में भी उपदेश की विषमता को अंगीकार नहीं करता। वैदिक संस्कृति में समाज के एक वर्ग को शिक्षा से वंचित करके इस योग्य बना दिया था कि वह धार्मिक उपदेश के अधिनायकवाद से प्रभावित हो सकता था। जाति-पाँति का खण्डन करके बुद्ध ने इन्हें अपनी ओर आकर्षित किया। अहिंसा के अतिरिक्त बुद्ध धर्म के अन्य गहन सिद्धान्त इनके समझने योग्य न थे। अहिंसा इनके स्वभाव के अनुकूल न थी। लोक-भाषा में होने के कारण बुद्ध के कुछ आचार-सम्बन्धी उपदेश वे समझ सकते थे, किन्तु ईश्वर आदि का अवलम्ब न होने के कारण बौद्धधर्म में इनकी आस्था को उपयुक्त आधार न मिल सका। भारतवर्ष के शिक्षित समाज में अधिक आदर न पाने के कारण बौद्धधर्म की जड़ें भारतवर्ष में न जम सकीं। जो लोग इससे प्रभावित हुये, वे ऐसे उदात्त धर्म का संरक्षण करने योग्य नहीं थे। यही बौद्धधर्म के भारतवर्ष से निर्वासन का मुख्य कारण था, अन्यथा जो बौद्धधर्म के पतन के कारण बतलाये जाते हैं, उन्हीं कारणों के विद्यमान होते हुये भी वैदिक परम्परा के धर्म भारतवर्ष से निर्वासित नहीं हुये और न देश में इनकी परम्परा उच्छिन्न हुई। बौद्धधर्म का प्रचार भारत के अशिक्षित समाज के अतिरिक्त जिन देशों में हुआ, उनमें भी उस समय शिक्षा की अधिक उन्नति नहीं थी और न उन देशों की संस्कृति ही अधिक सम्पन्न थी। इसका प्रमाण यह है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में इन देशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ था। इस प्रचार के लिये बुद्ध के परवर्ती धर्मों की भाँति कोई संगठित अभियान नहीं किया गया था। संगठन और अभियान दोनों ही भारतीय संस्कृति की आत्मा के अनुकूल नहीं हैं। जनता के अधिक शिक्षित न होने के कारण ये देश भारतीय संस्कृति की रक्षा और उसका निर्वाह न कर सके।

इसी कारण इनमें कुछ देशों में बुद्धधर्म का प्रभाव बना रहा और इसी कारण कुछ देशों में इस्लाम धर्म का प्रभाव छा गया।

यह पूर्व एशिया के देशों की कथा है। इसी प्रकार पश्चिम एशिया में भी जनता में शिक्षा की उन्नति न होने के कारण ही भारतीय शैव-संस्कृति का निर्वाह न हो सका, जिस का प्रचार मैसोपोटामियाँ तक था। इसी कारण फिर पश्चिम एशिया में पूर्व एशिया की भाँति बौद्धधर्म का प्रचार हुआ और अन्त में इस्लाम धर्म का प्रभाव छा गया। प्राचीनतम काल में शिक्षा का जनता में व्यापक प्रचार होने के कारण भारतवर्ष में वैदिक धर्म सुरक्षित रहा और अनेक विदेशी आक्रमणों, विदेशी शासनों, अत्याचारों और कूटनीतियों के द्वारा भी भारतीय समाज के शिक्षित और श्रेष्ठ वर्ग में विदेशी धर्मों का प्रचार न हो सका। विवश होकर जिन्हें कोई धर्म स्वीकार करना पड़ा, उसमें परिस्थिति ही शोचनीय है, इन धर्मों का कोई श्रेय नहीं। प्राचीनकाल में मौखिक होते हुये भी शिक्षा की जितनी उन्नति भारतवर्ष में थी, उतनी कदाचित् कहीं नहीं थी। इसका सबसे प्रमुख प्रमाण वेदों की रचना और वैदिक धर्म का रूप हैं। वेद अन्य धर्म-ग्रन्थों की भाँति किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है। उनकी रचना में अनेक ऋषियों की प्रतिभा का योग है। इनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं। इससे वैदिक काल में विद्या की उन्नति का एक और प्रमाण मिलता है, जो अत्यन्त महत्व पूर्ण है, क्योंकि स्त्रियों की शिक्षा समाज की उन्नति का एक प्रमुख माप दंड है। वैदिक साहित्य का विस्तार अपार है। उसकी रचना के प्रसंग में अनेक ऋषियों के नाम लिये जाते हैं, किन्तु वस्तुतः ये ऋषि समस्त मंत्रों के प्रणेता नहीं हैं। अन्य मंत्रों के ये ऋषिगायक संरक्षक और संकलनकर्त्ता हैं। इन ऋषियों की कुछ परम्परा में मंत्रों की रचना हुई। वैदिक मंत्र एक प्रकार के लोकगीत हैं, जो सामूहिक जीवन में समात्मभाव की स्थितियों में न जाने किन प्रेरणाओं और किन प्रतिभाओं के द्वारा रचे गये तथा सामाजिक जीवन की सांस्कृतिक परम्पराओं में सुरक्षित रहे। इतना विशाल और श्रेष्ठ लोक-साहित्य तथा उसके अध्ययन और अध्यापन का इतना प्रचार उस युग में विद्या की उन्नति और समाज में उसके विस्तार को प्रमाणित

करता है। इतनी उत्कृष्ट भाषा, भावपूर्ण काव्य शैली तथा इतने श्रेष्ठ संगीत के साथ वैदिक साहित्य का विस्तृत प्रचार जन-समाज में विद्या और संस्कृति की विपुल उन्नति का द्योतक है। वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में प्रचार की चर्चा कहीं नहीं है। केवल अध्ययन और अध्यापन की चर्चा है। प्रचार और उपदेश उन लोगों में ही किया जाता है, जो स्वय अध्ययन नहीं कर सकते। अध्ययन और अध्यापन की परम्परायें एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। भारतीय समाज में तीनों वर्णों में वेदों के अध्ययन का पर्याप्त प्रचार था। विद्या के विस्तार के लिये अध्यापकों के एक विशाल वर्ग का निर्माण हुआ था। विद्या का विस्तार करने वाला ऐसा विशाल वर्ग प्राचीन समाजों में कहीं नहीं था। ब्राह्मणों का एक विशाल वर्ग जिसके जीवन का सम्पूर्ण धर्म विद्या का अध्ययन और अध्यापन था, उस प्राचीन युग में विद्या के विपुल विस्तार और उसकी विशेष उन्नति का द्योतक है। प्राचीनकाल में विद्या का ऐसा विस्तार किसी भी देश में नहीं था। जिन देशों में वैदिक धर्म का प्रचार हुआ, उनमें विद्या की समुचित उन्नति न होने के कारण वह सुरक्षित न रह सका'। वैदिक युग में जो ब्राह्मण वर्ग और पुरोहित वर्ग की बात कही जाती है, उसके सम्बन्ध में इस बात की ओर कभी ध्यान नहीं दिया गया, कि ब्राह्मण काल में चाहे यह वर्ग जीविका के लिये अधिक श्रम न करता था, किन्तु साधारण आर्थिक स्थिति में विद्या और संस्कृति की समृद्धि और उसके संरक्षण के लिये सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर देने वाला इतना विशाल वर्ग कभी भी किसी देश में नहीं रहा। आज विद्या के व्यवसायी अध्यापक ही अधिक हैं। संस्कृति का व्यवसाय भी सम्भव नहीं है। इसी-लिये आधुनिक युग में संस्कृति मरणोन्मुख हो रही है। प्राचीनतम वैदिक काल में विद्या और संस्कृति किसी भी वर्ग का एकाधिपत्य न थी, वह सम्पूर्ण समाज की विभूति थी। ऐसी ही स्थिति में वैदिक साहित्य और संस्कृति का निर्माण हुआ था। किन्तु विद्या और संस्कृति की साधना एक तप है, जिसे समस्त समाज त्याग और संयम की भावना से ही पालन कर सकता है। कुछ मनुष्य के स्वभाव से तथा कुछ धर्म और अधिकार के बढ़ते हुये आकर्षण ने क्षत्रियों और वैश्यों को विद्या की ओर से

विमुख बनाया। कृषि, व्यापार और शासन का विस्तार भी अपने प्राकृतिक आकर्षण से बाधक बना। इसका परिणाम यह हुआ कि क्षत्रिय और वैश्य विद्या से विरत हो गये, तथा केवल ब्राह्मणों पर ही उसका भार रह गया। इस स्थिति के कारण वैदिक युग के बाद धीरे २ विद्या का ह्रास होता गया। किन्तु वैदिक धर्म का विकास विद्या के विस्तार और उसकी उन्नति की अवस्था में हुआ था। अतः वह एक शिक्षित और स्वतन्त्र समाज के लिये सबसे उपयुक्त धर्म है। शिक्षित समाज समानता का सौन्दर्य और स्वतन्त्रता की प्रेरणा चाहता हैं। उपदेश और नायकत्व को वह अन्तः करण से मान नहीं देता, इसीलिये वर्तमान युग में शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ राजनीति में भी जनतन्त्र का विकास हो रहा है, और अधिनायकवादी धर्मों के मूल जर्जर हो रहे हैं। प्राचीन काल में किसी भी अशिक्षित समाज में किसी भी अधिनायकवादी धर्म ने अपना प्रचार कर लिया। किन्तु आज इन धर्मों के प्रचार का सिद्धान्त व्यर्थ और असत्य हो रहा हैं। कोई भी शिक्षित समाज किसी भी दूसरे धर्म को अपनाने के लिये उद्यत नहीं है। अपने धर्म के प्रति भी उसकी आस्था अधिक दृढ़ न रह सकेगी, यदि वह धर्म स्वतन्त्रता और समानता की भावना के अनुकूल नहीं है।

प्राचीन काल में अधिनायकवादी धर्मों का प्रचार जिन देशों में हुआ उनमें भी उस समय शिक्षा की अधिक उन्नति नहीं थी। जिन भाषाओं में इन धर्मों के मूल ग्रन्थ लिखे गये हैं, उन भाषाओं में इन ग्रन्थों के पूर्व का कोई विशेष साहित्य नहीं मिलता। इन ग्रन्थों के निकट उत्तर काल का साहित्य भी अधिक नहीं है। इससे यही प्रमाणित होता है, कि उन युगों में इन देशों में विद्या की अधिक उन्नति नहीं थी। वेदों के समान विशाल और सार्वजनिक साहित्य तो प्राचीन काल में कहीं भी नहीं था। धर्म ग्रन्थों के पूर्व की कोई व्यक्तिगत रचनायें भी नहीं मिलती। यद्यपि व्यक्तिगत प्रतिभा भी सार्वजनिक शिक्षा की मन्दता की परिस्थिति में ही प्रकाशित होती है, इन धर्म ग्रन्थों का उपदेश अथवा आदेश के रूप में होना भी इस बात का संकेत करता है कि उन देशों में भी शिक्षा विकसित नहीं थी। अशिक्षितों को उपदेश ही दिया जा सकता है और

अशिक्षित ही उपदेश सुन सकते हैं। इन समाजों में धर्म ग्रन्थों के अध्ययन और अध्यापन का प्रचार भी वेदों के समान शिक्षा के रूप में नहीं था, वरन् उपदेश के रूप में था। धार्मिक अधिनायकों के अतिरिक्त वैदिक आचार्यों के समान स्वतन्त्र अध्यापक इन परम्पराओं में बहुत कम मिलते हैं। अधिनायकत्व में मनुष्य का अहंकार पूर्ण होता है। अतः उसमें एक स्वाभाविक आकर्षण है। इसी आकर्षण के आधार पर इन धर्मों की परम्परा चलती रही। अशिक्षा और अधिनायकवाद के कारण इन देशों में प्राचीनकाल में विद्या और विज्ञान का अधिक विकास नहीं हो सका। इसी कारण इन देशों में शासन भी धार्मिक रहा। धार्मिक शासन धार्मिक राजनैतिक अधिनायकवाद का समन्वय है। रोम के पोप और बगदाद के खलीफा तथा तिब्बत के लामा के शासन इसके उदाहरण हैं। भारतवर्ष में धर्माचार्यों के राज्य का कोई उदाहरण नहीं मिलता। धार्मिक शासन के अन्ध विश्वास, अत्याचार और उनकी विद्या विरोधिनी नीति इस बात की प्रमाण है कि वह कुछ शिक्षितों के अधिकार प्रेम के द्वारा अशिक्षितों में ही अधिक चलता रहा, और उन्हें अशिक्षित बनाये रहा। पश्चिमी देशों में इस धार्मिक शासक के छिन्न हो जाने पर ही विद्या और विज्ञान का प्रचार हुआ।

विद्या के साथ-साथ इन देशों की संस्कृति भी अधिक विकसित न हो सकी। अधिनायकवादी धर्मों के प्रचार के पूर्व इन देशों में संस्कृति का कैसा रूप था और वह कितनी विकसित थी, इसका कोई प्रमाण इतिहास अथवा परम्परा के रूप में नहीं मिलता। पश्चिमी देशों की सांस्कृतिक दीनता इस बात का संकेत करती है, कि इन देशों में प्राचीनकाल में कोई विकसित संस्कृति नहीं थी। इसी कारण कोई सांस्कृतिक धरोहर परम्परा के रूप में इन देशों को नहीं मिल सकी। सांस्कृतिक रूपों और भावों का ऐसा सम्पन्न और समृद्ध रूप इन देशों में नहीं मिलता जैसा कि भारतवर्ष में मिलता है। शिक्षा की मन्दता के अतिरिक्त सांस्कृतिक दीनता भी इसका कारण थी, कि इन देशों में अधिनायकवादी धर्मों का प्रचार हो सका। इन देशों की सांस्कृतिक दीनता का एक प्रमाण और है; वह धर्म के प्रभुत्व के रूप में मिलता है। इन देशों में जीवन के

सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी धर्म का आधिपत्य है। विवाह भी चर्च में धर्माचार्य के द्वारा अनुष्ठित होता है। इसके विपरीत भारतवर्ष में शिक्षा के समान ही संस्कृति भी इतनी समृद्ध थी कि पश्चिमी देशों के समान धर्म का पृथक अस्तित्व और आधिपत्य नहीं है। धर्म संस्कृति के अंचल में पलता रहा है, वह संस्कृति का शासक नहीं, वरन् सहचर अथवा सहयोगी है।

अध्याय–७

मेलों का महत्व

अध्याय—७

मेलों का महत्व

भारतीय संस्कृति अत्यन्त विस्तृत है। यह आध्यात्मिकता के साथ साथ यथार्थवादी भी है। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता दार्शनिक सिद्धान्त की भाँति एक-पक्षीय और काल्पनिक नहीं है। शुद्ध आध्यात्मिकता सामान्य और मानवीय होने पर भी स्वार्थमूलक और कठोरतावादी बन जाती है। भारतीय संस्कृति की अध्यात्मवादी प्रवृत्ति स्वार्थमूलक या अहंवादी नहीं, वरन् सामाजिक है। इसका अनुभव व्यक्तिगत अनुभव में नहीं, अपितु सामाजिक और सांस्कृतिक रूप में होता है, जो इसे मानवीय रूप प्रदान करता है। यह सैद्धान्तिक रूप से ही मानवीय नहीं है, वरन् वास्तविक एवं सामाजिक रूप से भी मानवीय है। कठोरता व्यावहारिक जीवन के अधिक अनुकूल नहीं है। अतः भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता जगत का निषेध नहीं करती। भारतीय संस्कृति का एक कठोरतावादी तत्व 'उपवास' में देखा जा सकता है। 'उपवास' की कठोरता व्यक्तिगत अनुशासन तथा सामाजिक कल्याण के लिए है, क्योंकि यह इन्द्रियों के संयम तथा आर्थिक संयम पर आधारित है। उपवासों का अनुशासन यद्यपि सामयिक है, परन्तु यह जीवन के आनन्द और मानवता को परिवर्धित करता है, जो भारतीय संस्कृति के अन्य रूपों में परिलक्षित होते हैं, जैसे उत्सव, संस्कार, मेले आदि। सामान्य मूल्यों की मान्यता भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता को व्यापक और यथार्थवादी बनाती है। इस व्यापकता के कारण यह सामान्य एवं भौतिक मूल्यों के अनुकूल बनती है। यह व्यापकता भारतीय संस्कृति के समस्त रूपों में दृष्टिगत होती है। ये विविध रूप सामाजिक सम्बन्धों का नियमन करते हैं, जो संस्कृति के आध्यात्मिक मूल्यों सौन्दर्य, शिव और आनन्द से जीवन को सम्बद्ध करते हैं। भारतीय संस्कृति का यह रूप जीवन की प्राकृतिक इच्छाओं तथा दैनिक आवश्यकताओं का भी समावेश कर लेता है।

उपवास का 'कठोरतावाद' भी इस 'स्वरूप' से रहित नहीं है। इस प्रकार आत्मा का प्राकृतिक मूल्य और भौतिक मूल्यों से समन्वय भारतीय संस्कृति की व्यापकता और यथार्थवादिता को मानवतावाद के अनुकूल बनाता है।

भारतीय संस्कृति का यह स्वरूप विविध रूपों में दृष्टिगत होता है, परन्तु 'मेलों' के रूप में यह सर्वाधिक व्यावहारिक और यथार्थवादी रूप में पाया जाता है। मेले स्पष्टरूप से आर्थिक हैं। मेलों का 'अर्थशास्त्र' या आर्थिकता अप्रत्यक्ष नहीं वरन् प्रकट तथा स्पष्ट है। यह किसी अप्रत्याशित सांस्कृतिक या धार्मिक रूप में नहीं, वरन् नितान्त व्यावहारिक रूप में देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति मौलिक रूप से कलात्मक है। अतः इसमें उस रूप की अधिकता है, जो जीवन की सामान्य वास्तविकता को सौन्दर्य से संयुक्त करती है। कला 'अभिव्यक्ति' में प्रकट होती है। परन्तु यह कहा जाता है कि सर्वश्रेष्ठ कला वह है, जो अपने आप को छिपाती है। कला का यह स्वरूप धोखा नहीं है, यह तो एक ऐसी अप्रत्यक्षता है, जो जीवन की अप्रत्यक्षता के दोष को दूर करती है। अभिव्यक्ति का कलात्मक रूप भारतीय संस्कृति के समस्त रूपों को सौन्दर्य से संयुक्त करता है। यह कई अंगों में उनमें विद्यमान रहता है। सामान्य मूल्यों का रूप और अभिव्यक्ति की अप्रत्यक्षता मेलों में सर्वाधिक है।

कला नवीन रूपों की रचना है। कला-कृतियाँ व्यक्तिगत रचनाएं होती हैं। अतः वे अभिजात संस्कृति का अंग बनती हैं। मेले तथा मेलों के समान ही पर्व, संस्कार आदि साक्षात् जीवन के रचनात्मक रूप हैं। इनमें साक्षात् जीवन को नव-नव और सुन्दर रूप दिये जाते हैं। इन रूपों की रचना कोई एक व्यक्ति नहीं करता। अनेक व्यक्तियों के द्वारा एक सामाजिक संकल्प और सहयोग से इन रूपों की रचना होती है। सामाजिक रचना होने के कारण ये जीवन्त लोक-संस्कृति के अंग बनते हैं। इनमें कला-रूपों के साथ जीवन के तत्वों का समन्वय नहीं वरन् साक्षात् जीवन में रूप-सौन्दर्य का समन्वय किया जाता है। जीवन के ये रूप सौन्दर्य से युक्त होकर जीवन्त संस्कृति के पर्व बनते हैं। भारतीय संस्कृति के व्यापक और सामान्य निमित्त हैं। पर्वों और संस्कारों के

जीवन्त संस्कृति के पारिवारिक एवं सामाजिक रूप साकार होते हैं। इनमें आर्थिक एवं भौतिक पक्ष अन्तर्निहित रहते है। किन्तु मेला अधिक स्पष्ट रूप से आर्थिक होता है। क्रय-विक्रय का व्यवसाय इसका मुख्य अंग है। स्वतन्त्र और सहकारी दोनों ही रूपों में मेले होते है। साप्ताहिक मेले प्राय: स्वतन्त्र होते हैं। वे मुख्यत: आर्थिक होते है। अत: उन्हें पैंठ या हाट कहा जाता है। अधिकांश मेले तीर्थ, पर्व आदि के अवसर पर होते हैं। उनमें धार्मिक और आर्थिक तत्व का अद्‌भुत संगम रहता हे।

किन्तु सभी मेलों का आर्थिक पक्ष स्पष्ट है। वे भारतीय लोक-संस्कृति के आर्थिक उत्सव हैं, जिस प्रकार पर्व, संस्कार आदि धार्मिक उत्सव है। मेलों में वस्तुओं के क्रय-विक्रय की विशेष व्यवस्था होती है। यह व्यवस्था ग्रामीण जनों की आवश्यकता-पूर्ति के साथ-साथ कुछ सांस्कृतिक लक्ष्यों को भी पूर्ण करती है। यात्रा, भ्रमण, सामाजिक वातावरण, नवीनता, उल्लास, अनुषंग आदि इन लक्ष्यों में उल्लेखनीय है। मेलों में जाना दैनिक गति में एक नवीनता ला देता है। मेलों का सामाजिक वातावरण विशाल समूह से मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित कर उसके अस्तित्व को सम्पन्न बनाता है। ग्रामों के एकान्त में रहने वाले लोगों के लिये इसका महत्व अधिक था। नागरिकों का अकेलापन भी इसमें आश्रय पाता है। यद्यपि मेले की सामूहिकता निर्वैयक्तिक होती है, फिर भी वह मनुष्य के अस्तित्व को बल देती है। संस्कारों की सामाजिकता व्यक्तिगत, पारस्परिक, घनिष्ठ और सीमित होती है। पर्वों में वह अधिक विस्तृत हो जाती है। मेलों में वह बहुत विस्तृत किन्तु निर्वैयक्तिक हो जाती है। सामाजिकता का यह तीसरा रूप भी अपना महत्व रखता है। यह सामाजिकता की विमाओं को पूर्ण करता है।

स्थान, निमित्त, समय आदि के नये-नये सन्दर्भ मेलों को नवीनता का सौन्दर्य देते हैं। घर से बाहर जाने के नये-नये अवसर जीवन में नया उल्लास भरते है। स्थायी बाजार से रोज चीजें खरीदने में यह उल्लास नहीं आ सकता। मेले के स्थान, काल, संग-साथ आदि के नये नये सन्दर्भ खरीदी हुई वस्तुओं को विशेष अनुषंगों का सौन्दर्य प्रदान करते हैं, जो स्थानीय बाजार से खरीदी हुई वस्तुओं में नहीं मिल सकता।

इन प्रसंगों और अनुषंगों के द्वारा मेले जीवन के आर्थिक और भौतिक पक्ष को सांस्कृतिक बनाते हैं। अधिकांश मेलों का सम्बन्ध तीर्थों तथा स्नान पर्वों से है। ये मेले अर्थ में धर्म का भी समन्वय करते है। धर्म और संस्कृति से जीवन का उन्नयन ही भारतीय परम्परा का अभीष्ट है। मेले इसकी पूर्ति में बड़ा योग देते हैं। मनोरंजन के साधन मेलों के आनन्द को बढ़ाते हैं।

पर्वों की भाँति मेलों में भी बालकों और स्त्रियों को आनन्द-विहार का एक अनुपम अवसर मिलता है। प्रत्येक मेला उनके लिये आनन्द का एक नवीन अभियान बन जाता है। बालकों और स्त्रियों के जीवन में नया उल्लास भरना लोक-संस्कृति का प्रमुख उद्देश्य है। इस उद्देश्य की उपेक्षा करके प्रौढ़ पुरुषों की नियमित चर्या से शासित जीवन की व्यवस्था सभी के लिये नीरस बन रही है। भारतीय जीवन्त संस्कृति के पर्व इस नीरसता को दूर करके सभी के लिये आनन्द के उत्स खोलते हैं। मेलों की सक्रियता, सामाजिकता, आर्थिकता आदि इस आनन्द को सुलभ एवं यथार्थवादी बनाती है।

रूपों और आकारों की विभिन्नता भारतीय संस्कृति की महान् विशेषता है। यह विशेषता 'मेलों' में भी दृष्टिगत होती है। मेले केवल संख्या में ही अनेक नहीं हैं, वरन् 'प्रकार' में भी अलग-अलग हैं। मेलों के इन प्रकारों का निर्धारण मेलों के उद्देश्य, समय, स्थान, कार्यकाल, आयाम आदि के द्वारा होता है। कुछ ग्राम्य मेले या धार्मिक स्थान या पूजा आदि एक दिवसीय होते हैं। कुछ मेले सप्ताह या मास के लिए होते हैं। ऐसे लम्बे मेले 'दशहरा' में आयोजित होते है, जो एक या दो सप्ताह तक चलते हैं। कुछ मेले तीर्थ स्थलों से सम्बद्ध होते हैं। कुछ मेले 'देवी' पूजा से सम्बद्ध होते हैं, जो नौ दिन तक 'नवरात्र' के रूप में आयोजित किये जाते हैं। कुछ विशेष अवसरों पर पवित्र नदियों के किनारे मेले लगते हैं जैसे 'मकर संक्रान्ति' और 'कुम्भ'। ग्रामीण व्यक्तियों के अवकाश काल 'कार्तिक' मास में नदियों के किनारे मेले लगते है। प्रयाग के माघ मेले की भाँति कुछ मेले पूरे एक माह तक चलते है। लम्बे मेले वर्ष में एक बार शुभ मुहूर्त में लगते है, जैसे सोमवती अमावस्या पर। कुछ मेले तो तीन, छः या बारह वर्ष में एक ही बार लगते है।

संयम और कार्यकाल की विभिन्नता मेलों की योजना व स्वरूप में विभिन्नता पैदा कर देती है। एक दिवसीय कुछ मेले स्थानीय लोगों के लिए ही लगते हैं। परन्तु कुछ एक दिवसीय मेलों में सम्पूर्ण देश के दूर-दूर से आने वाले व्यक्ति भाग लेते हैं। छोटे मेलों का सौन्दर्य उनकी स्थानीयता में निहित है। बड़े मेलों का सौन्दर्य 'अपरिचितों की भीड़' में निहित है। बड़े और दूरस्थ मेले धार्मिक ही होते हैं। आर्थिक कारण की अपेक्षा इनका धार्मिक कारण लोगों को अधिक आकर्षित करता है। कुछ मेले अत्यन्त एकान्त या जंगल के स्थान में आयोजित होते हैं, जैसे करौली की कैलादेवी का मेला या गंगा का ककोरा मेला।

उद्देश्यों की विभिन्नता भी मेलों के स्वरूप में अन्तर ला देती है। साप्ताहिक मेलों में सामयिक व दैनिक उपयोग की वस्तुयें बिकती है। चूँकि इन मेलों में मुख्य दर्शक 'महिलायें' होती है, अतः स्त्रियों के आभूषण तथा घरेलू उपयोगी की वस्तुयें भी मेलों में आती हैं। महिलाओं का घरेलू जीवन नीरस और चार दीवारी में सीमित होता है। अतः मेलों में वे प्रसन्नता का अनुभव करती हैं। इन मेलों के आर्थिक लक्ष्य उतना नहीं होता, जितना मनोरंजन और प्रसन्नता का होता है। कुछ 'पशु मेले' भी आयोजित होते हैं। ग्राम्य जीवन की मुख्य आवश्यकता पशु है। ये मेले प्रायः दशहरा पर या कार्तिक और मार्गशीष (अगहन) में लगते हैं, जो ग्रामीणों के लिए अवकाश-काल है। पशुओं के अतिरिक्त इन मेलों में गाड़ियाँ भी बिकती हैं।

साप्ताहिक व्यापार-मेले

मेलों में साप्ताहिक व्यापारीय-मेले सर्वाधिक प्रचलित हैं। इनका मुख्य उद्देश्य आर्थिक और व्यापारीय है। ये ग्रामीण वस्तुओं और कृषि-पदार्थों से अधिक सम्बद्ध होते हैं। विलास की वस्तुयें इनमें कदाचित् ही मिलती हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता हैं कि ये मेले प्राचीन काल में 'वस्तु विनिमय' और 'ग्राम्य आवश्यकताओं' पर ही आधारित रहे होंगे। 'परम्परागत स्वरूप' और रूप की अधिकता इन मेलों के सांस्कृतिक महत्व की द्योतक है। इनमें हल्की, दैनिक उपयोग की व ग्राम्य वस्तुयें अधिक

मिलती हैं। ये अस्थाई मेले होते हैं। इनका सौन्दर्य व हर्ष इनके उत्साह में निहित रहता है।

इनका महत्व 'परिवर्तन' में निहित है, जो दैनिक जीवन की नीरसता को दूर कर देता है। यह 'परिवर्तन' सांस्कृतिक सौन्दर्य और आनन्द के द्वारा स्फूर्ति प्रदान करता है। इसी कारण ये मेले जयपुर और कोटा जैसे बड़े शहरों में भी प्रचलित है। राजस्थान व उत्तर प्रदेश में जहां खरीददारी का कार्य मुख्यत: पुरुषों के द्वारा ही किया जाता है। ये मेले महिलाओं और बच्चों के लिये उचित आनन्द का अवसर प्रदान करते है। अत: सांस्कृतिक और उपयोगितावादी पक्ष के अतिरिक्त ये अस्थाई मेले आनन्द के केन्द्र भी है।

साप्ताहिक मेले हर सातवें दिन लगते है। यह सौभाग्य की बात है कि गृह भी सात हैं तथा ईश्वर ने सृष्टि की रचना भी सात दिन में ही की थी। 'सात' की विषम संख्या भी महत्वपूर्ण है। अस्थाई मेलों की भीड़ व शोरगुल गांव के एकान्त और नीरस वातावरण में नया आनन्द ला देती है। प्रकृति और भौतिक जीवन की निकटता भारतीय संस्कृति की विशेषता है। विकसित सभ्यता में आवश्यकताओं की पूर्ति अन्य आर्थिक उपायों से की जा सकती है, पर इस से सांस्कृतिक महत्व न्यून हो जायेगा।

धार्मिक मेले

धार्मिक मेले भी साप्ताहिक व्यापारीय मेलों से केवल इतनी समानता रखते है कि उनमे भी वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। सामान्य वस्तुओं के बाजार में होने पर भी इनके वातावरण का महत्व अत्यधिक होता है। 'रोमान्स' का उत्साह भी नया रूप प्रदान करता है। धार्मिक मेलों का सम्बन्ध धार्मिक तीर्थ स्थानों और धार्मिक कृत्यों, स्नान और पूजा से सम्बन्ध होने के कारण बढ़ जाता है। इनमें से अनेक मेले नदी के किनारों पर ही लगते है। इनके सम्बन्ध तीर्थ स्थानों से ही अधिक है। ये धर्म स्थल देश के प्रत्येक भाग में है। अत: प्राचीनकाल में ये धर्म यात्रायें एक प्रकार के 'साहस' का प्रमाण थीं, जब कि यातायात के

साधन बहुत कम थे। लोग पैदल यात्रा ही अधिक करते थे। धर्म में रुचि होने के कारण लोग सामूहिक यात्रा अधिक करते थे। समूह के समूह स्त्री-पुरुष कई-कई सप्ताहों में लम्बा रास्ता बड़ी हँसी-खुशी और मेले के उत्साह में भजन गाकर निकाल देते थे। उन्हें किसी भी प्रकार का मानसिक वा शारीरिक कष्ट अनुभव नहीं होता था। इन धार्मिक मेलों में साप्ताहिक व्यापारीय मेलों से जनसमूह में साहस और उद्यम अधिक परिलक्षित होता है।

धार्मिक मेलों में एक धार्मिक स्वरूप विद्यमान रहता है। स्थानीय धार्मिक मेलों का आयोजन एक दिन के लिए ही किसी मन्दिर या नदी के तट पर होता है। इनमें कोई व्यापारीय चाजें नहीं बिकतीं। इनमें अधिकतर खाद्य पदार्थ, खिलौने तथा पूजा की सामग्री आदि ही मिलती हैं। भारतीय धर्म में महिलाओं की ही आस्था अधिक है। धर्म में महिलाओं की आस्था का कारण 'अपने बच्चों के भविष्य के सुख' का विचार ही है। कुछ धार्मिक मेले लम्बे समय तक चलते है, जैसे प्रयाग का माघ मेला पूरे एक माह तक चलता है। इन मेलों की वस्तुओं का सौन्दर्य उनके सांस्कृतिक सम्बन्ध के कारण और अधिक बढ़ जाता है। दूरी, धार्मिकता और उत्सव की खुशी तीर्थ स्थानों में खरीदी हुई वस्तुओं में भी समाहित रहती है। तीर्थ स्थलों की भाँति भारत के धार्मिक मेले भी असंख्य हैं। कुम्भ इन मेलों में सर्वाधिक विख्यात है। यह प्रत्येक बारहवें वर्ष हरद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिक में क्रमशः लगता है। कुछ मेले पूर्णिमा, सोमवती अमावस्या पर भी कई स्थानों पर लगते हैं। काश्मीर के अमरनाथ में भी आश्विन पूर्णिमा को मेला लगता है। शिवरात्रि के अवसर पर शिव के पवित्र स्थानों में मेले लगते हैं, जैसे हरद्वार, काशी, रामेश्वरम्, काठमांडू, गोकर्णनाथ, उज्जैन, मल्लिकार्जुन। नवरात्र के मेले विंध्याचल, करौली, गुडगाँव, कलकत्ता, कामाख्या आदि में लगते हैं। कार्त्तिक में दीपावली के अतिरिक्त कई मेले लगते हैं, जैसे गढ़मुक्तेश्वर, राजघाट, मथुरा, गोवर्धन, बिठूर, काशी, अयोध्या, हरिहर क्षेत्र, अमरकन्टक, ओंकारेश्वर, पुष्कर, नाथद्वारा। माघ के महीने में भी धार्मिक मेले लगते हैं, जैसे प्रयाग, मुंगेर, कोणार्क, कुम्भकोनम्, श्रीरंगम्।

अयोध्या, चित्रकूट आदि में रामनवमी के मेले लगते हैं। ज्येष्ठ का गंगा दशहरा भी प्रसिद्ध है, इसका मेला गंगा के पवित्र स्थलों पर कई स्थानों पर लगता है। एक मेला मार्गशीर्ष में सोरों में भी लगता है।

सांस्कृतिक मेले

एक प्रकार से तो सभी मेले सांस्कृतिक हैं। संस्कृति का सम्बन्ध समाज की परम्पराओं से सम्बद्ध 'रूप के अतिशय' से है। यह 'रूप का अतिशय' सभी मेलों में निहित है। साप्ताहिक मेले मुख्यतः आर्थिक होते हैं। धार्मिक विश्वास धार्मिक मेलों का आधार है। इनके पीछे कोई धार्मिक अधिकारी या सम्प्रदाय का प्रभुत्व नहीं रहता है। 'स्वतन्त्रता' के कारण यह धार्मिक विश्वास 'रूपों' की विविधताओं में प्रकट होता है। इन मेलों का सांस्कृतिक स्वरूप मौलिक रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता में ही है। ये किसी पवित्र दिन से भी असम्बद्ध हैं। प्रायः ये साल की दो फसलों के मध्य ही आयोजित होते हैं। सांस्कृतिक पक्ष हमें इन मेलों में 'मनोरंजन' और 'प्रसन्नता' में भी परिलक्षित होता है। मार्गशीर्ष का मेला इसका प्रतीक है। इसमें 'वातावरण' तथा 'चहलपहल' की अधिकता रहती है। इनमें झूले, रहँट, बन्दर-भालू के तमाशे, जादू के खेल देखने को मिलते हैं, जो इन मेलों में सांस्कृतिकता के प्रतीक हैं। ये मेले न धार्मिक हैं, न आर्थिक जैसे मेरठ का नौचन्दी का मेला, अनन्त-चतुर्दशी का मेला, तीज, गणगौर, गणेश-चतुर्थी का मेला।

सामाजिकता और व्यापकता यदि सांस्कृतिकता का प्रमाण माना जाये तो ये मेले आर्थिक या धार्मिक मेलों से अधिक सांस्कृतिक हैं। ये अधिक आध्यात्मिक होते हैं। विकेन्द्रित स्वरूप इनकी सांस्कृतिकता का महान प्रतीक है। स्त्रियों और बच्चों का भाग लेना इन मेलों को और अधिक सांस्कृतिक बना देता है। वे जीवन की प्रसन्नता और सौन्दर्य के प्रतीक हैं।

पशु मेले

उपर्युक्त व्यापारीय साप्ताहिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मेलों से भिन्न 'पशु मेले' हैं, जिनका आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन में महत्व है।

भारत उपजाऊ और कृषि प्रधान देश है। भारत की अधिकांश जनता गाँव में रहती है और कृषि करती है। कृषि का प्रभाव संस्कृति पर भी है। वैदिक काल से ही गेहूँ जौ आदि धान्यों का प्रयोग सांस्कृतिक क्रियाओं में होता है।

'पशु' ग्रामीण जीवन के आधार हैं। अतः पशु मेले गांवों में ही आयोजित होते हैं और इनमें गाड़ी तथा पशु बिकते हैं। ये पश्चिमी राजस्थान में अधिक प्रचलित हैं। हाथी भी विहार के मेलों में विकते देखे जा सकते हैं। ये स्थानीय या अखिल भारतीय मेले नहीं हैं, वरन् 'प्रादेशिक' मेले हैं। ये ग्रामीणों से संबद्ध हैं, अतः अंग्रेजी सरकार ने बाद में 'कृषि प्रदर्शनी' भी इन मेलों में जोड़ दीं। बीज, खाद की मशीन, यन्त्र आदि इन मेलों में प्रदर्शित किये जाते हैं। धार्मिक मेलों का महत्व 'स्थान की स्मृति' में है। पशु मेलों का सांस्कृतिक महत्व भी कम नहीं है। पशु मेला केवल पशु मेला ही नहीं है, वरन् स्त्रियों व बच्चों के लिये यह उतना ही आनन्ददायक है, जितने अन्य मेले। मेलों में 'पशु' और 'गाड़ियां' उनके सौन्दर्य और हर्ष को बढ़ा देती हैं।

मेले और प्रदर्शनी

आधुनिक जीवन में प्रदर्शनी केवल पशु मेले तक ही सीमित नहीं है, वरन् जीवन का सामान्य पक्ष बन गई है। ये प्रदर्शनियाँ आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं के कारण भी उत्पन्न हुई हैं। सांस्कृतिक झाँकियाँ, नृत्य, समूहगान आदि प्रदर्शनियों के सांस्कृतिक महत्व को बताते हैं। कुछ प्रदर्शनियों में आधुनिकतम वैज्ञानिक यंत्र आदि भी प्रदर्शनियों किये जाते हैं। इलाहाबाद में दीवाली की प्रदर्शनी में केवल साधारण वस्तुयें ही ऊँची कीमत में बेची जाती हैं। ऐसी प्रदर्शनियाँ 'कुलीनतन्त्र' की प्रतीक है। परन्तु परम्परागत मेले साधारण जनता के लिए ही होते हैं। आधुनिक प्रदर्शनियों में उस मनोरंजन और धार्मिकता का अभाव है, जो धार्मिक मेलों में दृष्टिगत होती है।

मेलों और प्रदर्शनियों के 'रूप' और 'उद्देश्य' में भी अन्तर है। प्रदर्शनी के दर्शक स्वयं को केवल दर्शक ही मानते हैं। मेलों की भाँति वे

उसके अंग नही बन पाते। अधिकारी वर्गो का प्रमुख प्रदर्शनी को भाव-
हीन और कठोर व आनन्द रहित बना देना है। परम्परागत मेलों में
कोई ऐसा अधिकारी नही होता। दर्शक स्वयं को मेले का अंग ही मानते
हैं। इसके अतिरिक्त मेलो की तिथियों की भाँति प्रदर्शनियों की तिथि
के पीछे कोई सांस्कृतिक घटना या दिन नही होता। प्रदर्शनियों के आधु-
निकतम वैज्ञानिक यन्त्र, कीमती वस्तुये साधारण ग्रामीणों के लिए केवल
कौतूहल और आश्चर्य का विषय ही बनकर रह जाती है। परम्परागत
मेलों में ऐसे केवल आश्चर्य और कौतूहल की वस्तुयें नगण्य होती हैं। ये
मेले साधारण जन-जीवन से अधिक सम्बद्ध होते हैं। व आत्मीयता अधिक
होते हैं। इसके अतिरिक्त मेलो मे दर्शक कई दिन तक ठहर सकते हैं,
जब कि प्रदर्शनी मे ठहरने की कोई व्यवस्था नहीं होती। प्रदर्शनी मे
नियम अधिक होते है, मेलो जैसी स्वतन्त्रता नहीं होती।

मेलों का भविष्य

बढ़ती हुई आधुनिकता, यान्त्रिकता और पश्चिमी प्रभुत्व के युग मे यह
सोचना भी आवश्यक है कि हमारे भारतीय पारम्परिक मेलों का भविष्य
क्या होगा? नई पीढ़ी न तो पूर्णतया पश्चिमी संस्कृति को अपना पा
रही है और न प्राचीन भारतीय संस्कृति को अपना पा रही है।

वैज्ञानिकी, औद्योगिक और यान्त्रिकी प्रगति मेलों के महत्व को कम
कर रही है। जो वस्तुये विशेष रूप से मेलो से खरीदी जाती थीं, वे
अब सरलता से किसी भी बाजार से मिल सकती है। मेलों के परिवर्तन,
धर्म, मनोरंजन, प्रसन्नता स्वतन्त्रता, सामूहिकता आदि गुण सामाजिक
महत्व को बढ़ाते है।

सांस्कृतिक व धार्मिक महत्व के अतिरिक्त मेले एक प्रकार का 'सामा-
जिक आनन्द' है। मेलो मे भुण्ड मे जाने वाले लोगों मे [illegible] [illegible]
होती है। परन्तु नई सभ्यता के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने मेलों के
सांस्कृतिक महत्व को क्षीण कर दिया है। 'कला' अब वैज्ञानिक [illegible],
'विशेषीकरण' की प्रवृत्ति बन गई है। ये प्रवृत्तियाँ कला की [illegible] को
निम्न कर देती है। सभ्यता का विकास संस्कृति की 'वैयक्तिक' [illegible] [illegible]

हो रहा है। यह विकास 'वाह्य' है। यह विकास मनुष्य को अकेला और एकांगी बनाता है। अकेलापन अप्रसन्नता में परिणत हो रहा है। इन दोषों का निराकरण मेले में सरलता से कर सकते हैं। मेलों में भाग लेने वाले व्यक्ति की भावात्मक एकता व प्रसन्नता सांस्कृतिक दिशा में प्रयास है। मेलों का विकास किया जा सकता है, पर उनके आंतरिक सांस्कृतिक मूल्य की रक्षा के साथ ही यह विकास सार्थक होगा।

——SS——

अध्याय–८

उपसंहार

अध्याय–८

उपसंहार

पिछले अध्यायों में भारत की जीवन्त संस्कृति के कुछ प्रमुख रूपों का विवरण किया गया है। भारत की यह जीवन्त संस्कृति बहुत प्राचीन तथा अत्यन्त समृद्ध एवं सम्पन्न है। इसके समस्त रूपों का विस्तृत वर्णन तो एक विश्वकोष में ही हो सकता है। एक ग्रन्थ में उसका संक्षिप्त परिचय ही संभव है। ऐसा संक्षिप्त परिचय ही पिछले अध्यायों में दिया गया है। यह संक्षिप्त परिचय भी कई दृष्टियों से अपूर्ण है। इस परिचय में प्रतीकों, पर्वों, संस्कारों, व्रतों, तीर्थ यात्राओं और मेलों का ही विवरण किया गया है। इनके अतिरिक्त हमारी जीवन्त संस्कृति के अन्य अनेक रूप इस परिचय में छूट गये हैं। इन रूपों में परम्परा, रीति-रिवाज, रूढ़ियाँ, सम्बन्ध, आश्रम, मिथक, धर्मचर्या, साधना, उपासना, देवता आदि को गिनाया जा सकता है। संस्कृति के रूपों के छूट जाने के अतिरिक्त विवेचन की दृष्टि से भी यह परिचय अपूर्ण है।

संस्कृति का दर्शन एक गम्भीर विषय है। उसका विवेचन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा रखता है। संस्कृति जीवन की समृद्धि है। यह समृद्धि मूल्यों की सम्पन्नता है। यह सम्पन्नता सौन्दर्य और श्रेय की रचनाओं में साकार होती है एवं आनन्दमयी अनुभूति में चरितार्थ होती है। धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि मानवीय साधना के जिन रूपों को प्रायः संस्कृति का सामूहिक लक्षण माना जाता है वे भी जीवन को समृद्ध बनाते हैं। किन्तु वस्तुतः वे जीवन के साक्षात् तत्त्व नहीं हैं। इनमें केवल धर्म में ही आस्था और उपासना को जीवन का साक्षात् तत्त्व कहा जा सकता है। यह आस्था और उपासना भी धर्म में अलौकिक अधिक रहती है। लौकिक जीवन के सम्बन्धों और व्यवहारों में अन्वित होने पर ही यह साक्षात् जीवन की समृद्धि में योग दे सकती है। अलौकिक की आस्था और उपासना बहुत कुछ कल्पनात्मक धारणा बनी रहती है। वह साक्षात् जीवन में अन्वित नहीं होती।

दर्शन, कला, साहित्य आदि को संस्कृति की धारणा में प्रमुखता दी जाती है। किन्तु ये साक्षात् रूप में जीवन को समृद्ध नहीं करते। ये जीवन को विषय बनाकर ग्रहण करते हैं। दर्शन जीवन का चिन्तन करता है। किन्तु जीवन चिन्तन नहीं है। चिन्तन का जीवन में स्थान है किन्तु जीवन जीवन है, चिन्तन नहीं। जीवन कर्म और अनुभूति है। कला, साहित्य आदि जीवन के चित्रण हैं। वे भी साक्षात् जीवन नहीं हैं। दर्शन सत्य की खोज है। कला सौन्दर्य की साधना है। सत्य जीवन का प्रकाश है। सौन्दर्य जीवन का अलंकार है। प्रकाश और अलंकार के रूप में ही ये साक्षात् जीवन की विभूति बनते हैं। किन्तु स्वतन्त्र रूप में ये जीवन को विषय बनाकर उसका चिन्तन और चित्रण करते हैं। इनसे जीवन की धारणा और कल्पना तो समृद्ध होती है, किन्तु साक्षात् जीवन इनसे समृद्ध नहीं होता। साक्षात् जीवन श्रेय और सौन्दर्य से समृद्ध होता है, जबकि ये जीवन की धारणा अथवा कल्पना न बन कर साक्षात् जीवन में समवेत हों। श्रेय और सौन्दर्य का साक्षात् जीवन में समवाय साक्षात् जीवन को समृद्ध बनाकर संस्कृति के उस रूप का निर्माण करता है जिसे हमने 'जीवन्त संस्कृति' का नाम दिया है।

यह संस्कृति का वह रूप है जो अर्वाचीन पश्चिमी जीवन में अत्यन्त अल्प परिमाण में पाया जाता है। पश्चिमी सभ्यता के विकास-क्रम में जीवन्त संस्कृति आदिम, वन्य और ग्रामीण समाज का अलंकार रह गई। नागरिक समाज उससे दूर होता गया। उसका जीवन विज्ञान के प्रभाव से प्राकृतिक अधिक बनता गया। ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य आदि में जीवन को विषय बनाकर उसका अनुसन्धान और चित्रण होता रहा। किन्तु साक्षात् जीवन के आचारों में सौन्दर्य का अन्वय बहुत कम रहा। नृत्य-संगीत की कलायें ही ऐसी हैं जिनमें सौन्दर्य का अन्वय साक्षात् जीवन में होता है। किन्तु इनके अभिजात रूपों में स्रष्टा और द्रष्टा का भेद रहता है तथा यह अन्वय इतना परिपूर्ण नहीं होता जितना कि लोक कला के सामूहिक संगीत और सामूहिक नृत्य में होता है। धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि की समष्टि के रूप में संस्कृति की पश्चिमी धारणा के कारण संस्कृति की संकनात्मक परिभाषा ही प्रचलित हो गई।

भारत में भी इसका प्रभाव हुआ। इसके परिणाम स्वरूप संस्कृति की धारणा में जीवन्त संस्कृति को उचित महत्व न दिया जा सका।

किन्तु जीवन की वास्तविक और साक्षात् समृद्धि जीवन्त संस्कृति के द्वारा ही होती है। इसी के द्वारा श्रेय और सौन्दर्य के मूल्य साक्षात् जीवन में समन्वित होते हैं तथा वास्तविक जीवन को समृद्ध बनाते हैं। भारतवर्ष में संस्कृति का यह जीवन्त रूप प्राचीन काल से ही बहुत समृद्ध रहा तथा जीवन को समृद्ध बनाता रहा। जीवन की भारतीय परम्परा में पोषित होकर यह जीवन को नित्य नवीन आनन्द से आप्लावित करता रहा। धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि भी निरन्तर विकसित होते रहे। ये संस्कृति के ऐतिहासिक रूप का भाण्डार भरते रहे। किन्तु जीवन्त संस्कृति अपने चिरन्तन रूपों से जीवन को नव-नव सौन्दर्य से अलंकृत करती रही। पुरातन रूपों की अभिनव आवृत्ति से जीवन में निरन्तर नव-नव आनन्द के पुष्प खिलते रहे।

भारत की यह जीवन्त संस्कृति पश्चिमी लोक-संस्कृति की भाँति आदिम, वन्य तथा ग्रामीण समाज में ही सीमित नहीं रही। वह नागरिक समाज में भी पूर्ण आदर पाती रही। एक दृष्टि से चेतना, सहयोग, साधन आदि की अधिकता के कारण वह नागरिक समाज में अधिक सुन्दर रूप में प्रतिष्ठित रही। पर्व, संस्कार आदि नागरिक समाज में और अधिक समारोह के साथ सम्पन्न होते हैं। भारत की जीवन्त संस्कृति की यह विशेषता इसे पश्चिमी परम्परा से विलक्षण बनाती है। सभ्यता के विकास से बढ़ती हुई नागरिकता के सन्दर्भ में जीवन्त भारतीय संस्कृति की यह विशेषता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी विशेषता के सूत्र से जीवन्त संस्कृति सभ्यता से बढ़ती हुई समस्याओं का उपचार करके मनुष्य समाज और जीवन को सुन्दर एवं समृद्ध बना सकती है।

इस विशेषता के अतिरिक्त भारत की जीवन्त संस्कृति की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह रूपों की विपुलता एवं विविधता से समृद्ध है। जीवन्त संस्कृति मानवीय जीवन की आवश्यक विभूति है। इसके बिना जीवन दीन और नीरस हो जाता है। अतः वह प्राचीन काल से

सभी समाजों में पाई जाती है। भारतीय समाज में अनेक कारणों से इसका सबसे अधिक समृद्ध और सम्पन्न रूप विकसित हुआ। भारतीय जीवन्त संस्कृति जीवन को समृद्ध बनाने का सर्वोत्तम मार्ग है। यदि संस्कृति जीवन की समृद्धि है तो भारतीय जीवन्त संस्कृति सबसे श्रेष्ठ है। वह सबसे अधिक सांस्कृतिक है। नागरिकता से सामंजस्य होने के कारण यह मानव समाज की सर्वोत्तम आशा है। आज पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से आधुनिक भारतीय समाज इस संजीवनी संस्कृति की उपेक्षा कर रहा है। किन्तु यह उसकी भयंकर भूल है। इस भूल का प्रायश्चित उसे भविष्य के एकाकी, विकृत और नीरस जीवन में वेदना के अश्रुओं से करना होगा।

पश्चिमी समाजों में जीवन्त संस्कृति के इतने विपुल, विविध और सम्पन्न रूप नहीं मिलते। जिस अल्प परिमाण में भी जीवन्त संस्कृति पश्चिमी समाजों में विकसित हुई उसका नागरिक सभ्यता के साथ समन्वय नहीं हुआ। नागरिक समाज उससे दूर होता गया। किन्तु नागरिक समाज के साथ सामंजस्य के द्वारा भारत की जीवन्त संस्कृति के रूपों की विपुलता एवं विविधता का सौन्दर्य और भी निखरता गया।

हमारी जीवन्त संस्कृति के ये रूप विपुलता और विविधता के अतिरिक्त जटिलता की दृष्टि से भी समृद्ध हैं। रूपों की विपुलता और विविधता प्रतीकों, पर्वों, संस्कारों, व्रतों, तीर्थों, मेलों, परम्पराओं, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, सम्बन्धों, आश्रमों, मिथकों, धर्माचारों, साधना, उपासना आदि में मिलती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इनमें से प्रथम पाँच रूपों का ही संक्षिप्त विवेचन हो सका है। भारतीय समाज और हिन्दी साहित्य में व्याप्त उदासीनता लेखक को इतना उत्साह न दे सकी कि वह एक विशाल ग्रन्थ में जीवन्त संस्कृति का परिपूर्ण परिचय दे सकता है। इस संक्षिप्त परिचय को भी कोई आदर मिल सकेगा, ऐसी आशा बहुत कम है। फिर भी भारतीय जीवन्त संस्कृति में आस्था होने के कारण तथा उसमें सभ्यता के संकटों में उलझते हुये मानव-समाज के उद्धार का मार्ग देखने के कारण लेखक ने उसका यह संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने का साहस किया है।

रूपों की विविधता, विपुलता और जटिलता इस जीवन्त संस्कृति के सौन्दर्य, तथा उसकी समृद्धि एवं श्रेष्ठता का प्रमाण है। प्रतीकात्मकता प्रायः इन सभी रूपों में व्याप्त है। प्रतीक रूप में अर्थ एवं भाव के अतिशय को सांस्कृतिक परम्परा में रूढ़ बनाते हैं। सांस्कृतिक आचारों में ये प्रतीकात्मक रूप सौन्दर्य एव भाव का सान्निधान करते हैं। पर्वों में सांस्कृतिक आचार रूप एवं भाव के अतिशय से उल्लास के स्रोत बनते हैं। पर्वों की विपुलता भारतीय जीवन्त संस्कृति की समृद्धि की सूचक है। इन पर्वों के रूप में जीवन का अधिकांश सांस्कृतिक सौन्दर्य से अलंकृत हो जाता। सौन्दर्य एवं भाव के अतिशय से काल का एकरस प्रवाह आनन्द की रंजित लहरों से तरंगित होता है। संस्कार भी एक प्रकार के पर्व हैं जो व्यक्तिगत जीवन के मुख्य अवसरों को सांस्कृतिक सौन्दर्य से युक्त बनाते हैं। व्रतों में भी कुछ पर्व का भाव रहता है यद्यपि मुख्यतः वे धार्मिक साधना के अनुष्ठान हैं। तीर्थ यात्रायें धार्मिक होते हुये भी यात्रा के पर्व बन जाती हैं। मेले आर्थिक पर्व हैं। यह पर्वात्मकता भारतीय जीवन्त संस्कृति का विशेष रूप है। पर्व जीवन के नीरस क्षणों तथा आवृत्त उपकरणों को नित्य नये सौन्दर्य एवं आनन्द से ओत-प्रोत करते हैं। प्राकृतिक जीवन का यह कायाकल्प संस्कृति की आध्यात्मिक विजय है। यही भारतीय संस्कृति का संजीवन सन्देश है।

पर्वों, संस्कारों, व्रतों, तीर्थ यात्राओं और मेलों में संस्कृति का यह रसायन जीवन के विभिन्न सन्दर्भों एवं उपकरणों में सांस्कृतिक सौन्दर्य एवं आनन्द को अनुष्ठित करता है। पर्वों में वर्ष का एकरस काल क्रम आनन्द की लयपूर्ण रागिनी बन जाता है। संस्कारों में व्यक्ति की आयु का उत्थान-काल गर्भाधान अथवा नामकरण के मन्द्र स्वर से आरम्भ होकर विवाह तक आनन्द के तार पर पहुँचकर आवृत्ति का नया राग आरम्भ कर देता है। व्रतों की धार्मिकता, सात्विकता एवं पवित्रता पर्वों और संस्कारों के आनन्दपूर्ण आरोहों में त्याग के आरोह का सम्पुट देकर जीवन की रागिनी को ज्वार-भाटा की तरंगों का आन्दोलन प्रदान करती है। तीर्थ यात्राओं के धार्मिक अभियान स्थान-परिवर्त्तन की नवीनता के द्वारा काल के नीरस क्रम के सांस्कृतिक कायाकल्प को दिक् की विमा

में अन्वित कर जीवन के संस्करण को पूर्ण बनाते हैं। मेले जीवन के आर्थिक उपयोगितावाद में भी सांस्कृतिक सौन्दर्य एवं उल्लास का अन्वय करते हैं।

जीवन्त संस्कृति का यह पंचामृत जीवन के सांस्कृतिक अनुष्ठान का पुण्य प्रसाद है। इसके अतिरिक्त हमारी जीवन्त संस्कृति के अन्य अनेक रूप हैं जिनका विवरण इस ग्रन्थ में नहीं दिया जा सका है। उपसंहार के रूप में इनका कुछ संकेत देना उचित होगा। इन रूपों में परम्परा, रीति रिवाज, रूढ़ियाँ, सम्बन्ध, आश्रम, मिथक, धर्मचर्या, साधना, देवता, उपासना आदि उल्लेखनीय हैं। परम्परा संस्कृति का व्यापक रूप है। पर्वों, संस्कारों, व्रतों, तीर्थ यात्राओं और मेलों को भी परम्परा के अन्तर्गत गिना जा सकता है। ये सांस्कृतिक परम्परा के मुख्य और प्रसिद्ध रूप हैं। इनके अतिरिक्त परम्परा के और भी रूप हैं जिनका समाहार इन वर्गों में नहीं हो सका है। मातृ-महिमा, दाम्पत्य की पवित्रता, वात्सल्य, बन्धुत्व, गुरुमान आदि इस परम्परा के सामाजिक रूप हैं। अर्घासन प्रदान, पादार्घ्य, दोनों हाथों से वस्तु प्रदान करना, दक्षिण हाथ से वस्तु देना, मृतकों को वाम हाथ से पिण्ड देना, देवता, मान्यजन और प्रेत को भिन्न-भिन्न अंगुलियों से तिलक देना, आचार्य से नीचे हथेली करके कलावा बँधवाना, गुरु का हथेली ऊपर करके कलावा बँधवाना आदि अनेक आचार सांस्कृतिक परम्परा के अंग हैं। शिव, राम, कृष्ण आदि की कथायें, सीता, सावित्री, दमयन्ती आदि के चरित इस परम्परा के आख्यान बन गये हैं। और भी न जाने कितनी परम्परायें रीति रिवाजों एवं रूढ़ियों में समाहित हो गई हैं। आज इन रीतियों और रूढ़ियों को अनावश्यक एवं अर्थहीन माना जा रहा है; इनमें कुछ अव्यवहार्य और कुछ निरर्थक भी हो सकती हैं, किन्तु सभी नहीं। इनमें अनेक परम्परायें अत्यन्त अर्थवान् प्रतीकों पर आश्रित है। ये प्रतीक इनमें रूप और अर्थ के अतिशय का सन्निधान करते हैं। परम्पराओं का सामाजिक पालन भाव के अतिशय के द्वारा सांस्कृतिक जीवन को आनन्द से ओत प्रोत करते हैं। उदाहरण के लिये तिलक तृतीय नेत्र का स्मारक है। कलावा शिव शक्ति के साम्य का सूचक है। ध्रुव दर्शन दाम्पत्य की स्थिरता का

सामाजिक सम्बन्ध और आश्रम हमारी जीवन्त संस्कृति की परम्परा के अत्यन्त महत्वपूर्ण अग हैं। सामाजिक होने के कारण सम्बन्धों की परम्परा अब भी प्रचलित है यद्यपि भौतिकता, प्रकृतिवाद, स्वार्थ, भ्रान्त मानववाद, कृत्रिम शिष्टाचार आदि के आधुनिक प्रभाव से सम्बन्धों का भाव सौन्दर्य क्षीण हो रहा है। आश्रमों की परम्परा चाहे अधिक प्रचलित कभी न रही हो, फिर भी आर्ष युग से लेकर अब तक कुछ न कुछ अंश में वह जीवन के विभाजन और व्यवस्था की दिशा का निर्देश करती रही है। ऋषि, मुनि और संन्यासियों की इतनी बड़ी संख्या संसार के किसी भी देश में कभी नहीं रही। सम्बन्ध मनुष्यों के बीच आन्तरिक आत्मीयता का सूत्र है जो अकेलेपन को मिटाता है। सम्बन्ध का बीज मनुष्य के जन्म में ही निहित है। सम्बन्धों के सूत्र से ही मनुष्य का अस्तित्व टिका रहता है। सम्बन्ध रहित जीवन शून्य हो जाता है। आधुनिक समाज में मनुष्य की सम्बन्ध हीनता बढ़ती जा रही है और वह एक सन्दर्भ-शून्य इकाई बन रहा है। मनुष्य का व्यक्तित्व गणित के शून्य के समान है जो अपने आप में एक निषेधात्मक सत्ता है। किसी संख्या के साथ मिलकर ही वह मूल्यवान बनता है। इसी प्रकार सम्बन्धों के सहयोग से ही व्यक्ति का अस्तित्व भावात्मक मूल्य ग्रहण करता है। ये सम्बन्ध आन्तरिक और आत्मिक होते हैं, तभी मनुष्य के अस्तित्व को सार्थकता का भाव देते हैं। ऊपरी और बाहरी सम्बन्ध अस्तित्व की गहराई तक नहीं पहुँचते। लोक-व्यवहार में उनका भी उपयोग है। किन्तु आन्तरिक और आत्मिक सम्बन्धों से मनुष्य के भावात्मक, सार्थक और आनन्दमय अस्तित्व का गठन होता है। विविध सम्बन्धों की विमायें मनुष्य के अस्तित्व को सम्पन्न और मूर्त्त बनाती हैं।

भारतीय जीवन्त संस्कृति की परम्परा में सम्बन्धों का बहुत महत्व है। निकट और दूर के अनेक सम्बन्धों को मान्यता दी गई है तथा उनके लिये अलग-अलग नाम हैं जैसे अँगरेजी आदि पश्चिमी भाषाओं में नहीं हैं। बाबा, नाना, दादी, नानी, मामा, मामी, चाचा, चाची, फूफा, फूफी, मौसा, मौसी, साले, बहनोई आदि के लिये हमारे यहाँ अलग-अलग शब्द हैं। अँगरेजी आदि भाषाओं में एक शब्द इनमें से कई सम्बन्धों को

सूचित करता है। सम्बन्ध भेद की यह सूक्ष्मता प्रत्येक सम्बन्ध के विशेष महत्व को लक्षित करती है। ये सम्बन्ध केवल सामाजिक नहीं हैं। विविध सांस्कृतिक अवसरों पर विशेप सम्बन्धों को विशेष अधिकार और कर्तव्य के रूप में मान्यता दी गई है। विवाह आदि के अवसर पर बहन आरता करती है। बहन ही देहली पूजती हैं। इसी प्रकार अनेक संबंधों को विशेष सांस्कृतिक अवसरों पर विशेप मान्यता दी जाती है। इससे सम्बन्ध के सूत्र रूपों और भावों के सुमनों की मंगलमाल बन जाते हैं।

इन सम्बन्धों में मातृ सम्बन्ध को भारतीय परम्परा में सबसे अधिक महत्व दिया गया है। माता ही समस्त सम्बन्धों का मूल है। मातृ सम्बन्ध एक प्राकृतिक सम्बन्ध है। भाई बहन का सम्बन्ध भी इसी से प्रसूत होता है। बालक की असमर्थता और विकास की दीर्घ अवधि मातृ सम्बन्ध को मनुष्य जीवन में अधिक महत्वपूर्ण बनाती है। इसी महत्व के कारण मातृ-तन्त्र से समाज का आरम्भ हुआ। प्रसव और शिशु पालन की कठिनाईयों के कारण मातृ-तन्त्र सफल न हो सका। किन्तु भारतीय समाज में माता की महिमा को एक सांस्कृतिक और दार्शनिक रूप में प्रतिष्ठा मिली। नवरात्र की शक्ति पूजा और मातृ नवमी से वर्ष का आरम्भ इस प्रतिष्ठा का प्रमाण है। भाषा में गौरीशंकर, सीता राम, राधेश्याम आदि में स्त्रीपद की प्राथमिकता से विदित होता है कि मातृ भाव संस्कृति की आत्मा में रम गया था। क्षीर सागर माता के अंचल में ही लहराता है। वही सृष्टि का आधार है। जीव विज्ञान का विकास और सभ्यता की प्रगति मातृ भाव का उच्छेद कर मनुष्य के जीवन को निराधार, नीरस और शून्य बना देगी। पितृ तन्त्र के साथ-साथ पिता, गुरु आदि के सम्बन्धों का महत्व बढ़ा। भारतीय परम्परा में 'पितरौ' के द्वन्द्व द्वारा समन्वय का प्रयत्न किया गया है। पिता और गुरु का भी बहुत मान है। गुरु पूर्णिमा का पर्व होता है। गुरुजनों में भी सभी बड़े सम्मिलित हैं।

भाई-बहन का सम्बन्ध भी अपनी सरसता में अद्भुत है। विवाह आदि संस्कारों में बहन को आदर देकर तथा रक्षाबन्धन के पर्व में इस सम्बन्ध को उत्सव के आनन्द से युक्त बनाकर भारतीय संस्कृति ने मनुष्य

के काम को एक पवित्र मर्यादा देने का प्रयत्न किया है, जो सांस्कृतिक उच्छ्रुखंलाता से बचाकर जीवन को सुखी, शान्तिमय और श्रेष्ठ बना सकती है। पुत्री के पवित्र सम्बन्ध से यह मर्यादा और दृढ़ होती है। चाची, मौसी, बुआ आदि स्त्री सम्बन्ध भी इस मर्यादा में योग देते है। इन विभिन्न सम्बन्धों के सूत्र से विवाह आदि के द्वारा अन्य अनेक सम्बन्ध बनते है। इन सभी सम्बन्धों के विशेष नाम और रूप हैं। इन संबंधों की विशेषतायें मनुष्य के अस्तित्व को अनेक विभायें देकर सम्पन्न बनाती हैं। यही सम्पन्नता मनुष्य जीवन की विभूति है।

संस्कारों और सम्बन्धों की भाँति आश्रम-व्यवस्था भी हमारी जीवन्त संस्कृति की परम्परा का एक महत्वपूर्ण अंग है। इतिहासों में राजाओं के भी वानप्रस्थ लेने के प्रसंग मिलते है। अनेक ऋषियों और राजाओं ने संन्यास भी ग्रहण किया। ब्रह्मचर्य की प्रथा तो बहुत प्रचलित थी। चाहे अधिक व्यापक रूप में आश्रम व्यवस्था का पालन न हो सका हो, फिर भी यह भारतीय परम्परा की एक प्रचलित प्रथा थी। आज भी अनेक संन्यासी और ब्रह्मचारी मिलते हैं। प्राकृतिक मोह की बाधाओं के कारण चाहे आश्रम-व्यवस्था व्यापक रूप में प्रचलित न रह सकी हो, फिर भी वह एक जीवन्त परम्परा है तथा जीवन की पूर्णता एवं सफलता में उसका बहुत योग सम्भव है। वृद्धावस्था में अधिकांश लोग घर में रहते हुये भी वानप्रस्थ का भाव ग्रहण कर लेते हैं और विरक्त भाव से भजन पूजन में समय विताते हैं। आश्रम व्यवस्था में आयु का विभाजन करके वयोनुरूप जीवन का विधान किया गया है। सम्पूर्ण जीवन एक रूप से विताना संभव और उचित नहीं है। जीवन और आयु का प्राकृतिक एवं अनिवार्य ह्रास जीवन के किशोर एवं तरुण रूप को अन्त तक सुरक्षित नहीं रहने देता। आयु के विकास के साथ भोग, शक्ति, कर्म आनन्द आदि क्षीण होते हैं। ज्ञान, साधना, संस्कृति आदि जीवन के श्रेष्ठ मूल्यों की दृष्टि से भी केवल भोग और कर्म में सम्पूर्ण जीवन विताना उचित भी नहीं है। आश्रम व्यवस्था में केवल गृहस्थ आश्रम में ही भोग को स्थान दिया गया है। शेष तीन आश्रमों में अनागरिक और साधनामय जीवन बिताने का विधान है। संन्यास पूर्ण स्वतन्त्रता और

अभय का जीवन है। यह आश्रम व्यवस्था जीवन का एक स्वस्थ, पूर्ण, सफल और मृत्युंजय दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। भारतीय समाज ने भी इसे पूर्णतः न अपना कर भूल की है। यही व्यवस्था समाज को सभी दृष्टियों से सफल और सुखी जीवन का पथ प्रशस्त कर सकती है।

ब्रह्मचर्य आश्रम-व्यवस्था की नींव है। वस्तुतः केवल यह एक आश्रम नहीं है वरन् अन्य आश्रमों में भी इसे व्यापक माना गया है। गृहस्थ में ऋतुकाल के भोग को भी उपनिषदों में ब्रह्मचर्य कहा गया है। वानप्रस्थ और संन्यास तो काम-संयम और ब्रह्म साधना दोनों अर्थों में ही ब्रह्मचर्य के अनुरूप हैं। दोनों ही अर्थों में ब्रह्मचर्य जीवन की नींव है। इसीलिये उसे प्रथम आश्रम के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। ब्रह्मभाव आत्मिक अद्वैत का भाव है। मानव सम्बन्धों में प्रतिष्ठित यह अद्वैत भाव काम-संयम को भी सम्भव बनाता है। यह भारतीय साधना का निगूढ़ रहस्य है जिसकी वैज्ञानिक परीक्षा की जा सकती है और जिसे सभ्यता के संकटों से पीड़ित मनुष्य की सुख शान्ति के लिये अपनाया जा सकता है। ब्रह्म-चर्य के पीठ पर गृहस्थ का भोग और कर्तव्य सफल होता है। वानप्रस्थ की मर्यादा गृहस्थ के भोग को प्रौढ़ वय में साधना की एक नई विमा देकर जीवन को निरर्थकता के अनुभव से बचाती है। वानप्रस्थ में जीवन लौकिक बन्धनों से मुक्त होकर स्वतन्त्रता की ओर बढ़ता है। संन्यास में यह स्वतन्त्रता पूर्ण हो जाती है। ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ के अनागरिक जीवन में गृहवास के साथ प्राकृतिक वातावरण की संगति बनाकर जीवन को एकरसता की नीरसता से बचाती है। वनवास और परिवर्तन से जीवन में ताजगी बनी रहती है। संन्यास में स्वतन्त्रता की परिणति जीवन को मृत्युंजय बनाती है। ब्रह्मचर्य की साधना और तपोनिष्ठा व्यक्तित्व और व्यक्तिगत जीवन को समर्थ एवं सम्पन्न बनाती है तथा मनुष्य को समाज का श्रेष्ठ सदस्य बनाती है। गृहस्थ का कर्ममय जीवन व्यक्ति-गत अस्तित्व को सफल बनाता है तथा सामाजिक चक्र की धुरी बनता है। वानप्रस्थ में जीवन की विभूति समाज में विकीर्ण होती है और सन्यास में जीवन की पूर्ण परिणति होती है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था जीवन की एक अत्यन्त समीचीन और परिपूर्ण व्यवस्था है। इसे अपना कर

भारत और विश्व का समाज सफल और आनन्दमय जीवन का मार्ग बना सकता है। भारतीय परम्परा में आश्रम व्यवस्था के बीज वर्तमान हैं। उन्हें अभिनव यत्न से सिंचित कर भारत मानवता को कल्पवृक्ष के बीज वितरित कर सकता है तथा विश्व को नन्दन बनाने में अनुपम योग दे सकता है।

भारतीय लोक-संस्कृति की परम्परा में अनेक मिथक प्रचलित हैं। क्षीर सागर में शेष शय्या पर विष्णु के शयन की भाँति कुछ मिथक पूर्णतः काल्पनिक हैं। राम और कृष्ण की कथाओं की भाँति कुछ इतिहास सनातन बनकर मिथक बन गये है। कुछ मिथक शिव प्रसंग की भाँति इतिहास और पुराण के मिश्रण हैं। सावित्री, दमयन्ती, श्रवणकुमार आदि की कथायें भी मिथक बन गई हैं। मिथक का मिथ्या से इतना ही सम्बन्ध है कि वह ऐतिहासिक यथार्थ को त्याग कर उसके आधार पर अथवा स्वतन्त्र कल्पना के द्वारा एक सनानत सत्य को लोकप्रिय आकार देता है। एक प्रकार से मिथक संस्कृति का सजीव, मूर्त्त और गतिमान प्रतीक है। रूप, अर्थ और भाव का अतिशय उसे प्रतीक बनाता है। इन मिथक प्रतीकों में जो सनातन सत्य मूर्त हुये हैं वे अपने सरल रूप और गहन भाव के द्वारा लोक जीवन की आत्मा में रम गये हैं। शिव, राम, कृष्ण, सावित्री आदि के मिथकों के भाव अनाच्छाद्य होने के कारण सदा सूर्य की भाँति प्रकाशित रहे हैं। क्षीर सागर आदि की भाँति कुछ अद्-भुत मिथकों का अर्थ ओझल हो गया है। उसे संगत व्याख्या के द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है।

क्षीर सागर में शेष शय्या पर विष्णु भगवान के शयन का मिथक अत्यन्त अर्थपूर्ण है। वह सृष्टि के आधार और लक्ष्य का विचित्र किन्तु मार्मिक प्रतीक है। क्षीर सागर मातृ भाव का सूचक है। मातृ भाव सृष्टि का प्राकृतिक और सांस्कृतिक आधार है। माता के अंचल में क्षीर सागर लहराता है। मातृ भाव की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा वात्सल्य और मातृ पूजा के रूप में होती है। भारतीय परम्परा में वात्सल्य का विपुल प्रवाह है। जीवन और साहित्य दोनों में वह व्याप्त है। मातृ महिमा हमारी संस्कृति की मुख्य विशेषता है। मातृ भाव ही मानव-जीवन और

संस्कृति का पीठ है। आधुनिक सभ्यता के प्रकृतिवादी प्रभाव तथा जीव-विज्ञान के प्रयोगों से मातृ भाव के मूलोच्छेद की आशंका हो रही है। मातृ भाव के उच्छेद से मनुष्य के जीवन का आधार ही उच्छिन्न हो जायेगा। इस भयंकर परिणाम का ज्ञान बहुत विलम्ब से होगा। मातृ भाव में आत्मिक अद्वैत का प्राकृतिक सूत्र से जीवन में समवाय होता है। उसके बिना जीवन पशुओं की भाँति व्यक्तिगत हो जायेगा। आत्मिक अद्वैत का सूत्र छिन्न होने पर मनुष्य जीवन. सभ्यता और संस्कृति के सभी आधार नष्ट हो जायेंगे। मनुष्य पशु तुल्य नहीं वरन् पशु से भी हीन एक विक्षिप्त, अशान्त, दुःखी प्राणी बन जायेगा, जिसका जीवन निस्सार, नीरस और असह्य होगा। मातृत्व के अनन्त क्षीर सागर की गर्भ में ही मानव जीवन और संस्कृति के मूल्यवान रत्न उत्पन्न होते है। यह क्षीर सागर जीवन के मूल्यों का रत्नाकर है।

क्षीर सागर में कमठ पीठ पर कोल तथा कोल के दंष्ट्रा पर शेष कुण्डली और शेष कुण्डली पर विष्णु का आसन है। विष्णु की नाभि से निःसृत कमल पर ब्रह्मा विराजते है। शेष के सहस्त्र फणों पर पृथ्वी स्थित है। पृथ्वी के शिखर कैलास पर शिव का निवास है। विश्व व्यवस्था के इस मिथक के प्रतीक में जीवन के अनेक गम्भीर रहस्य निहित है। क्षीर सागर मातृ भाव का प्रतीक है। कमठ, कोल आदि जीवन के अन्य भावों के सूचक हैं जो मातृ भाव से प्रेरित होते हैं तथा जो समृद्ध जीवन के मुख्य आधार हैं। मातृ भाव सहज रूप में माता का वात्सल्य है किन्तु व्यापक रूप में वह शक्तिभाव है जो दूसरों को आत्म भाव प्रदान करने के सभी उपक्रमों में मिलता है। पुरुषों में भी वह अपेक्षणीय है। कमठ की पीठ कठोर होती है। उसकी ढाल तलवार के आघात सहती है। वह सहिष्णुता की सूचक है। गीता के 'कूर्माङ्गानीव सर्वशः' के अनुसार कमठ का अंग-संकोचन योग की अन्तर्मुख वृत्ति का सूचक है। मातृभाव अथवा शक्तिभाव का निर्वाह योग की अपेक्षा करता है। कोल का बल, साहस, वेग तथा मल-प्रक्षालन जीवन को स्वच्छता का सन्देश देता है। माता शिशु-पालन में सहिष्णुता, त्याग आदि के द्वारा कमठधर्म का तथा मल-प्रक्षालन द्वारा कोल-धर्म का निर्वाह करती है। सफाई करने वाले

सभी श्रमिक कोल-धर्मी हैं। वस्तुतः कोल-धर्म मनुष्य मात्र का धर्म है और सभ्यता के सौन्दर्य का आधार है।

शेषनाग ज्ञान के प्रतीक है। ज्ञान अनन्त है शेष का नाम भी 'अनन्त' है। ज्ञान सात्विक है। सत्व शुभ्र है। शेष नाग का वर्ण शुभ्र है। शेष की कुण्डली के वृत्त विभिन्न विज्ञानों के परस्पर सम्बन्ध के सूचक हैं। विष्णु और ब्रह्मा भगवान के रूप तथा सांस्कृतिक मूल्यों के प्रतीक है। विष्णु के शंख और पद्म धर्म के प्रतीक तथा शंख, चक्र और गदा शक्ति के प्रतीक हैं। शक्ति से धर्म, संस्कृति और जीवन की रक्षा होती है। ब्रह्मा सृजन के देवता हैं। वे वेद के विधाता है। सृजन जीवन से अलिप्त रहकर संभव होता है। कमल उस अलिप्तता का सूचक है। शेषनाग के सहस्र फरा ज्ञान की शाखाओं का संकेत करते हैं। शेष फरा पर पृथ्वी स्थित है। ज्ञान-विज्ञानों पर तथा विष्णु के धर्म एवं रक्षरा पर ही लोक की स्थिति है। पार्वती सहित तपस्वी, सरल, कामजयी शिव जीवन की अन्तिम परिरगति को लक्षित करते हैं। मातृ भाव, शक्तिभाव, योग, मलिनता-निवाररग, ज्ञान, धर्म, रक्षरग और सृजन से संवलित ज्ञान-विज्ञान पर आश्रित भौतिक जीवन की परिरगति शिव-पार्वती के समान अखण्ड, अनन्य एवं पवित्र दाम्पत्य में तथा गरोश-कार्त्तिकेय के समान सन्तान में होती है। विचित्र प्रतीत होने वाले सृष्टि के मिथक में जीवन का गम्भीर और सम्पूर्ण रहस्य निहित है। अन्य अनेक मिथक ऐसे ही रहस्यों से युक्त हैं।

हमारी जीवन्त संस्कृति की धर्मचर्या, साधना, उपासना आदि भी जीवन की एक महत्वपूर्ण विमा को पूर्ण करती है। धर्माचार, साधना और उपासना भारतीय लोक जीवन का एक आवश्यक अंग है। भारतीय धर्म पैगम्बरीय धर्मों की भाँति संगठित नहीं है। उनमें सामूहिक उपासना नहीं है। धर्म सदाचार के रूप में सामाजिक है किन्तु उपासना, साधना आदि के रूप में वह व्यक्तिगत है। धर्म एक दिव्य आध्यात्मिक अनुभव है जो पुण्याचार में व्यक्त होता है। भारतीय परम्परा में आचार, उपासना और साधना के व्यक्तिगत पक्ष को जोर दिया गया है। मन्दिर तीर्थ, पर्व, व्रत आदि के सन्दर्भ में धर्म का वातावरण सामाजिक भी बन

जाता है। किन्तु योग, पूजा, पाठ, उपासना, ध्यान, भजन आदि व्यक्ति की दिनचर्या के आवश्यक अंग है। अधिकांश लोग उनका पालन करते हैं। मूर्ति, देवता, मन्दिर, आरती, प्रसाद आदि इस धर्मचर्या को लोक ग्राह्य, और मूर्त्त बनाते हैं। देवताओं के रूप भी प्रतीकात्मक है। वे विभिन्न दिव्य विभूतियों के सूचक हैं। देवता अनेक हैं। वे ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक है। देवताओं की अनेकता ईश्वर की एकता के विरूद्ध नहीं है। 'एक सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' उनकी एक सूत्रता का वैदिक मन्त्र है। 'वदन्ति' के स्थान पर 'उपासन्ते' कर देने पर लोक धर्म में अनेक देवताओं की उपासना की संगत व्याख्या हो जाती है। भारतीय धर्म परम्परा में देवताओं की अनेकता कभी विरोध अथवा संघर्ष का कारण नहीं बनी, जब कि ईसाई तथा इस्लामी एकेश्वरवाद ने संघर्ष उत्पन्न किया। अधिकांश भारतीय सभी देवताओं को मानते और पूजते हैं। वर्ष में विभिन्न देवताओं की जयन्तियाँ तथा उनकी उपासना के पर्व आते हैं। अधिकांश लोग उनको मनाते है। इन पर्वो में धर्म और लोक संस्कृति का संगम होता है। दैनिक पूजा, उपासना, ध्यान, भजन, योग, साधना आदि धर्म के तत्व को व्यक्तिगत भाव में अन्वित करते हैं। लोक संस्कृति में समन्वित धर्म का यम तप जीवन में धर्म का सहज समवाय करता है।

हमारी जीवन्त संस्कृति के ये विविध रूप अपनी अनेक विभाओं से जीवन को समृद्ध बनाते हैं। संस्कृति जीवन की समृद्धि है। जीवन्त संस्कृति साक्षात् जीवन के व्यवहार और परम्परा में भावपूर्ण रूपों के अतिशयों को अन्वित कर जीवन के अल्प यथार्थ को अपार सांस्कृतिक विभूति के द्वारा सम्पन्न बनाती है। यह जीवन्त संस्कृति भारतीय जीवन की परम्पराओं के प्रवर्त्तक ऋषियों की जीवन्त प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार है। संस्कृति मनुष्य की सहज आकांक्षा है। अतः वह सभी देशों और समाजों में मिलती है। किन्तु कठोर जीवन के कारण अन्य समाजों में ऐसी समृद्ध जीवन्त संस्कृति का विकास न हो सका, जैसा कि मृदुल जलवायु, लम्बे दिन, अवकाश, कृषि-जीविका, तथा आध्यात्मिक संकल्प के द्वारा भारतीय परम्परा में हुआ। रूपों की विविधता और जटिलता

तथा भावों की विपुलता की दृष्टि से हमारी जीवन्त संस्कृति अनुपम है। संसार के किसी भी देश अथवा समाज में इसकी तुलना नहीं मिल सकती। खेद की बात है हम अपनी इस अनुपम निधि की उपेक्षा कर उसे त्याग रहे है। पाठ्य पुस्तकीय ऐतिहासिक संस्कृति को ही संस्कृति मानने के कारण हम इस महान् जीवन्त संस्कृति के विपुल रूपों से अपरिचित हैं। आधुनिकता के उन्माद में हम जीवन्त संस्कृति के इस दिव्य नन्दन उपवन से विरत हो प्रकृतिवादी सभ्यता के आलोक में जगमगाते मरुस्थल की ओर आकर्षित हो रहेहैं, जिसमें भटककर मनुष्यों के अन्तर आत्मिक और सांस्कृतिक तृषा से सूख जायेंगे। हमारी जीवन्त संस्कृति ऐतिहासिक सन्दर्भ में भारतीय है किन्तु जीवन के मूल्यों की दृष्टि से विश्व-जनीन है। यदि आधुनिक भारतवासी आधुनिक सभ्यता के उन्माद से बचकर (किन्तु हितकर आधुनिक विकासों का समायोजनकर) अपनी विपुल जीवन्त संस्कृति के महत्व को समझें और उसे अपनायें तो वे सुन्दर और समृद्ध जीवन का एक अनुकरणीय आदर्श विश्व के सम्मुख प्रस्तुत कर सकते हैं, जो सभ्यता के कृत्रिम विकास के संघातक संकटों से मानवता की रक्षा कर उसे सुन्दर और समृद्ध जीवन का मार्ग दिखा सकता है।

भारतीय और विश्व-समाज का यह हित अपनी संस्कृति के प्रति हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करता हैं। भारतवासी ही अपनी इस जीवन्त संस्कृति के महत्व को समझ कर तथा गौरव के साथ अपना कर उसे विश्व-समाज के लिये अनुकरणीय बना सकते हैं। किन्तु खेद की बात है कि भारतीय समाज के नेताओं ने भारतीय जीवन्त संस्कृति के महत्व को समुचित रूप से कभी नहीं समझा। वे धर्म, दर्शन, अध्यात्म, कला, साहित्य आदि की ऐतिहासिक संस्कृति की साधना करते रहे। किन्तु इन सभी क्षेत्रों में जीवन्त सस्कृति उपेक्षित रही। साधारण लोक-समाज परम्परा के प्रभाव से इस जीवन्त संस्कृति का पालन करता रहा। यह संस्कृति ही उसके पराधीन और पीड़ित जीवन में कुछ-सुख सन्तोष देती रही। जिन देशों में संस्कृति को अधिक विकास नहीं हुआ उन देशों के निवासी बर्बरता की प्राकृतिक प्रबलता के द्वारा भारत को आक्रान्त और पद-दलित करते रहे। यह भारतीय संस्कृति और नीति की सबसे बड़ी विडम्बना है।

आज भारत राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र है। मध्य युग में वह राजनीतिक रूप से विदेशियों से शासित रहा। किन्तु वर्तमान युग में स्वतन्त्र होकर भी वह मानसिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विदेशों से प्रभावित है। भौतिक वैभव, वैज्ञानिक विकास, औद्योगीकरण और प्रकृतिवाद की आंधी पश्चिम से उठकर भारत के शारदीय आकाश में छा रही है। इन प्रवृत्तियों से पश्चिमी समाज का जीवन समृद्धि में भी आन्तरिक संकटों से आपन्न हो रहा है। पश्चिम की आँधी के साथ ये संकट भारतीय समाज को भी पीड़ित करेंगे। यह पश्चिम के प्रभाव से भारत की दूसरी पराजय होगी। सांस्कृतिक पराजय होने के कारण यह और भी भयंकर होगी। मध्यकाल में संस्कृति की रक्षा करके पराजित भारत भी अपना गौरव संजोये रहा। किन्तु सांस्कृत्रिक पराजय से भारत स्वयं ही दीन हो जायेगा। भारत की सांस्कृतिक पराजय के साथ विश्व के कल्याण की आशा क्षीण हो जायेगी। आधुनिक युग में जीवन्त संस्कृति का निर्माण कठिन है। उसकी केवल रक्षा की जा सकती है और उसके द्वारा जीवन के सौन्दर्य एवं आनन्द की रक्षा की जा सकती है। भारत की जीवन्त संस्कृति का यह महत्व भावी समाज के हित की दृष्टि से विचारणीय है। अपने और विश्व के हित के लिये भारत को ही विश्व का सांस्कृतिक नेतृत्व करना होगा। इसी नेतृत्व पर भारत का गौरव और विश्व की आशा निर्भर है।

——ऽऽ——

जीवन्त संस्कृति का इतना सम्पन्न एवं समृद्ध रूप किसी भी अन्य देश में मिलना कठिन है। आज के प्रमुख-देश प्राचीन काल में जीविका के संघर्ष में लीन रहे, अतः प्राकृतिक जीवन से ऊपर उठकर संस्कृति का बहुत कम विकास कर सके। कर्क रेखा के तटवर्तीय देशों में ही जीविका कुछ सुलभ तथा जीवन कुछ सहज रहा। इन्हीं देशों में संस्कृति का अधिक विकास हुआ। भारत इन देशों में सबसे उत्तम है। प्रकृति की विपुल उदारता और ऋषियों के आत्मिक संकल्प के सहयोग से भारत में एक विपुल जीवन्त संस्कृति का विकास हुआ। यह संस्कृति पर्व, संस्कार, व्रत, आश्रम आदि के द्वारा मनुष्य के साक्षात् और सम्पूर्ण जीवन को सुन्दर एवं आनन्दमय बनाती है। भारत की यह जीवन्त संस्कृति ही आदिम बर्बरता और आधुनिक सभ्यता के संकटो से बचाकर पृथ्वी पर स्वर्गिक जीवन का पथ प्रशस्त कर सकती हैं अतः भारत के लिए इसका संरक्षण और विश्व के लिए इसका अनुकरण कल्याणकारी होगा। प्रस्तुत ग्रन्थ में भारत की इसी जीवन्त संस्कृति का विवरण है।

(भूमिका से)